पाठ्यक्रम समिति **MASL-103**

प्रो0 दामोदर राम त्रिपाठी,गंगानाथ झॉ शोधपीठ,
संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रो0पुष्पा अवस्थी, संस्कृत विभाग
एस0एस0जे0परिसर,कुमॉऊ विश्वविद्यालय,
अल्मोड़ा

डॉ0 ब्रजेश पाण्डेय,एसो0प्रो0
महिला डिग्री कालेज, हल्द्वानी

डॉ0 गोपाल दत्त त्रिपाठी,
संस्कृत महाविद्यालय हल्द्वानी

प्रो0 एच0पी0 शुक्ल,
निदेशक, भाषा
विद्याशाखा उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

डॉ0 देवेश कुमार मिश्र
सहायक आचार्य,संस्कृत विभाग
उ0मु0वि0वि 0, हल्द्वानी

डॉ0 संगीता बाजपेयी,
अका0 एसोसिएट संस्कृत विभाग
उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम सम्पादन एवं संयोजन

डॉ0 देवेश कुमार मिश्र
सहायक आचार्य,संस्कृत विभाग
उ0मु0वि0वि 0, हल्द्वानी

डॉ0 संगीता बाजपेयी,
अका0 एसोसिएट संस्कृत विभाग
उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**इकाई संख्या**
डॉ0 लालाशंकर गयावाल भरतपुर राजस्थान	**खण्ड 1 (इकाई 1 से 3)**
डॉ0 योगेन्द्र कुमार नेशनल पी.जी.कालेज बड़हलगंज, गोरखपुर	**खण्ड 2 (इकाई 1 से 5)**
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र सहायक आचार्य,संस्कृत विभाग उ0मु0वि0वि 0, हल्द्वानी	**खण्ड 3 (इकाई 1 से 5)**
डॉ0 पंकज मिश्र राजधानी कालेज,राजा गार्डेन,दिल्ली	**खण्ड 4 (इकाई 1 से 6)**
डॉ0 माया शुक्ला एम.बी.पी.जी;कालेज, हल्द्वानी	**खण्ड 5 (इकाई 1 से 5)**

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
प्रकाशन वर्ष : 2015
ISBN : **978-93-84632-23-6**
प्रकाशक: (उ 0 मु 0 वि 0 वि 0) -263139
मुद्रक: शिवालिक प्रकाशन

नोट : - इस अध्ययन सामग्री का प्रकाशन छात्र हित में शीघ्रता के कारण किया गया है सम्पादित संस्करण का प्रकाशन अगले वर्ष सम्भव है। इस सामग्री का उपयोग अन्यत्र कहीं भी उ0मु0वि की लिखित या प्रशासनिक अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

अनुक्रम

खण्ड -1 अद्वैत वेदान्त	**पृष्ठ संख्या 1**
इकाई 1- विशिष्टाद्वैतवेदान्त दर्शन का सिद्धान्त	2-18
इकाई 2- द्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त	19-33
इकाई 3- द्वैताद्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त	34-45
खण्ड 2- सांख्यकारिका	**पृष्ठ संख्या 46**
इकाई 1- सांख्यदर्शन का संक्षिप्त इतिहास एवं तत्व मीमांसा	47-66
इकाई 2- दु:खत्रय, सत्कार्यवाद पुरूष –बहुत्व, प्रकृति –पुरूष समबन्ध	67- 80
इकाई 3- सांख्यकारिका 1 से 10 मूल पाठ, अर्थ व्याख्या	81-99
इकाई 4- सांख्यकारिका 11 से 20 मूल पाठ, अर्थ, व्याख्या	100-115
इकाई 5 – सांख्यकारिका 21 से 30 मूल पाठ, अर्थ, व्याख्या	116-131
खण्ड 3- वेदान्तसार	**पृष्ठ संख्या 132**
इकाई 1- वेदान्त दर्शन का ऐतिहासिक स्वरूप	133-144
इकाई 2- वेदान्तसार के प्रमुख सिद्धान्त का समीक्षक	145-154
इकाई 3- मंगलाचरण से अनुबन्ध चुतुष्ट्य तक	155-183
इकाई 4- आवरण एवं विक्षेप शक्ति	184- 205
इकाई 5- सूक्ष्म शरीर एवं पंचीकरण	206-226
खण्ड 4- जैन एवं चार्वाक	**पृष्ठ संख्या 227**
इकाई 1- जैनमत का इतिहास	228-241
इकाई 2- जैन दर्शन का सिद्धान्त भाग 1	242-256
इकाई 3- जैन दर्शन का सिद्धान्त भाग 2	257-271
इकाई 4- चार्वाक् दर्शन का परिचय एवं सिद्धान्त	272-285
इकाई 5- चार्वाकीय सिद्वान्तों की अन्य भारतीय दर्शनों में आंशिक उपस्थिति	286-297
इकाई 6- चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक व सांसारिक जीवन से सम्बन्ध	298-309
खण्ड 5- न्याय दर्शन	**पृष्ठ संख्या 310**
इकाई 1 -न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास	311-326
इकाई 2 -तर्क भाषा,प्रमेयों के नाम,प्रमाण कारण एवं उनका स्वरूप	327-344
इकाई 3- प्रत्यक्ष प्रमाण एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष	345-359
इकाई 4 -तर्क भाषा,अनुमान प्रमाण,व्याप्ति एवं उसके भेदों की मीमांसा	360-376
इकाई 5 प्रमेय पदार्थ निरूपण, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, हेत्वाभास	377-397

खण्ड -1 अद्वैत वेदान्त

इकाई 01 : विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 इकाई की पृष्ठभूमि
1.3.1 विशिष्टाद्वैत का उद्भव
1.3.2 विशिष्टाद्वैत का साहित्य
1.4 ज्ञान मीमांसा
1.4.1. ज्ञान
1.4.2 ज्ञान के साधन -प्रमाण
1.5 तत्व मीमांसा
1.5.1 विशिष्टाद्वैत
1.5.2 तत्व - ईश्वर, चित् तथा अचित्
1.5.3 सृष्टि प्रक्रिया
1.5.4 बन्धन और मोक्ष
1.5.5 शरणागति
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर
1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्यसामग्री
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम भाग प्रथम के विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित यह इकाई है, इससे पूर्व के इकाईयों के अध्ययन से आप बता सकतें हैं कि भारतीय दर्शन किसे कहते हैं ? भारतीय दर्शन के कितने प्रकार हैं ?

भारतीय दर्शन दो भागों में विभक्त है- आस्तिक तथा नास्तिक। आस्तिक दर्शन वेद के समर्थक हैं ये षड्विध हैं- न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा और वेदान्त। नास्तिक दर्शन वेद के निन्दक हैं ये हैं- चार्वाक, जैन तथा बौद्ध। षड्विध आस्तिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन का विशिष्ट स्थान है। वेदान्त दर्शन की भी कई शाखायें हैं । अद्वैत वेदान्त दर्शन के पश्चात् वेदान्त दर्शन के कौन-कौन प्रमुख सिद्धान्त हैं उन सिद्धांतों का परिचय इस इकाई में प्राप्त करेंगें।

इस इकाई के अध्ययन के बाद वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख दार्शनिकों के चिन्तन विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त से आप अच्छी तरह से परिचित हो जायेंगे।

01.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि वेदान्त दर्शन के कौन - कौन सम्प्रदाय हैं।
- जान पायेंगे प्रमुख दार्शनिक सिंद्धान्त विशिष्टाद्वैत को।
- परिचित हो पायेंगें इसके ज्ञान मीमांसा के तत्वों से
- तथा इसके तत्वों मीमांसा के प्रमुख तत्वों से भी अवगत हो सकेंगे ।

1.3 इकाई की पृष्ठभूमि

1.3.1 विशिष्टाद्वैत का उद्भव

श्रुतियों पर आधारित तथा प्रस्थानत्रयी की व्याख्या के रूप में पल्लवित हिन्दू दर्शन को ही वेदान्त दर्शन के नाम से जाना जाता है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैत तथा निम्बार्क का द्वैताद्वैत आदि वेदान्त दर्शन का विकास हुआ । विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन को विकसित करने का श्रेय आचार्य रामानुज को है। इनका जन्म दसवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। रामानुज के दर्शन के प्रचार ने भक्तिमार्ग को पुष्ट किया ।

1.3.2 विशिष्टाद्वैत का साहित्य

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन का उद्भव बोधायन रचित ''ब्रह्मसूत्रत्ति '' से माना जाता है। स्वयं रामानुज

कहते हैं-

यथार्थं सर्वं विज्ञानम् इति वेदविदां मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मव प्रतीतितः।।

रामानुज ने प्रस्थानत्रयी (श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र) भाष्य की श्रृंखला में ''श्रीभाष्य'' की रचना की। रामानुज के अन्य रचित ग्रन्थ हैं- वेदान्तसार, वेदान्तदीप, वेदार्थसंग्रह। वेदार्थसंग्रह उपनिषद वाक्यों की विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्या तथा भक्ति सिद्धान्तों का दार्शनिक निरूपण करता है। गद्यत्रय एवं नित्यग्रन्थ श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के समर्थन में लिखे गये अन्य ग्रन्थ हैं। सुदर्शन भट्ट ने श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका टीका लिखी।

1.4 ज्ञान मीमांसा

1.4.1 ज्ञान

रामानुज ज्ञान को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य के दो प्रकार हैं- जड़ और अजड़। रामानुज ने ज्ञान को 'अजड़' माना है क्योंकि वह चेतन जीव और जड़ जगत् दोनों से भिन्न है। ज्ञान जड़ पदार्थांे से भिन्न है क्योंकि वह उनके समान स्वचेतन और स्वयंवेद्य नहीं है, तथा ज्ञान न स्वयं को और न पदार्थों को जान सकता है। ज्ञान कभी स्वयं के लिये नहीं होता, वह सदा परार्थ अर्थात् आत्मा या ज्ञाता के लिये होता है। वह स्वयं को और ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है, जिससे आत्मा उन्हें जान सके। रामानुज के अनुसार आत्मा ज्ञाता है जो ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय दोनों है, किन्तु ज्ञानमात्र नहीं है। ज्ञान सत् पदार्थ का ही होता है, और पदार्थ के अनुरूप होता है। इसे सत् ख्याति या यथार्थख्याति कहते हैं।

सत्ख्यातिवाद- अर्थात् सभी विज्ञान यथार्थ हैं। विज्ञान की ज्ञान मीमांसा में यह एक सबसे महत्वपूर्ण बात है। वे सभी ज्ञान को यथार्थ मानते हैं। उनके अनुसार प्रमा के ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है। इसलिये उसे असत्य या मिथ्या नहीं कह सकते हैं। रामानुज के अनुसार भ्रम ज्ञान और असत्य ज्ञान भी सत्य होता है क्योंकि उसका विषय असत्य नहीं होता। इसलिये भ्रम भी सत्य होता है। रस्सी में सर्प की प्रतीति कपोल कल्पना नहीं है, क्योंकि रस्सी और सर्प दोनों की सत्ता अनुभवसिद्ध है।

प्रमा - वस्तुओं के रूप का प्रकाशक ज्ञान बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों के सहयोग से अपने प्रकाश्य के संबंध में करता है, प्रकाश्य वस्तु की वास्तविक अवस्था और व्यावहारिक उपयोगिता का ज्ञान प्रमा कहलाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार प्रमा या सम्यक् ज्ञान सदा सविकल्पक होता है, अतः किसी निर्विकल्पक वस्तु का ज्ञान असम्भव है।

1.4.2 ज्ञान के साधन (प्रमाण)

प्रमा ज्ञान का पर्याय है। प्रमा की उत्पत्ति के कारण को प्रमाण कहते हैं। रामानुज ज्ञानोत्पत्ति के लिये

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीनों प्रमाणों को मान्यता देते हैं, एवं अन्य प्रमाणों को इन्हीं में अन्तर्भूत मानते हैं।

प्रत्यक्ष- साक्षात्कारिणी प्रमा का कारण प्रत्यक्ष है। साक्षात्कारिणी प्रमा वस्तु और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है। रामानुज निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष का भेद स्वीकार करते हैं, किन्तु न्याय के विपरीत, वे यह मानते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष निष्प्रकारक या निर्धर्मक ज्ञान नहीं हैं, किन्तु उसमें भी जाति-धर्म का ग्रहण होता है, यद्यपि यह ज्ञात नहीं होता है कि यह इसका जातिधर्म है जो इस जाति के समस्त व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है। वस्तु का दूसरी, तीसरी बार प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है जिसमें जातिधर्म का जातिधर्म के रूप में ज्ञान होता है।

अनुमान- रामानुज द्वारा अनुमान का निरूपण न्याय के समान ही है। अनुपलब्ध को उपलब्ध कराना ही अनुमान का फल है। अनुमान प्रत्यक्ष के समान सविशेष विषयक है। अनुमिति ज्ञान का कारण है। अनुमान दो प्रकार के होते हैं- स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान व्यक्ति अपने स्वयं के लिये करता है। परार्थानुमान दूसरों को बताने के लिये किया जाता है। परार्थानुमान पाँच चरणों में पूर्ण होता है- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। अनुमान के आगमनात्मक तथा निगमनात्मक प्रकारों का भी वर्णन श्रीभाष्य में प्राप्त होता है।

शब्द- लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के हैं। रामानुज के अनुसार शब्द का अर्थ वैदिक अर्थात् वेद ही है। नैयायिकों की तरह वे वेद को आप्त नहीं मानते। इन्होंने परम तत्व का निरूपण करने वाली स्मृतियों और पुराणों को भी वेद जैसा प्रामाणिक माना है। शब्द प्रमाण में रामानुज ने पांचरात्र आगम को वेद के समकक्ष रखा है। वे ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं। वे यह मानते हैं कि मीमांसा और वेदान्त एक ही शास्त्र के दो भाग हैं। ब्रह्मजिज्ञासा के पूर्व धर्मजिज्ञासा आवश्यक है। सत्कर्म से चित्तशुद्धिहोती और इसका बोध होता है कि केवल कर्म से मोक्ष नहीं मिल सकता, उसके लिये ब्रह्मज्ञान आवश्यक है।

बोधप्रश्न

प्र.(1.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) रामानुज ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की ( )

(ख) ये शंकराचार्य के अनुयायी थे ( )

(ग) 'वेदार्थसंग्रह' के रचना कार रामानुज थे ( )

(घ) रामानुज ज्ञान को द्रव्य मानते हैं। ( )

(ङ) रामानुज चार प्रमाण मानते हैं ( )

अभ्यास-

प्रश्न (1.) रामानुज के अनुसार कितने प्रमाण हैं, नाम लिखें-

....

....

....

....

....

बोधप्रश्न-

प्र.(2.) निम्न प्रश्नों के उत्त र लिखें-

(क) रामानुज किस वाद के प्रतिपादक आचार्य हैं... ।

(ख) विशिष्टाद्वैत का विच्छेद करें...।

(ग) प्रस्थानत्रयी से तात्पर्य है ....।

(घ) परार्थानुमान में कितने वाक्य होते हैं... ।

(ङ) रामानुज की सृष्टि प्रक्रिया किस दर्शन के समान है ....।

अभ्यास

प्रश्न (2.) सत्ख्याति से क्या तात्पर्य है लिखें

....

....

....

....

....

1.5 तत्व-मीमांसा

1.5.1 विशिष्टाद्वैत (विशिष्टअद्वैत)

रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत-रहित अद्वैत और अद्वैत-शून्य द्वैत दोनों ही कोरी कल्पना हैं क्योंकि भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नहीं होता। अतः दोनों सदा साथ रहते हैं और इनमें पार्थक्य सम्भव नहीं है। तत्त्व सदा द्वैतविशिष्ट-अद्वैत होता है। इसी का संक्षिप्त रूप विशिष्टरूप है। द्वैत विशेषण है, अद्वैत विशेष्य है और विशेषणयुक्त विशेष्य को विशिष्ट कहते हैं । यद्यपि रामानुज ने द्वैत और अद्वैत दोनों को सत्य और अपृथक् माना है तथापि वे दोनों को समान स्तर के नहीं मानते। अद्वैत मुख्य है और द्वैत गौण है। अद्वैत आत्मरूप है, द्रव्य है, अङ्गी है। द्वैत शरीररूप है, गुण है, अङ्ग है। अद्वैत विशेष्य है, द्वैत विशेषण है। अतः द्वैत अद्वैत पर आश्रित रहता है। द्वैत अद्वैत का विशेषण बन कर ही उससे अपृथक् रहता है। यह विशिष्टाद्वैत है जो द्वैताद्वैत से भिन्न है क्योंकि उसमें द्वैत और अद्वैत दोनों समान रूप से सत्य और एक ही स्तर के होते हैं।

रामानुज चित्, अचित् और ईश्वर, इन तीनों तत्त्वों को (तत्त्व-त्रय) मानते हैं। चित् चेतन भोक्ता जीव है। अचित् जड़ भोग्य जगत् है। ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है। चित् और अचित् दोनों नित्य और परस्पर-स्वतन्त्र द्रव्य हैं। किन्तु दोनों ईश्वर पर आश्रित हैं और सर्वथा उनके अधीन हैं। दोनों स्वयं में द्रव्य हैं, किन्तु ईश्वर के गुण या धर्म हैं। दोनों ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर उनका अन्तर्यामी आत्मा है। जीव अपने शरीर का आत्मा है, किन्तु ईश्वर का शरीर है जो जीव का भी आत्मा है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपृथक् सिद्ध है जो आन्तरिक अपार्थक्य सम्बन्ध है। रामानुज के अनुसार 'शरीर' वह है जो आत्मा द्वारा धारण किया जाये (धार्य), नियमन किया जाये(नियाम्य) और अपनी अर्थसिद्धि के लिये साधन के रूप में प्रवृत्त किया जाये (शेष), तथा आत्मा' वह है जो शरीर को धारण करे (धर्ता), नियमन करे (नियन्ता) और जो साधन रूप में प्रवृत्त होने वाले शरीर का साध्य हो (शेषी)। यह सब चेतन और अचेतन विश्व परमपुरूष ईश्वर द्वारा नियाम्य, धार्य तथा शेष होने के कारण उनका शरीर है। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है। चिदचिद् ईश्वर के विशेषण, धर्म, गुण, प्रकार, अंश, अंग, शरीर, नियाम्य, धार्य और शेष हैं, तथा ईश्वर उनके विशेष्य, धर्मी, द्रव्य, प्रकारी, अंगी, शरीरी या आत्मा, नियन्ता, धर्ता और शेषी हैं। चित् और अचित् दोनों ईश्वर के समान नित्य तत्त्व हैं, किन्तु ईश्वर से बाह्य और पृथक् नहीं हैं। ये ईश्वर का शरीर हैं। ईश्वर में सजातीय और विजातीय भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर के समान या भिन्न कोई अन्य स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। किन्तु ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान हैं क्योंकि उनका शरीर नित्य एवं परस्पर भिन्न चित् और अचित् तत्त्वों से निर्मित है। ईश्वर का अपने चिदचिद्-शरीर से सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है।

1.5.2 तत्वत्रय

ईश्वर रामानुजाचार्य के ईश्वर के निरूपण में तीन बिन्दु मुख्य हैं। प्रथम, ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं। ब्रह्म

या ईश्वर सविशेष सगुण हैं तथा चिदचिद्-विशिष्ट हैं। ईश्वर इस चिदचिद्रूप विश्व का अन्तर्यामी आत्मा है तथा इस सकल जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण भी है। रामानुज के अनुसार ईश्वर जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। चित् या जीव एवं अचित् या जड़ तत्त्व दोनों नित्य पदार्थ हैं तथा नित्य होने के कारण उत्पत्ति-विनाशरहित हैं। अतः सृष्टि का तात्पर्य इनके स्थूलरूप धारण करने से है और प्रलय का तात्पर्य इनके सूक्ष्मरूप में चले जाने से है। प्रलयकाल में चित् और अचित् अपनी सूक्ष्मावस्था में रहते हैं, यह ब्रह्म की कारणावस्था है। सृष्टि के समय चिदचित् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं, यह ब्रह्म की कार्यावस्था है।

ईश्वर हेयगुणरहित और अशेषकल्याणगुणसागर है। वे नारायण या वासुदेव हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। शुद्धसत्त्वनिर्मित वैकुण्ठ उनका निवास है। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और करुणासागर हैं। उनके दिव्यगुण नित्य, शुद्ध और अनन्त हैं। उनका ज्ञान, आनन्द, प्रेम, ऐश्वर्य, बल, शक्ति, कृपा आदि अपार हैं। ईश्वर एक हैं, किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं को पाँच रूपों में प्रकट करते हैं- अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार। चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर या ब्रह्म का उपनिषदों में प्रतिपादन उपलब्ध है।

चित् या चेतन जीव यद्यपि ईश्वर का विशेषण, प्रकार या गुण है, तथापि वह स्वयं चेतन द्रव्य है। जीव एक नहीं, अनेक हैं। जीव नित्य, जन्म-मरणरहित और अणुरूप है। वह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि से विलक्षण है। वह स्वप्रकाश चेतन द्रव्य है और वह अपने धर्मभूत ज्ञान का आश्रय है। साथ ही वह नित्य स्वचेतन ज्ञाता या द्रष्टा है, अतः ज्ञानस्वरूप भी है। ज्ञान उसका आवश्यक, अनिवार्य और अपृथक्सिद्ध स्वरूप है। अतः उसे एक साथ ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय कहा जाता है। वह स्वभाव से आनन्दरूप है। रामानुज ने चित् या जीवात्मा के तीन प्रकार माने हैं।

1. नित्य-मुक्त जीव जो कभी बद्ध नहीं रहे, जो अविद्या, कर्म और प्रकृति से सदा मुक्त हैं एवं जो वैकुण्ठ में सदा भगवत्-सेवा में रत रहते हैं। ये शेष, गरूड, विश्वक्सेन आदि हैं।
2. मुक्त जीव जो बन्धन से मुक्त हो चुके हैं।
3. बद्ध जीव जो अविद्या और कर्म के कारण जन्म-मरण रूपी संसारचक्र में घूम रहे हैं तथा विविध दुःख भोग रहे हैं।

चित्त और ईश्वर

जीव और ईश्वर में विशेषण-विशेष्य, गुण-द्रव्य, अंग-अंगी और शरीर-आत्मा का सम्बन्ध है तथा जीव की सार्थकता ईश्वर का अविभाज्य शुद्ध अंग बनकर ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द का अनुभव

करने में है। रामानुज जीव और ईश्वर में भेद, अभेद या भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। उन्होनें इन तीनों सम्बन्धों का खण्डन किया है। शुद्ध भेद या शुद्ध अभेद (भेदशून्य अभेद) कल्पनामात्र है, क्योंकि भेद और अभेद सदा साथ-साथ रहते हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अद्वैत विशेष्य है जो सदा द्वैतविशेषण से विशिष्ट रहता है। यही विशिष्टाद्वैत नाम की सार्थकता है। चिदचित्-विशिष्ट ईश्वर ही ब्रह्म है। रामानुज ने समवाय सम्बन्ध का भी खण्डन किया है क्योंकि उनके अनुसार समवाय बाह्य सम्बन्ध है और अनवस्थादोष से दूषित है। रामानुज ने जीव और ईश्वर में अपृथक्सिद्धि नामक सम्बन्ध स्वीकार किया है जो आन्तर और वास्तविक सम्बन्ध है जीव ईश्वर पर सर्वथा आश्रित है और ईश्वर से अपृथक् है । अचित् ज्ञान शून्य तथा विकारास्पद को अचित् कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है

1. **मिश्र सत्व** - इसमें सत्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुण मिले रहते हैं, इसे प्रकृति या माया कहते हैं। यह जड़, भोग्य है, जगत् का उपादान कारण है। नित्य जड़ होते हुए भी यह ईश्वर का शरीर है। सृष्टि ईश्वर की लीला है और उनका संकल्प मात्र है।

2. **शुद्ध सत्व या नित्य विभूति** - रजस्तमः शून्य होने से अप्राकृत और दिव्य है। यह नित्य, अतिशयतेजोमय, ज्ञान एवं आनन्द का जनक, शुद्धसत्वरूप द्रव्यविशेष है। ईश्वर का विग्रह, नित्य तथा मुक्त शरीरों के शरीर, बैकुण्ठ लोक, भगवान् के विभव आदि भी इसी शुद्ध सत्व से निर्मित है। रामानुज के अनुसार आत्मा शरीर के बिना नहीं रहता, अतः मोक्ष दशा में कर्मजन्य प्राकृत देह पात के बाद मुक्तपुरुष को भगवत्संकल्प से निर्मित अप्राकृत शुद्धसत्वशरीर प्राप्त होता है।

3. **सत्व शून्य या काल** - काल सत्वशून्य जड़ द्रव्य है। दिक् को आकाश से अभिन्न माना गया है जो प्रकृति जन्य है।इस प्रकार रामानुज ने षड् द्रव्य स्वीकार किये हैं-

चेतन- चित् और ईश्वर।

जड़- प्रकृति और काल ।

अजड़- धर्मभूतज्ञान और नित्यविभूति ।

ये षड् द्रव्य अचित्, चित् तथा ईश्वर इन तीन तत्त्वों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

1.5.3 सृष्टि प्रक्रिया-

रामानुज के अनुसार अव्यक्त का विकास सांख्य दर्शन के अनुसार ही मानते हैं। अव्यक्त का प्रथम विकार महत् है, महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार के होते हैं- सात्विक , राजस् तथा तैजस्। अहंकार के सात्विक रूप से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। मन उभयात्मक है, यह अन्तरिन्द्रिय है, यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनो

में आता है। किन्तु रामानुज ने मन को ज्ञानेन्द्रियों के साथ रखा है। मन को इसके कार्य के अनुसार कई नाम दिये जाते हैं- मन जब निर्णय करता है तो यह बुद्धि है, अज्ञान से शरीर को जब आत्मा मानता है तो अहंकार है, जब चिन्तन या विचार करता है तो चित्त है। रामानुज भूतादि की क्रमिक उत्पत्ति मानते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चौबीस तत्वों से जीवात्मा और परमात्मा के लिये भोग्य वस्तुओं, भोग के साधन और भोग के स्थानों का निर्माण होता है। निर्माण का यह कार्य ब्रह्म के द्वारा होता है। सृष्टि के पूर्व की स्थिति को अद्वारक सृष्टि कहते हैं तथा ब्रह्म द्वारा की गई सृष्टि सद्वारक सृष्टि कहलाती है। सद्वारक सृष्टि की प्रक्रिया पंचीकरण है।

पंचीकरण- पंच महाभूतों का पूर्ण विकास हो जाने के बाद उनमें से प्रत्येक महाभूत के दो दो बराबर भाग किये जाते हैं। पुनः आधे भाग को चार-चार भागों में विभाजित किया जाता है। अपने आधे भाग के साथ शेष बचे चार महाभूतों के 1/8 भाग को जोड़ने से एक महाभूत का निर्माण होता है, चूँकि एक महाभूत में पाँचों तत्वों की उपस्थिति होती है अतः इसे पंचीकरण कहते हैं तथा जिस महाभूत में जिस तत्व की अधिकता होती है उसी के नाम से वह जाना जाता है।

जगत्- रामानुज अचित् द्रव्य से जगत् को उत्पन्न मानते हैं क्योकि अचित् एक नित्य द्रव्य है। सृष्टि के मूल में परब्रह्म का संकल्प है। ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसलिए जगत् के उपादान तथा निमित्त दोनो कारण की सत्ता नित्य एवं सत्य है। ईश्वर और उसकी अंशभूता प्रकृति का कार्यरूप जगत् भी सत्य है। सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि कारण और कार्य में केवल अवस्था भेद का अंतर है। कारण स्वयं कार्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। एक ही पदार्थ एक अवस्था विशेष में कारण कहलाता है और दूसरी अवस्था में **कार्य-कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता- श्रीभाष्य 1/1/5** इसे ही सत्कार्यवाद कहतें हैं अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् रूप में विद्यमान रहता है, यहाँ कारण से कार्य का आविर्भाव होता है। रामानुज का सिद्धांत सत्कार्यवाद का सिद्धांत है। इसके अनुसार चित् और अचित् ही जगत् के रूप में प्रकट होते हैं , चित् और अचित् विकसित होकर नाम रूप धारण कर जगत् की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वर इन दोनो चित् और अचित् के साथ अपृथक् रूप से जुड़ा रहता है अर्थात् ब्रह्म भी कारण से कार्य रूप में परिवर्तित होता है। अतः जगत् ब्रह्म की स्थूलावस्था सिद्ध होती है। रामानुज जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं। जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म ही उसका कारण है और वही उसका गन्तव्य भी है। जगत् की सत्ता पारमार्थिक है क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।आचार्य शंकर ने जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये माया सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, रामानुज शंकर के इस सिद्धांत को मिथ्यावाद कहते हैं तथा इसका खण्डन करते हैं। मायावाद के खण्डन में रामानुज के द्वारा दिये गये तर्क को अनुपपत्ति कहते हैं ये सात हैं-

आश्रयानुपपत्ति,तिरोधानानुपपत्ति,स्वरूपानुपपत्ति,अनिर्वचनीयानुपत्ति,प्रमाणानुपपत्ति , निर्कानुपपत्ति तथा निवृत्यनुपपत्ति।

01.5.4 बन्धन और मोक्ष-

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय जन्म-मृत्यु-चक्र को बन्धन तथा इसकी आत्यंतिक समाप्ति को मोक्ष नाम देते हैं। जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है । बन्ध और मोक्ष दोनों वास्तविक हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से सम्बन्ध होता है और यही उसका बन्धन है। शुद्ध चेतन जीव कर्म में क्यों फँसता है ? इसका कोई उत्तर नहीं है सिवाय इसके कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है। मोक्ष के लिये जीव को इस कर्म-मल को सर्वथा नष्ट करना आवश्यक है। ज्ञानकर्म-समुच्चय इसमें सहायक है। सत्कर्म चित्त को शुद्ध करते हैं। ज्ञान से चित्, अचित् और ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। रामानुजाचार्य के अनुसार परज्ञान और पराभक्ति एक ही है और यही मोक्ष का कारण है। यह परज्ञान सविकल्प शाब्दबोध या बौद्धिक ज्ञान से भिन्न है, अन्यथा वेदान्तशास्त्र के सभी अध्येता मुक्त हो जायेंगे। परा भक्ति भी प्रपत्ति और स्मृति या उपासना का भगवत्साक्षात्काररूप चरम उत्कर्ष है जो भगवान् के अनुग्रह, कृपा या प्रसाद से ही सम्भव है। पर-ज्ञान या परा-भक्ति ईश्वर के स्वरूप का साक्षात् अनुभव है जो उनकी कृपा से ही सम्भव है। सत्कर्म और बौद्धिक ज्ञान का समुच्चय भक्ति का साधन है। भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और स्मृति। प्रपत्ति या शरणागति भगवत्प्राप्ति का सरल एवं सुनिश्चित साधन है।

भगवान् का वचन है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

अर्थात् 'सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुमको तुम्हारे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।' भागवत में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इस नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन को शरणागति या प्रपत्ति की पराकाष्ठा बताया है। भागवत में कहा गया है कि जिस प्रकार भूख से व्याकुल पक्षियों के छोटे बच्चे, जिनके पंख अभी नहीं निकले हैं, अपने घोंसलों में माता की आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार छोटे बछडे (बच्चे भी) भूख से व्याकुल होकर माता के दूध की प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार विरहिणी प्रिया अपने बाहर गये हुये प्रियतम के दर्शन के लिये दुःख से व्याकुल होकर तड़पती है। उसी प्रकार हे कमलनयन! यह हमारा मन आपके दर्शन के लिये तड़प रहा है। प्रपत्ति भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम है, प्रेमा भक्ति है। रामानुज ने इसके साथ 'धुरवा स्मृति' को भी जोड़ दिया है। स्मृति का अर्थ है उपासना या ध्यान। धुरवा स्मृति में प्रेम और ज्ञान दोनों का संगम है। यह उत्कट प्रेम और निरन्तर चिन्तन का मिलन है। रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और धुरवा स्मृति। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष भगवदनुग्रह से भगवान् के साक्षात् अनुभव में होता है। यही परा-भक्ति है, यही पर-ज्ञान है, यही ब्रह्म-साक्षात्कार है,

यही मोक्ष है। आत्मा का आत्मस्वरूप बोध ही उसका मोक्ष है। जन्म मृत्यु से परे हो जाना मोक्ष है। जीवात्मा के कर्म नष्ट हो जाते हैं। यदि कर्म फल का नाश हो जाय तो शरीर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिये कर्मों और उनके फलों का आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष है। ईश्वर साक्षात्कार तथा पूर्ण ज्ञान की अवस्था में मोक्ष प्राप्त होता है अर्थात् जीवात्मा को परम पद प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष के उपाय-

मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोच्च साधन ईश्वर स्वयं है। इस संसार रोग की दवा ईश्वर की कृपा है। कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि सब साधन ईश्वर की कृपा प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं। कर्म और ज्ञान भक्ति के सहकारी हैं। तत्व ज्ञान के द्वारा जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है। ज्ञान और कर्म से हम अपने कर्म फलों का नाश कर सकते हैं।

भक्ति-

भगवत्साक्षात्कार के लिये चित् को ईश्वर में लगा देना ही भक्ति है। बुद्धि ही भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है, बुद्धि परक होने के कारण भक्ति को विशेष प्रकार का ज्ञान कहते हैं। भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञान की चरम परिणति भगवान के प्रति परम प्रेम में होती है, इसे ही भक्ति कहते हैं। रामानुज ने ध्यान, उपासना, वेदना (ज्ञान) को भक्ति का पर्याय कहा है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में समन्वय स्थापित करते हुए रामानुज कहते हैं कि भक्ति-रूप ज्ञान विशेष की उपपत्तिपर ईश्वराधन से प्राप्त ज्ञान से युक्त होकर कर्म या निष्काम कर्म करने से भक्ति योग की सिद्धि हो जाती है।

आत्मावलोकन के लिये पातंजल योग में उल्लिखित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अष्टांग योग साधन भक्ति का ही रूप है। इसके अतिरिक्त अर्चन, वन्दन, पादसेवन इत्यादि भागवत् दर्शन में मान्य क्रियाएँ भी आत्मावलोकन में सहायक हैं। अष्टांग योग की चरमोपलब्धि समाधि को रामानुज दर्शन में साधन ही माना गया है।

1.5. शरणागति-

भगवान् के प्रति भक्ति एवं प्र्रेम का मानव मात्र को अधिकार है। ज्ञान ईश्वर की कृपा से मिल सकता है। रामानुज दर्शन के अनुसार ईश्वर की कृपा प्राप्त करना ही मोक्ष का अन्यतम साधन है। ईश्वरार्पित होना ही प्रपत्ति अथवा शरणागति है। जब जीवात्मा ईश्वर को परम लक्ष्य के रूप में जान लेता है और उसे ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय समझने लगता है तब वह शरणागति की मनःस्थिति में होता है अर्थात् ईश्वर की शरण में, ईश्वर का कृपा पात्र अपने आप को मानने लगता है। रामानुज ने शरणागति को भक्त के लिये आवश्यक प्रथम चरण और भक्ति की चरम परिणति माना है। सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन और उसके विभिन्न सम्प्रदाय औपनिषदिक सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं, परं मौलिकता की दृष्टि से रामानुज का विशिष्टाद्वैत दर्शन शंकराचार्य के दर्शन के समकक्ष माने जाते हैं। दोनो ही वेदान्त दर्शन

एक दूसरे के पूरक तथा एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। दोनो अद्वैत मत के समर्थक हैं। रामानुज का वेदान्त दर्शन सविशेष ब्रह्म और जीव-जगत् के बीच शरीरात्मभाव सम्बन्ध द्वारा एकेश्वरवाद पर बल देता है। रामानुज को भक्ति परक वेदान्त दर्शन को पुष्ट एवं विकसित करने का पूरा श्रेय जाता है। परवर्ती भक्ति परक वेदान्त दर्शनों जैसे मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद तथा चैतन्य का अचिन्त्यभेदाभेदवाद में रामानुज दर्शन की छाप देखी जा सकती है। विशेष रूप से ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की अवधारणाओं में, ज्ञान आदि के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने के कारण, भारतीय चिन्तन धारा में उनके विशिष्टाद्वैत दर्शन का विशिष्ट स्थान है।

बोधप्रश्न-

प्र.(3.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) रामानुज के अनुसार तीन तत्व होते हैं। ( )

(ख) रामानुज ने सत्ख्यातिवाद को नहीं माना है। ( )

(ग) ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं। ( )

(घ) रामानुज के चित् से तात्पर्य जीवात्मा से है। ( )

(ङ) बन्धन और मोक्ष प्रकृति को होता है। ( )

अभ्यास-

प्रश्न (3.) रामानुज के अनुसार विशिष्टाद्वैत को स्पष्ट करें-

....

....

....

....

प्रश्न (4.) शरणागति तथा प्रपत्ति से क्या तात्पर्य है।

....

....

....

....

बोधप्रश्न-

प्र.(4.) निम्न प्रश्नों का उत्तर रिक्त स्थानों में भरें-

क. रामानुज किस वाद के प्रतिपादक आचार्य हैं ....।

ख. भक्ति से .... प्राप्त होता है।

ग. मोक्ष किसको प्राप्त होता है।...।

घ. जीवों का बन्धन किससे होता है ....।

ङ नवधा .... है।

1.6 सारांश -

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन को विकसित करने का श्रेय आचार्य रामानुज को है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धांत के प्रतिपादक आचार्य हैं। रामानुज ने प्रस्थानत्रयी भाष्य की श्रृंखला में ''श्रीभाष्य'' की रचना की। इनके अन्य ग्रन्थ हैं- वेदान्तसार, वेदान्तदीप, वेदार्थसंग्रह, गद्यत्रय एवं नित्यग्रन्थ। रामानुज ज्ञान को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य के दो प्रकार हैं- जड़ और अजड़। रामानुज ने ज्ञान को 'अजड़' माना है। ज्ञान सत् पदार्थ का ही होता है और पदार्थ के अनुरूप होता है। इसे सत् ख्याति या यथार्थख्याति कहते हैं। सत्ख्यातिवाद- अर्थात् सभी विज्ञान यथार्थ हैं। प्रमा रामानुजाचार्य के अनुसार प्रमा या सम्यक् ज्ञान सदा सविकल्पक होता है, अतः किसी निर्विकल्पक वस्तु का ज्ञान असम्भव प्रमा ज्ञान का पर्याय है। प्रमा की उत्पत्ति के कारण को प्रमाण कहते हैं। रामानुज ज्ञानोत्पत्ति के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीनों प्रमाणों को मान्यता देते हैं, एवं अन्य प्रमाणों को इन्हीं में अन्तर्भूत मानते हैं। प्रत्यक्ष साक्षात्कारिणी प्रमा का कारण है। साक्षात्कारिणी प्रमा वस्तु और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है। अनुमान का निरूपण न्याय के समान ही है। अनुपलब्ध को उपलब्ध कराना ही अनुमान का फल है। अनुमान दो प्रकार के होते हैं स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। परार्थानुमान पाँच चरणों में पूर्ण होता है- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। शब्द लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के हैं। प्रमाण में रामानुज ने पांचरात्र आगम को वेद के समकक्ष रखा। विशिष्टाद्वैत रामानुजाचार्य के अनुसार द्वैत-रहित अद्वैत और अद्वैत-शून्य द्वैत दोनों ही कोरी कल्पना हैं क्योंकि भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नहीं होता। अतः दोनों सदा साथ रहते हैं और इनमें पार्थक्य सम्भव नहीं है। तत्त्व सदा द्वैतविशिष्ट-अद्वैत होता है। इसी का संक्षिप्त रूप विशिष्टरूप है। द्वैत विशेषण है, अद्वैत विशेष्य है और विशेषणयुक्त विशेष्य को विशिष्ट कहते हैं।

रामानुज चित्, अचित् और ईश्वर, इन तीनों तत्त्वों को (तत्त्व-त्रय) मानते हैं। चित् चेतन भोक्ता जीव है। अचित् जड़ भोग्य जगत् है। ईश्वर दोनों का अन्तर्यामी है। चित् और अचित् दोनों नित्य और परस्पर-

स्वतन्त्र द्रव्य हैं। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है। चिदचिद् ईश्वर के विशेषण, धर्म, गुण, प्रकार, अंश, अंग, शरीर, नियाम्य, धार्य और शेष हैं, तथा ईश्वर उनके विशेष्य, धर्मी, द्रव्य, प्रकारी, अंगी, शरीरी या आत्मा, नियन्ता, धर्ता और शेषी हैं। चित् और अचित् दोनों ईश्वर के समान नित्य तत्त्व हैं, किन्तु ईश्वर से बाह्य और पृथक् नहीं हैं। ईश्वर का अपने चिदचिद्-शरीर से सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है। ईश्वर रामानुजाचार्य के ईश्वर के निरूपण में तीन बिन्दु मुख्य हैं। प्रथम, ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं। रामानुज के अनुसार ईश्वर जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। प्रलयकाल में चित् और अचित् अपनी सूक्ष्मावस्था में रहते हैं, यह ब्रह्म की कारणावस्था है। सृष्टि के समय चिदचित् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं, यह ब्रह्म की कार्यावस्था है। ईश्वर हेयगुणरहित और अशेषकल्याणगुणसागर है। वे नारायण या वासुदेव हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। शुद्धसत्त्वनिर्मित वैकुण्ठ उनका निवास है। ईश्वर एक हैं, किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं को पाँच रूपों में प्रकट करते हैं- अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार। चित् या चेतन जीव यद्यपि ईश्वर का विशेषण, प्रकार या गुण है, तथापि वह स्वयं चेतन द्रव्य है। जीव एक नहीं, अनेक हैं। जीव नित्य, जन्म-मरणरहित और अणुरूप है। रामानुज ने चित् या जीवात्मा के तीन प्रकार माने हैं। नित्य-मुक्त जीव, मुक्त जीव तथा बद्ध जीव। जीव और ईश्वर में विशेषण-विशेष्य, गुण-द्रव्य, अंग-अंगी और शरीर-आत्मा का सम्बन्ध है तथा जीव की सार्थकता ईश्वर का अविभाज्य शुद्ध अंग बनकर ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द का अनुभव करने में है। चिदचित्-विशिष्ट ईश्वर ही ब्रह्म है। रामानुज ने जीव और ईश्वर में अपृथक्सिद्धि नामक सम्बन्ध स्वीकार किया है जो आन्तर और वास्तविक सम्बन्ध है जीव ईश्वर पर सर्वथा आश्रित है और ईश्वर से अपृथक् है। अचित्- ज्ञान शून्य तथा विकारास्पद को अचित् कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है -मिश्र सत्व , शुद्ध सत्व या नित्य विभूति तथा सत्व शून्य या काल। सृष्टि प्रक्रिया रामानुज के अनुसार अव्यक्त का प्रथम विकार महत् है, महत् से अहंकार की उत्पत्तियॉ होती है। अहंकार तीन प्रकार के होते हैं- सात्विक , राजस् तथा तैजस्। अहंकार के सात्विक रूप से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। मन जब निर्णय करता है तो यह बुद्धि है, अज्ञान से शरीर को जब आत्मा मानता है तो अहंकार है, जब चिन्तन या विचार करता है तो चित्त है। रामानुज भूतादि की क्रमिक उत्पत्तियॉ मानते हैं। चौबीस तत्वों से जीवात्मा और परमात्मा के लिये भोग्य वस्तुओं, भोग के साधन और भोग के स्थानों का निर्माण होता है। सद्वारक सृष्टि की प्रक्रिया पंचीकरण है। पंचीकरण- पंच महाभूतों का पूर्ण विकास हो जाने के बाद उनमें से प्रत्येक महाभूतों की उपस्थिति होती है अतः इसे पंचीकरण कहते हैं तथा जिस महाभूत में जिस तŸव की अधिकता होती है उसी के नाम से वह जाना जाता है। जगत्- रामानुज अचित् द्रव्य से जगत् को उत्पन्न मानते हैं क्योकि अचित् एक नित्य द्रव्य है। ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि की उत्पत्तियॉ होती है। ईश्वर और उसकी अंशभूता प्रकृति का कार्यरूप जगत् भी सत्य है। सत् कारण से सत् कार्य की

उत्पत्तियॉं होती है, इसे ही सत्कार्यवाद कहतें हैं रामानुज के अनुसार चित् और अचित् ही जगत् के रूप में प्रकट होते हैं, रामानुज जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं। बन्धन और मोक्ष जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है। बन्ध और मोक्ष दोनों वास्तविक हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से सम्बन्ध होता है और यही उसका बन्धन है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय जन्म-मृत्यु-चक्र को बन्धन तथा इसकी आत्यंतिक समाप्ति को मोक्ष नाम देते हैं। आत्मा का आत्मस्वरूप बोध ही उसका मोक्ष है। जन्म मृत्यु से परे हो जाना मोक्ष है। भागवत में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इस नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन को शरणागति या प्रपत्ति की पराकाष्ठा बताया है। मोक्ष के उपाय- मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोच्च साधन ईश्वर स्वयं है। कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि सब साधन ईश्वर की कृपा प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं। भक्ति- भगवत्साक्षात्कार के लिये चित् को ईश्वर में लगा देना ही भक्ति है। भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। प्रपत्ति या शरणागति ईश्वरार्पित होना अर्थात् ईश्वर की शरण में, ईश्वर का कृपा पात्र होना ही प्रपत्ति अथवा शरणागति है। रामानुज ने शरणागति को भक्त के लिये आवश्यक प्रथम चरण और भक्ति की चरम परिणति माना है।

सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन और उसके विभिन्न सम्प्रदाय औपनिषदिक सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं, परं मौलिकता की दृष्टि से रामानुज का विशिष्टाद्वैत दर्शन शंकराचार्य के दर्शन के समकक्ष माने जाते हैं। रामानुज को भक्ति परक वेदान्त दर्शन को पुष्ट एवं विकसित करने का पूरा श्रेय जाता है। विशेष रूप से ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की अवधारणाओं में, ज्ञान आदि के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने के कारण, भारतीय चिन्तन धारा में उनके विशिष्टाद्वैत दर्शन का विशिष्ट स्थान है।

1.7 शब्दावली

अचित्- ज्ञानशून्य तथा विकारास्पद जड़ तत्व।

अद्वारक सृष्टि- इस सृष्टि के पूर्व की स्थिति को कहते हैं।

अनुपपत्तियाँ- आश्रयानुपपत्ति,तिरोधानानुपपत्ति,स्वरूपानुपपत्ति,अनिर्वचनीयानुपत्ति,प्रमाणानुपपत्ति , निर्कानुपपत्ति तथा निवृत्यानुपपत्ति ।

अष्टांग योग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि क

ईश्वर- ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं।

चित्- चेतन जीव।

नवधा भक्ति- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

प्रपत्ति - तात्पर्य देखें शरणागति।

शरणागति- ईश्वर की शरण में जाना ही शरणागति तथा प्रपत्ति है।

सद्वारक सृष्टि- ब्रह्म द्वारा की गई सृष्टि कहलाती है।

1.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1**1.(क)**(√) **(ख)**(X) **(ग)** (√) **(घ)**(√) **(ड़)**(X)

2. (क) विशिष्टाद्वैतवाद

(ख) विशिष्ट अद्वैतवाद

(ग) श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र

(घ) पाँच वाक्य

(ङ) सांख्य दर्शन

3. **(क)** (√) **(ख)** (X) **(ग)** (√) **(घ)** (√) **(ड)** (X)

(4.) (क) विशिष्टाद्वैतवाद

(ख) मोक्ष

(ग) जीवात्मा को

(घ) अविद्या और कर्म से (ङ) भक्ति

अभ्यास-

(1.) देखें उपखण्ड- 1.4.2

(2.) देखें उपखण्ड- 1.4.2

(3.) देखें खण्ड- 1.6

(4.) देखें उपखण्ड- 1.5.5

1.9 संदर्भ ग्रन्थसूची

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग- 3 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण.।

2. दत्त एवं चटर्जी (1994) भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।

3. शर्मा चन्द्रधर (1998) भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली .

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन कोश, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण.

2. शर्मा राममूर्ति (1998) अद्वैत वेदान्त, इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

3. ऋषि उमाशंकरशर्मा(1984) माधवाचार्यकृतसर्वदर्शनसंग्रह,चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, तृतीय संस्करण।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

- विशिष्टाद्वैत दर्शन के आधार पर तत्वत्रय का विश्लेषण करें।
- विशिष्टाद्वैत दर्शन के ज्ञान मीमांसा पर एक निबन्ध लिखें।
- विशिष्टाद्वैत दर्शन पर एक निबन्ध।
- विशिष्टाद्वैत दर्शन की परम्परा पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई 2: द्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 इकाई की पृष्ठभूमि -
 2.3.1 द्वैत का उद्भव
 2.3.2 द्वैत का साहित्य
2.4 ज्ञान मीमांसा
 2.4.1. ज्ञान
 2.4.2 ज्ञान के साधन (प्रमाण)
2.5 तत्व मीमांसा
 2.5.1 द्वैतवाद
 2.5.2 पदार्थ एवं द्रव्य
 2.5.3 परमात्मा एवं जीव
 2.5.4 मोक्ष का स्वरूप
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम भाग प्रथम के द्वैत वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित यह इकाई है, इससे पूर्व के इकाईयों के अध्ययन से आप बता सकतें हैं कि आस्तिक दर्शन किसे कहते हैं तथा वे कितने हैं ? वेदान्त दर्शन के कितने सम्प्रदाय हैं ? भारतीय आस्तिक दर्शनों में वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित वेदान्त दर्शन का विशिष्ट स्थान है। वेदान्त दर्शन के भी कई शाखायें हैं । रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के पश्चात् वेदान्त दर्शन के कौन-कौन प्रमुख सिद्धान्त हैं उन सिद्धांतों का परिचय इस इकाई में प्राप्त करेंगें।

इस इकाई के अध्ययन के बाद वैष्णव सम्प्रदाय के द्वैतवेदान्त दर्शन तथा उनके चिन्तन एवं सिद्धांतो से आप भली प्रकार से परिचित हो जायेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि वैष्णव वेदान्त दर्शन के कौन - कौन सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त हैं।
- इनके प्रमुख दार्शनिक सिंद्धान्तों को जान पायेंगे तथा इनके ज्ञान मीमांसा तथा तत्वों मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों एवं तत्वों से परिचित हो जायेंगे।

2.3 इकाई की पृष्ठभूमि

अन्य वैष्णव वेदांत सम्प्रदायों के समान मध्व दर्शन का ''द्वैतवाद'' भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में खड़ा हुआ है। इस दर्शन की प्रसिद्धि रामानुज के दर्शन के जैसी ही है। इनके मत में निमित्त कारण तथा उपादान कारण का आत्यन्तिक भेद या द्वैत मान्य है। द्वैतवाद के समर्थन में मध्व ने सांख्य तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों के कुछ एक सिद्धांतो की महत्ता को स्वीकार करते हुए औपनिषदिक दर्शन की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

2.3.1 द्वैत का उद्भव-

वैष्णव दार्शनिक मध्वाचार्य का जन्म 1197 ई. में दक्षिण में उडुली जिले के अन्तर्गत विल्व नामक ग्राम में हुआ था। मध्व को आनन्दतीर्थ, पूर्णबोध और पूर्णप्रज्ञ आदि नामों से जाना जाता है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। इनका मत ब्रह्मसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके सिद्धान्त को द्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। इस मत के सिद्धान्त का प्रतिपादक श्लोक सर्वथा स्मरणीय है-

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतो,

भेदोजीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।

मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्,

प्रत्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः ।।

2.3.2 द्वैत का साहित्य

मध्व के द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थों में प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा उपनिषद्) पर भाष्य, ब्रह्मसूत्र पर अणुव्याख्यान नामक ग्रन्थ, भागवतपुराण पर भागवत-तात्पर्य-निर्णयटीका आदि हैं। उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, मिथ्यावानुमानखण्डन, तत्वोद्योत, तत्वविवेक, तत्वसंख्यान आदि भी इनकी अन्य रचनायें हैं।

2.4 ज्ञान मीमांसा

2.4.1. ज्ञान का स्वरूप

अन्य वैष्णव वेदान्तियों के सदृश मध्व भी ज्ञान के सविशेष-विषयत्व, स्वतः प्रामाण्य, वस्तुवाद एवं बाह्यार्थवाद का समर्थन करते है। इनकी ज्ञान मीमांसा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य पर अधिक आधारित है। चूँकि कोई वस्तु निर्विशेष सामान्य मात्र नहीं, अपितु असंख्य विशेषों वाली होती है। अतः निर्विशेष ज्ञान असम्भव है। ज्ञान किसी वास्तविक पदार्थ का होता है, उस वस्तु के आकारों वाली बुद्धिवृद्धि के माध्यम से ही ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है। जैसी वस्तु हो ठीक उसी रूप का ज्ञान, अर्थात् यथार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमा है जो स्वाभाविक रूप में स्वतःप्रमाण है। ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्वयं सिद्ध है-उसकी प्रामाणिकता स्वयं उसी में, उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में निहित होती है। अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा का परतःप्रमाण भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति रूप में सम्पन्न होता है।

साक्षी-

मध्व वेदान्त में साक्षी के विना ज्ञान प्रमाणिक नहीं होता, क्योंकि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरुषेय बोध है। आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्येन्द्रिय को साक्षी कहते हैं। अनवस्था दोष से बचने के लिये ज्ञान का स्वतःप्रमाण मानना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा एक ज्ञान की प्रमाणिकता किसी अन्य ज्ञान से, उसकी पुनः किसी अन्य से मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। साक्षी को ही ज्ञान और उसकी प्रमाणिकता दोनो हो जाती है। मध्व के अनुसार साक्षी ही सभी प्रमाणों का प्रमाण है। क्योंकि वही सभी निश्चय, अध्यवसाय या अनुभव के मूल में है। वृत्ति ज्ञान का फलरूप प्रमा साक्षी निष्ठ होती है। इस प्रकार वृत्ति ज्ञान और साक्षीज्ञान दो प्रकार के ज्ञान मध्व वेदान्त में मान्य हैं। तदनुसार प्रमाण भी दो प्रकार के हैं- अनु प्रमाण और केवल प्रमाण। अनुप्रमाण तीन प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान

और शब्द या आगम। यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं जो तीन प्रकार के होने के कारण तीन प्रकार के यथार्थ ज्ञान को देते हैं- प्रत्यक्षज्ञान, अनुमितिज्ञान तथा शब्दज्ञान। यथार्थ ज्ञान को ही केवल प्रमाण कहते हैं यह चार प्रकार का होता है- 1. ईश्वरज्ञान, 2. लक्ष्मी-ज्ञान, 3. योगिज्ञान और 4. अयोगिज्ञान।

2.4.2 ज्ञान के साधन (प्रमाण)

तीन अनुप्रमाण-

स्मृति से भिन्न अनुभव ही प्रमाण है। प्रमाण शब्द साधन और उसके फल, दोनों का वाचक है। यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं। अनुप्रमाण वृŸिा ज्ञान है, यह तीन प्रकार का होता है- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द या आगम।

प्रत्यक्ष प्रमाण- आसन्न और अव्यवहित रूप से विद्यमान कुछ वस्तुओं का ग्राहक साधन प्रत्यक्ष कहलाता है। अर्थात् निर्दोष इन्द्रियों से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह सात प्रकार का होता है- साक्षी, मन, नेत्र, त्वक्, रसना, श्रोत्र, और घ्राण ये ही सात इन्द्रियाँ हैं। मुख्यतः चार प्रकार के प्रत्यक्ष का विवरण प्राप्त होता है- 1. ईश्वरप्रत्यक्ष, 2. लक्ष्मी-प्रत्यक्ष, 3. योगिप्रत्यक्ष और 4. अयोगिप्रत्यक्ष । मध्व के अनुसार सारे प्रत्यक्ष सविकल्पक ही होते हैं।

अनुमान प्रमाण- व्याप्ति के स्मरण के साथ-साथ लिंग, हेतु, व्याप्य या युक्ति का देश विशेष में ठीक-ठीक ज्ञान से साध्य, लिंगी या अनुमेय पदार्थ के ज्ञान या प्रमा का जनक साधन अनुमान प्रमाण कहलाता है। अनुमान के मुख्य दो अंग हैं- व्याप्ति और समुचित देश विशेष में साध्य की स्थिति। धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है। अनुमान तीन प्रकार का होता है-

1. **कार्यानुमान**- जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है वह कार्यानुमान है, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान।

2. **कारणानुमान**- जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है वह कारणा है, जैसे विशेष प्रकार के बादल को देखकर वर्षा का अनुमान।

3. **अकार्याकारणानुमान**- जो अपने साध्य का न तो कारण है और न कार्य, फिर भी अनुमापक होता है वह अकार्याकारणानुमा होता है, जैसे रस रस रूप का अनुमापक है। दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट के भेद से भी अनुमान के दो प्रकार होते है ।

शब्द प्रमाण या आगम प्रमाण- निर्दोष शब्द को कहते हैं, शब्द पद और वाक्य है। आकांक्षा, योग्यता और सन्निहित पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य करण या साधन है, पदार्थ की स्मृति अवान्तर व्यापार तथा वाक्यार्थ का ज्ञान अवान्तर फल। आगम या शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता

है-अपौरुषेय और पौरुषेय या नित्य और अनित्य। वेद आदि सत्य आगम अपौरुषेय हैं तथा महाभारत, रामायण, पांचरात्र आदि पौरुषेय आगम हैं।

इन तीनों प्रमाणों में प्रत्यक्ष सर्वाधिक प्रामाणिक और निश्चयात्मक माना गया है। किसी अन्य प्रमाण या तर्क के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध सम्भव नहीं है। मध्व वेदान्त में ये तीन ही प्रमाण हैं तथा अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं प्रमाणों में हो जाता है।

बोधप्रश्न-

प्र.(1.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) मध्व को आनन्दतीर्थ कहते हैं ( )

(ख) मध्व शंकराचार्य के विरोधी थे ( )

(ग) 'उपाधिखण्डन' के रचना कार मध्व थे ( )

(घ) मध्व अनुमान के चार प्रकार मानते हैं ( )

(ङ) मध्व ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य मानते हैं। ( )

अभ्यास-

प्रश्न (1.) मध्व के मत में प्रत्यक्ष के प्रकारों को लिखें-

....

....

....

....

....

बोधप्रश्न

प्र.(2.) निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखें-

(क) मध्व किस वाद के प्रतिपादक आचार्य हैं.. ।

(ख) किसके विना ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता है..।

(ग) यथार्थ ज्ञान के साधन को ....कहते हैं।

(घ) प्रस्थानत्रयी किसे कहते हैं ....।

(ङ) केवल प्रमाण कितने प्रकार का होता है...................................।

अभ्यास-

प्रश्न (2.) साक्षी से क्या तात्पर्य है लिखें-

....

....

....

....

....

2.5 तत्वमीमांसा

2.5.1 द्वैतवाद

मध्व का वस्तुवादी द्वैतवाद ईश्वर, जीव और जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करता है। प्रकृति, जीव और ईश्वर भिन्न तत्व हैं, ये अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, क्योंकि इनकी प्रतीति होती है। इनमें से किसी एक को दूसरे में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता। बहुत्व का एक में विलय नहीं होता और न तो बहुत्व या नाना को मिथ्या ही माना जा सकता है। परब्रह्म ईश्वर स्वतन्त्र तत्व है, जबकि प्रकृति और जीव परतन्त्र तत्व हैं। ईश्वर अनन्तकल्याणगुणसम्पन्न तथा परिपूर्ण हैं, इस प्रकार स्वतन्त्र और परतन्त्र रूप से तीनों तत्वों का दो वर्ग है। ये तीनों सत् तत्व हैं, क्योंकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है। मध्व द्वैत को सत्य मानते हैं- जो स्वरूपतः भिन्न होता है, वह अभिन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म, जीव और प्रकृति स्वरूपतः भिन्न हैं, अतः इनमें अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म ही पूर्ण स्वतन्त्र, सत्य का सत्य, नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन तथा सत्ता , प्रतीति एवं प्रवृत्ति का निमित्त है।

मध्व भेद को वस्तुओं का स्वरूप मानते हैं , यह जगत् सत्य है और प्रत्येक पदार्थ अन्य सब पदार्था से सर्वथा भिन्न है। मध्व जीव और जगत् को ईश्वर का शरीर नहीं मानते हैं। जीव और जगत् विशेषण

या गौण नहीं हैं। वे तात्विक और मुख्य हैं। ईश्वर परतन्त्र होने से उनकी सत्ता पर कोई आँच नहीं आती। वे परस्पर भिन्न हैं और ईश्वर से नितांत भिन्न हैं, अतः वे ईश्वर का शरीर नहीं हो सकते। मध्वाचार्य ने पंचविध नित्य भेद स्वीकार किये हैं जिनके ज्ञान हो जाने पर जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ये पाँच भेद हैं-

- ईश्वर और जीव का भेद
- जीव और जीव का भेद
- ईश्वर और जड़ का भेद
- जड़ और जड़ का भेद एवं
- जीव और जड़ का भेद

जैसा कि महाभारततात्पर्यनिर्णय में भी कहा गया है-

जगत्प्रवाहः सत्योऽयं पंचभेदसमन्वितः।

जीवेशयोर्भिदा चैव जीवभेदः परस्परम्।

जडेशयोर्जडानांच जडजीवभिदा तथा।। महाभारततात्पर्यनिर्णय-1.67-70

मध्व का भेद पर इतना दुर्निवार आग्रह है कि उन्होंने मुक्त जीवों में भी ज्ञान और आनन्द के तारतम्य रूपी भेद को स्वीकार किया है।

02.5.2 पदार्थ एवं द्रव्य

दस पदार्थ- मध्वदर्शन में पदार्थों की संख्या दस मानी गयी है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव।

बीस द्रव्य- उनके मत में द्रव्य बीस प्रकार का होता है- परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अंहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्राएँ, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब। मध्वाचार्य ने स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र नामक दो तत्त्वों को स्वीकार किया है। भगवान विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं और अस्वतन्त्र तत्त्व परमात्मा का दास जीव है।

सत्कार्यवाद और परिणामवाद-

जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है। सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को माना गया है। उपादान कारण तथा उनके कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध है। तन्तु रूप उपादान के

अभाव में वस्त्र की सत्ता ही संभव नहीं होती। तन्तु और कपड़े में अत्यन्त भेद नहीं है, किन्तु अत्यन्त अभेद भी नहीं है। यह स्थिति निमित्त कारण के सम्बन्ध में नहीं है। स्वर्ण से बने आभूषण सोना रूप में तथा आभूषण रूप में भिन्नाभिन्न दोनों हैं। उसी तरह प्रकृति और उसके विकारों में भी भेद और अभेद दोनों हैं । व्यक्त और अव्यक्त, कार्य और कारण, सूक्ष्म और स्थूल, ये दो अवस्थाएँ ही कार्य-कारण कहलाती हैं । भेद पर बल देकर मध्व ने सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद में समन्वय स्थापित किया है।

2.5.3 परमात्मा एवं जीव

परमात्मा-भगवान् विष्णु परमात्मा हैं जो सब प्रकार से पूर्ण हैं । भगवान् समस्तकल्याणगुणों से परिपूर्ण है। वह मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों को धारण करते हैं, परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष- इन सबका विधाता है। परमात्मा सर्वज्ञ है वह एकराट् कहलाता है। वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र और एक है। वह जीव, जड़, प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति और सहचरी है। वह परमात्मा के बाधित रहने के कारण उनसे भिन्न है तथा उनके आधीन है। लक्ष्मी, नित्य, चिद्रूप और अनन्त है, वह समस्त गुणों से परिपूर्ण है। श्री, दुर्गा, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता जयन्ती, सत्या, रूक्मिणी आदि लक्ष्मी की मूर्तियाँ हैं। वह ब्रह्मा आदि जीवों की जननी है। लक्ष्मी गुणों में भगवान् से न्यून है ।

जीव-जीव परमात्मा से भिन्न और अनेक हैं। प्रत्येक जीव का अपना व्यक्तित्व अलग है, अतः एक जीव दूसरे से भिन्न है। जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भय आदि दोषों से मुक्त होने के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। जीव के तीन भेद हैं-

1. **मुक्तियोग्य-** देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा पुरूषोत्तम रूप से पाँच प्रकार के होते हैं।

2. **नित्यसंसारी-** अपने कर्मानुसार स्वर्ग के सुख, मर्त्यलोक के सुख-दुःख भोगते रहते हैं। ये मध्यम कोटी के मानव होते हैं।

3. **तमोयोग्य-** दानव, राक्षस, पिशाच और अधम मानव होते हैं। ये कभी मुक्त नहीं हो सकते हैं।

मुक्तियोग्य तमोयोग्य जीव दो प्रकार का होता है- चतुर्गुणोपासक और एकगुणोपासक।

प्रकृति

माध्वदर्शन में प्रकृति की मान्यता है। प्रकृति साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। परमात्मा तो केवल निमित्त कारण है। परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति अपना कार्य करती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, जड़, अव्यक्त और व्यापक है। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है। यह जगत् के सारे बंधनों का कारण है। सभी प्राणियों के लिंग शरीर प्रकृति से निर्मित होते हैं। लक्ष्मी

इसकी अधिष्ठात्री देवी है

2.5.4 मोक्ष का स्वरूप-

मध्वाचार्य के अनुसार भगवान परमात्मा की कृपा एवं साक्षात्कार से ही मोक्ष सम्भव है। परमात्मा के अनुग्रह से जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। वैराग्य, शम, शरणागति, परमात्मभक्ति और पंचविध भेदज्ञान मोक्षप्राप्ति के साधन हैं। भगवान् के प्रति ज्ञानपूर्वक अनन्य स्नेह ही भक्ति है। भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान से उनमें अनन्य भक्ति उत्पन्न होती है और तब भगवान् के परम अनुग्रह से मोक्ष प्राप्त होता है। मुक्त पुरुष का शरीर ब्रह्म के शरीर से भिन्न तथा जीवब्रह्मैक्य नहीं है। पंचभेदों का परिज्ञान मुक्ति के साधन हैं । माध्वमत में मोक्ष चार प्रकार का होता है- कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अचिरादिमार्ग और भोग। इनमें भोग मुक्तिचार प्रकार की होती है-

1. **सालोक्य**- भगवान् के साथ बैकुण्ठ लोक में निवास करना।

2. **सामीप्य**- भगवान् के समीप रहना।

3. **सारूप्य**- भगवान् के समान रूप धारण करना।

4. **सायुज्य**- भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उनके शरीर से आनन्द का भोग करना।

मध्व मुक्त जीवों को भी ब्रह्म के समान न मानकर ब्रह्म से भिन्न मानते हैं तथा परस्पर भी भिन्न मानते हैं तथा उनमें ज्ञान और आनन्द आदि गुणों के तारतम्य की कल्पना करते हैं। मध्व के अनुसार दानव, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य मोक्ष से परे हैं। ये नित्य अभिशप्त हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी नहीं।

बोधप्रश्न

प्र.(3.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) मध्व के अनुसार पदार्थ बीस होते हैं। ( )

(ख) मध्व ने सत्कार्यवाद को नहीं माना है। ( )

(ग) जीव परमात्मा से अभिन्न और एक हैं। ( )

(घ) मध्व के मत में जीवात्मा चार प्रकार के हैं। ( )

(ङ) पंचविध भेद ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। ( )

अभ्यास

प्रश्न (3.) मध्व के अनुसार द्वैताद्वैत को स्पष्ट करें-

....

....

....

....

प्रश्न (4.) मध्व के अनुसार भोगमुक्ति के प्रकारों को लिखें-

....

....

....

....

बोधप्रश्न

प्र.(4.) उपयुक्त उत्तर के साथ रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

(क) मध्व के अनुसार पदार्थ कितने हैं ....।

(ख) अनन्तकल्याणगुणसम्पन्न .... होता है।

(ग) पंचविध भेदों के ज्ञान से ....होता है।

(घ) ....विश्व का उपादान कारण है।

(ङ) ये नित्य अभिशप्त हैं..।

दानव, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य मोक्ष से परे हैं। ये नित्य अभिशप्त

अभ्यास

प्रश्न (5.) मध्व के अनुसार पंचविध भेदों को लिखें-

....

....

....

....

2.6 सारांश

अन्य वैष्णव वेदांत सम्प्रदायों के समान माध्व दर्शन का ''द्वैतवाद'' भी रामानुज के दर्शन के समान प्रसिद्ध है। इनका सिद्धान्त द्वैतवाद है। मध्व ने ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों पर भाष्य लिखे ब्रह्मसूत्र पर अणुव्याख्यान नामक ग्रन्थ, भागवतपुराण पर भागवत-तात्पर्य-निर्णयटीका। उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, मिथ्यावानुमानखण्डन, तत् वोद्योत, तत् वविवेक, तत्वसंख्यान आदि भी इनकी रचनायें हैं ।इनकी ज्ञान मीमांसा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य पर अधिक आधारित है। चूँकि कोई वस्तु निर्विशेष समान्य मात्र नहीं, अपितु असंख्य विशेषोंवाली होती है।, अतः निर्विशेष ज्ञान असम्भव है। ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्वयं सिद्ध है। मध्व वेदान्त में साक्षी के विना ज्ञान प्रमाणिक नहीं होता, क्योंकि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरुषेय बोध है। आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्येन्द्रिय को साक्षी कहते हैं। वृत्ति ज्ञान का फलरूप प्रमा साक्षी निष्ठ होती है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान न और साक्षीज्ञान दो प्रकार के ज्ञान माध्व वेदान्त में मान्य हैं। तदनुसार प्रमाण भी दो प्रकार के हैं- अनु प्रमाण और केवल प्रमाण। यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं अनुप्रमाण तीन प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द या आगम। यथार्थ ज्ञान को ही केवल प्रमाण कहते हैं यह चार प्रकार का होता है- 1. ईश्वरज्ञान, 2. लक्ष्मी-ज्ञान, 3. योगिज्ञान और 4. अयोगिज्ञान। मुख्यतः चार प्रकार के प्रत्यक्ष का विवरण प्राप्त होता है- 1. ईश्वरप्रत्यक्ष, 2. लक्ष्मी-प्रत्यक्ष, 3.योगिप्रत्यक्ष और 4. अयोगिप्रत्यक्ष । मध्व के अनुसार सारे प्रत्यक्ष सविकल्पक ही होते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है- 1. कार्यानुमान- जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है वह कार्यानुमान है, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान। 2. कारणानुमान- जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है वह कारणानुमान है, जैसे विशेष प्रकार के बादल को देखकर वर्षा का अनुमान। 3. अकार्याकारणानुमान- जो अपने साध्य का न तो कारण है और न कार्य, फिर भी अनुमापक होता है वह अकार्याकारणानुमान होता है, जैसे रस रस रूप का अनुमापक है।दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट के भेद से भी अनुमान के दो प्रकार होते हैं। शब्द प्रमाण या आगम प्रमाण- आगम या शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है-अपौरुषेय और पौरुषेय या नित्य और अनित्य। वेद आदि सत्य आगम अपौरुषेय हैं तथा महाभारत, रामायण, पांचरात्र आदि पौरुषेय आगम हैं। द्वैतवाद- मध्व का वस्तुवादी द्वैतवाद ईश्वर, जीव और जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करता है। प्रकृति, जीव और ईश्वर भिन्न तत्व हैं, ये अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, क्योंकि

इनकी प्रतीति होती है। । ये तीनों सत् तत्व हैं, क्योंकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है । मध्व द्वैत को सत्य मानते हैं- जो स्वरूपतः भिन्न होता है, वह अभिन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म, जीव और प्रकृति स्वरूपतः भिन्न हैं, अतः इनमें अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। मध्व भेद को वस्तुओं का स्वरूप मानते हैं ,यह जगत् सत्य है और प्रत्येक पदार्थ अन्य सब पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। मध्वाचार्य ने पंचविध नित्य भेद स्वीकार किये हैं जिनके ज्ञान हो जाने पर जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ये पाँच भेद हैं-1. ईश्वर और जीव का भेद 2. जीव और जीव का भेद 3.ईश्वर और जड़ का भेद 4.जड़ और जड़ का भेद एवं 5.जीव और जड़ का भेद।

मध्व का भेद पर इतना दुर्निवार आग्रह है कि उन्होने मुक्त जीवों में भी ज्ञान और आनन्द के तारतम्य रूपी भेद को स्वीकार किया है। मध्वदर्शन में पदार्थों की संख्या दस मानी गयी है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। उनके मत में द्रव्य बीस प्रकार का होता है- परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अंहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्राएँ, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब। मध्वाचार्य ने स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र नामक दो तत्त्वों को स्वीकार किया है। भगवान विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं और अस्वतन्त्र तत्त्व परमात्मा का दास जीव है। जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है। सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को माना गया है। उपादान कारण तथा उनके कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध है। उसी तरह प्रकृति और उसके विकारों में भी भेद और अभेद दोनों हैं ।

व्यक्त और अव्यक्त, कार्य और कारण, सूक्ष्म और स्थूल, ये दो अवस्थाएँ ही कार्य-कारण कहलाती हैं। भेद पर बल देकर मध्व ने सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद में समन्वय स्थापित किया है। परमात्मा भगवान् विष्णु परमात्मा हैं जो समस्तकल्याणगुणों से परिपूर्ण है। श्री, दुर्गा, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता जयन्ती, सत्या, रूक्मिणी आदि लक्ष्मी की मूर्तियाँ हैं। वह ब्रह्मा आदि जीवों की जननी है। लक्ष्मी गुणों में भगवान् से न्यून है। जीव प्रत्येक जीव का अपना व्यक्तित्व अलग है, अतः एक जीव दूसरे से भिन्न है। जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भय आदि दोषों से मुक्त होने के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। जीव के तीन भेद हैं-मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य- प्रकृति-माध्वदर्शन में प्रकृति साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, जड़, अव्यक्त और व्यापक है। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है। यह जगत् के सारे बंधनों का कारण है। वैराग्य, शम, शरणागति, परमात्मभक्ति और पंचविध भेदज्ञान मोक्षप्राप्ति के साधन हैं। माध्वमत में मोक्ष चार प्रकार का होता है- कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अचिरादिमार्ग और भोग। इनमें भोग मुक्तिचार प्रकार की होती है-सालोक्य- सामीप्य-सारूप्य-सायुज्य-मध्व मुक्त जीवों को भी ब्रह्म के समान न मानकर ब्रह्म से भिन्न मानते हैं तथा परस्पर भी भिन्न मानते हैं तथा उनमें ज्ञान और आनन्द आदि गुणों के तारतम्य की कल्पना करते हैं।

2.7 शब्दावली

अकार्याकारणानुमान- जो अपने साध्य का न तो कारण है और न कार्य, फिर भी अनुमापक होता है वह अकार्याकारणानुमान होता है, जैसे रस, रस रूप का अनुमापक है।
अचित्- ज्ञानशून्य तथा विकारास्पद जड़ तत्व।
अनुप्रमाण- यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं तथा तीन प्रकार के यथार्थ ज्ञान को देते हैं- प्रत्यक्षज्ञान, अनुमितिज्ञान तथा शब्दज्ञान।
कार्यानुमान- जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है वह कार्यानुमान है, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान।
कारणानुमान- जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है वह कारणानुमान है, जैसे विशेष प्रकार के बादल को देखकर वर्षा का अनुमान।
केवल प्रमाण- यथार्थ ज्ञान को ही केवल प्रमाण कहते हैं यह चार प्रकार का होता है- 1. ईश्वरज्ञान, 2. लक्ष्मी-ज्ञान, 3. योगिज्ञान और 4. अयोगिज्ञान।
वाक्य- आकांक्षा, योग्यता और सन्निहित पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।
द्वैत- मध्व द्वैत को सत्य मानते हैं- जो स्वरूपतः भिन्न होता है, वह अभिन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म, जीव और प्रकृति स्वरूपतः भिन्न हैं, अतः इनमें अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता।
सत्कार्यवाद- कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् रूप में विद्यमान रहता है। कारण के सत् होने पर कार्य भी सत् होता है।
तमोयोग्य- दानव, राक्षस, पिशाच और अधम मानव होते हैं। ये कभी मुक्त नहीं हो सकते हैं।
दस पदार्थ- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव।
नित्यसंसारी- अपने कर्मानुसार स्वर्ग के सुख, मर्त्यलोक के सुख-दुःख भोगते रहते हैं। ये मध्यम कोटी के मानव होते हैं।
पंचविधनित्यभेद- ईश्वर और जीव का भेद, जीव और जीव का भेद, ईश्वर और जड़ का भेद, जड़ और जड़ का भेद एवं जीव और जड़ का भेद।
प्रकृति- प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, जड़, अव्यक्त और व्यापक है। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है। यह जगत् के सारे बंधनों का कारण है।
मोक्षप्राप्ति के साधन- वैराग्य, शम, शरणागति, परमात्मभक्ति और पंचविध भेदज्ञान।
बीस द्रव्य- परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अंहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्राएँ, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब।
भक्ति- भगवान् के प्रति ज्ञानपूर्वक अनन्य स्नेह ही भक्ति है।
मुक्तियोग्य- देव,ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा पुरूषोत्तम रूप से पाँच प्रकार के होते हैं।
मोक्ष के प्रकार- कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अचिरादिमार्ग और भोग।
साक्षी- आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्येन्द्रिय को कहते है।

सामीप्य- भगवान् के समीप रहना।
सायुज्य- भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उनके शरीर से आनन्द का भोग करना।
सारूप्य- भगवान् के समान रूप धारण करना।
सालोक्य- भगवान् के साथ बैकुण्ठ लोक में निवास करना।
शरणागति- ईश्वर की शरण में जाना ही शरणागति तथा प्रपत्ति है।

2.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न

1(क) (√) (ख) (√) (ग) (√)(घ)(X)(ङ) (√)

2.(क) द्वैतवाद

(ख) साक्षी

(ग) अनुप्रमाण

(घ) ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा उपनिषद्

(ङ) चार प्रकार का

3. (क)(X) (ख) (√) (ग) (X) (घ)(X))(ङ) (√)

4.(क) दस

(ख) ईश्वर

(ग) मोक्ष

(घ) प्रकृति

(ङ) दानव, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य।

अभ्यास

(1.) देखें उपखण्ड- 2.4.2

(2.) देखें उपखण्ड- 2.4.1

(3.) देखें खण्ड- 02.5.1

(4.) देखें उपखण्ड- 02.5.4

5.) देखें उपखण्ड- 02.5.1

2.9 संदर्भ ग्रन्थसूची

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 4-5 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण.

5. दत्त एवं चटर्जी (1994) भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।

6. शर्मा चन्द्रधर (1998) भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली.

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन कोश, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण.

2. शर्मा राममूर्ति (1998) अद्वैत वेदान्त, इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

3. ऋषि उमाशंकरशर्मा(1984) माधवाचार्यकृतसर्वदर्शनसंग्रह,चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, तृतीय संस्करण।

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. द्वैतवाद दर्शन के आधार पर तत्वों का विश्लेषण करें।
2. मध्वदर्शन के ज्ञान मीमांसा पर एक निबन्ध लिखें।
3. मध्व के अनुसार मोक्ष के स्वरूप पर एक लेख लिखें।

इकाई3: द्वैताद्वैत वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 इकाई की पृष्ठभूमि -
3.3.1 द्वैताद्वैत का उद्भव
3.3.2 द्वैताद्वैत का साहित्य
3.4 ज्ञान मीमांसा
3.4.1. ज्ञान
3.4.2 ज्ञान के साधन (प्रमाण)
3.5 तत्व मीमांसा
3.5.1 द्वैतवाद
3.5.2 तत्वत्रय
3.5.3 जीवात्मा परमात्मा का भेदाभेद
3.5.4 बन्धन और मोक्ष
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम भाग प्रथम के द्वैताद्वैत वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित यह इकाई है, इससे पूर्व की इकाईयों के अध्ययन से आप बता सकतें हैं कि भारतीय दर्शन के कितने प्रकार हैं ? आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन कौन- कौन हैं ?

भारतीय आस्तिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन का विशिष्ट स्थान है। वेदान्त दर्शन की भी कई शाखायें हैं। अद्वैत वेदान्त दर्शन के पश्चात् प्रमुख वैष्णव वेदान्त दर्शनों के प्रकारों तथा सिद्धांतों से आप सब परिचित हो पायेंगें।

इस इकाई के अध्ययन के बाद वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख दार्शनिकों में द्वैताद्वैतवाद के चिन्तन तथा सिद्धांतो से आप परिचित हो जायेंगे।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि वेदान्त दर्शन के कौन - कौन प्रमुख सम्प्रदाय हैं।
- उनके प्रमुख दार्शनिक सिंद्धान्तों को जान सकेंगे तथा उनके ज्ञान मीमांसा तथा तत्व मीमांसा के प्रमुख तत्वों से भी परिचित हो सकेंगे।

3.3 इकाई की पृष्ठभूमि

3.3.1 द्वैताद्वैत का उद्भव-

निम्बार्क दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य निम्बार्क का जन्म बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका वास्तविक नाम नियमानन्द था। कहा जाता है कि नीम के पेड़ पर चढ़ कर सूर्यास्त हो जाने पर भी सूर्य का दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क पड़ा था। ये अलौकिक प्रतिभासम्पन्न वैष्णवी विद्वान् थे।

इनका समय दासगुप्त के मत में चौदहवीं सदी के अन्त या पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ का है। रोमा चौधरी इन्हें ग्यारहवीं सदी का मानती हैं जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कुछ परम्परानुयायी इनका समय काफी पीछे ले जाते हैं, किन्तु रामानुज के बाद ही इन्हें मानना उचित होगा।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अतिरिक्त निम्बार्क का द्वैताद्वैत या भेदाभेद प्रमुख वैष्णव वेदान्त सम्प्रदाय है। निम्बार्क सम्प्रदाय को वैष्णव मत का ''सनक-सम्प्रदाय'' कहा जाता है तथा निम्बार्क

को सुदर्शनचक्र का अवतार माना जाता है। भारतीय दर्शन में द्वैताद्वैतवाद अत्यन्त प्राचीन है। बादरायण से भी पूर्व के आचार्यों में औडुलोमि और आश्मरथ्य तथा शंकर-पूर्व के आचार्यों में भर्तृप्र्रपंच एवं शंकरोत्तर आचार्यों में भास्कर और यादव प्रसिद्ध भेदवादी आचार्य हुये हैं। निम्बार्काचार्य ने इन आचार्यों के मत को पुनरुज्जीवित किया है।

1.3.2 विशिष्टाद्वैत का साहित्य

निम्बार्क भास्कर के अनुयायी हैं, पर भास्कर के औपाधिक भेदाभेदवाद से थोड़ा भिन्न स्वाभाविक भेदाभेदवाद का प्रतिपादन करके इन्होंने अलग सम्प्रदाय बनाया, जो एक विशिष्ट धर्म-सम्प्रदाय के रूप में, मुख्य रूप से ब्रज तथा उत्तर प्रदेश में एवं अन्यत्र, बंगाल आदि में, प्रचलित रहा है। निम्बार्क का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य पूर्णप्रज्ञभाष्य या वेदान्तपारिजातसौरभ के नाम से विख्यात है। यह अति संक्षिप्त वृत्ति के रूप में है। शंकर के सिद्धान्त का प्रतिवाद करने में इन्होंने अधिक अभिरुचि नहीं दिखायी है। दशश्लोकी या सिद्धान्तरत्न तथा कृष्णस्तवराज नामक इनके दो स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं। इनकी रचनाओं पर टीका-ग्रन्थ भी पाये जाते हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ **वेदान्तपारिजातसौरभ**, **सिद्धान्तरत्न**, **दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तवराज** हैं।

3.4 ज्ञान मीमांसा

3.41. ज्ञान-

ज्ञान यथार्थ, वस्तु-विषयक तथा आत्मा का धर्मभूत द्रव्य है। यथार्थ ज्ञान या प्रमा बुद्धि के नहीं जीव के आश्रित होती है। प्रमा या धर्मभूत ज्ञान में संकोच- विकास कर्मवश होता है, इसलिये कि आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के समान यह स्वयंप्रकाश नहीं है। आत्मा सदा ही ज्ञातृत्व धर्मवाला होता है, अतः ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता। इन्द्रिय आदि निमित्त न मिलने से सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि दशा में वह प्रकट नहीं हो पाता। यदि उसका अभाव माना जाय तो कभी भी आविर्भाव सम्भव नहीं होगा। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है, जैसा न्याय-वैशेषिक दर्शन में मान्य है। ज्ञान आत्मा में गुण और गुणी के सम्बन्ध से नित्य जुड़ा हुआ रहता है। गुण और गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध होता है, गुण आत्मा से भिन्न द्रव्य होते हुए भी उससे अभिन्न या अपृथक् सिद्ध है। निम्बार्क रामानुज के समान वस्तुवादी या बाह्यार्थसत्यवादी तथा ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान के साधन (प्रमाणत्रय) को स्वीकार करते हैं।

3.4.2 ज्ञान के साधन (प्रमाण)

रामानुज के समान निम्बार्क प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, तीन प्रमाणों को मानते है।

प्रत्यक्ष-इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है जो बाह्य और आन्तर दो प्रकार का होता है। बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रियज है तथा सुख-दुःख आदि आन्तरिक विषयों का इन्द्रिय-निरपेक्ष आन्तर।

अनुमान-व्याप्ति पर निर्भर ज्ञान अनुमान है। अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन पंचावयव वाक्यों का प्रयोग होता है।

शब्द-इन दो ज्ञानों से अतिरिक्त एवं सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान श्रुतिमूलक होता है। श्रुति श्रवण-मनन-निदिध्यासन का विधान करती है। वस्तु के साक्षात्कार का कारण निदिध्यासन है, उसके बहिरंग साधन श्रवण और मनन हैं। आचार्य के मुख से वाक्यार्थ का ग्रहण श्रवण है, श्रुत्यनुकूल तर्क से उस पर विशेष विचार मनन है तथा ध्यानपूर्वक उपदिष्ट वस्तु का साक्षात्कार निदिध्यासन है। इनका अपूर्व विधान श्रुति द्वारा हुआ है। अर्थात् वेद वचनां े में कहीं भी किसी रूप में अर्थवाद नहीं है।

प्रत्यक्ष और अनुमान अपने अपने विषयों में प्रमाण हैं, किन्तु शास्त्र-ज्ञान सर्वथा निर्दोष एवं प्रामाणिक होने से अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध होता है, उसमें भ्रान्ति की सम्भावना बिलकुल नहीं होती, वह सभी परिस्थितियों में समान रूप से परिपूर्ण एवं भ्रान्तिरहित ज्ञान होता है।

निम्बार्क रामानुज के समान सत्ख्यातिवादी हैं। अनिर्वचनीय ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति जैसे सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये सत्ख्यातिवादी निम्बार्क का कथन है कि प्रमाण का बल पर भ्रान्त ज्ञान का बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पुण्य से पाप का या औषधि से रोग का। निम्बार्क के अनुसार परिणामवाद श्रुति द्वारा प्रतिपादित है।

बोधप्रश्न-

प्र.(1.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) निम्बार्क ने द्वैताद्वैत वाद की स्थापना की ( )

(ख) ये शंकराचार्य के विरोधी थे ( )

(ग) ‘वेदान्त परिजातसौरभ के लेखक निम्बार्क थे ( )

(घ) आत्मा ज्ञातृत्व धर्म वाला होताह है ( )

(ङ) निम्बार्क चार प्रमाण मानते हैं ( )

अभ्यास-

प्रश्न (1.) निम्बार्क के अनुसार ज्ञान के साधन प्रमाणों के नाम लिखें-

....

....

....

....

....

बोधप्रश्न-

प्र.(2.) निम्न प्रश्नों के उत्त र लिखें-

(क) निम्बार्क किस वाद के प्रतिपादक आचार्य हैं..।

(ख) प्रत्यक्ष के कितने प्रकार हैं, कौन-कौन..।

(ग) तत्वत्रय से तात्पर्य है ....।

(घ) परिणामवाद किससे प्रतिपादित है.. ।

(ङ) ज्ञान आत्मा में किस सम्बन्ध से जुड़ा है ....।

अभ्यास

प्रश्न (2.) निम्बार्क के अनुसार सत्ख्याति से क्या तात्पर्य है लिखें-

....

....

....

....

....

....

....

3.5 तत्व मीमांसा

निम्बार्क चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्वों को मानते हैं और उनके दर्शन में इनका स्वरूप भी प्रायः रामानुज-सम्मत स्वरूप के अनुरूप है। चित् या जीव एक साथ ज्ञानस्वरूप भी हैं और ज्ञानाश्रय भी हैं। शुद्ध चैतन्य जीव का स्वरूप भी है और ज्ञाता होने के कारण जीव ज्ञान का आश्रय भी है। ज्ञान स्वरूपभूत और धर्मभूत दोनों है।

3.5.1 द्वैताद्वैतवाद-

रामानुज के समान निम्बार्क भी चित्, अचित् और ईश्वर- इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। इनके मत में चित् (जीव) अचित् (जगत्) से भिन्न होते हुये भी ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है और प्रकाश का आश्रय भी है, उसी प्रकार चित् भी एक ही काल में ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय भी है। ब्रह्म जीव और जड़युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। जिस प्रकार मकड़ी अपने में से जाला बनाने पर भी उससे स्वतंत्र रहती है इसी प्रार ब्रह्म भी असंख्य जीव और जड़ में विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाए रखता है। इस प्रकार चित् का अवस्थाभेद से ब्रह्म से भिन्न तथा चैतन्यरूप से अभिन्न होने के कारण इनका मत 'द्वैताद्वैतवाद' नाम से प्रसिद्ध है। जीव के सभी व्यापार और उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ में अवलम्बित है कि ब्रह्म सभी का उपादान एवं निमित्त कारण है। कार्य रूप में ईश्वर और जीव में भेद है, किन्तु कारण रूप में दोनों में अभेद है। जिस प्रकार सुवर्णरूप से सोना अभेद एक ही है परन्तु अपने कार्य कुण्डल,

अंगुठी आदि के द्वारा सभेद अर्थात् अपने मूल रूप से भिन्न है।

3.5.2 तत्वत्रय-

चित्-

जीव निम्बार्क मत में जीव ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय और अणुरूप है। वह प्रत्येक अवस्था में कर्ता है। मुक्तावस्था में भी कर्त्तृत्त्व से अलग नहीं रहता। वह विभु, नित्य एवं कर्मफल का भोक्ता है। जीव अंश है और ईश्वर अंशी है, अतः दोनों में अंशांशीभाव सम्बन्ध है। वह सदा ईश्वर के अधीन रहता है। जीव दो प्रकार के है- 1.बद्ध- दुःखों से ग्रस्त और 2. मुक्त- बंधनों से परे। बद्धजीव के दो प्रकार हैं- मुमुक्षु तथा बुभुक्षु। मुक्तजीव भी दो प्रकार का होता है- नित्यमुक्त और मुक्त।

अचित्

अर्थात् चेतना विहीन पदार्थ। अचित् तत्त्व तीन प्रकार का होता है-

1. **प्राकृत-** अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न। महत् से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी पदार्थ प्राकृत हैं।

2. **अप्राकृ**त- जिसका प्रकृति से सम्बन्ध न हो, उसे अप्राकृत कहते हैं।

3. **काल**- प्राकृत और अप्राकृत से भिन्न तत्त्व को काल कहते हैं, यह नित्य एवं विभु है। यह परमात्मा के अधीन है।

ईश्वर

निम्बार्क मत में ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अचिन्त्य, सर्वनियन्ता, स्वतन्त्र अमित ऐश्वर्य से युक्त है। यह अविद्या आदि पाँच क्लेशों से मुक्त है। ईश्वर जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत हो जाता है, वह स्वरूप से अविकारी भी रहता है, जैसे मकड़ी अपने अप्रचलित स्वरूप को बनाये रख कर भी अपनी शक्ति का विक्षेप करके जाले के रूप में परिणत हो जाती है। यह सृष्टि का ईश है। यह जगत् उसी का परिणाम है। ईश्वर विश्वकल्याण के लिये अवतार धारण करता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी, स्वरूपतः ब्रह्म से इसका भेद है और कार्य रूप से अभेद भी है। जिस प्रकार दूध से दही का परिणाम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् का उसकी असाधारण शक्ति से।

कार्य कारण सिद्धान्त

निम्बार्क के अनुसार कार्य अपने कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में रहता है। कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व आपने कारण में विद्यमान रहता है- जगत् रूप कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् रूप में विद्यमान रहता है, इसे सत्कार्यवाद कहते हैं। अव्यक्तावस्था में जगत् ब्रह्म से अभिन्न

था किन्तु व्यक्तावस्था में वह नामरूपात्मक कार्य-रूप से सीमित एवं ब्रह्म रूप से भिन्न है। सभी परिणाम या विकार सत् के प्रकट नामरूप ही हैं। अतएव एक कारण के ज्ञान हो जाने से सभी कार्यों का ज्ञान हो जाता है। जैसे- स्वर्ण के ज्ञान होने से स्वर्ण के सभी आभूषणों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार निम्बार्क सत्कार्यवाद और परिणामवाद का सहारा लेकर जगत्-रूप कार्य का ब्रह्म-कारण से भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित करता है।

3.5.3 जीवात्मा और परमात्मा का भेदाभेद-

जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित है। परमात्मा आनन्दमय स्वरूप वाला है तथा जीव केआनन्द का कारण है।परमात्मा नित्य आविर्भूत ज्ञान स्वरूप है जबकि जीव अनुकरण है। परमात्मा निर्लेप है, जीवात्मा भोक्ता है। जीवात्मा अनेक है तथा परमात्मा एक और विभु है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है, अचेतन प्रकृति के समान उसमें विकार उत्पन्न नहीं होता है। अंशांशीभाव से जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं, परन्तु अन्ततः दोनों में अभेद है। जैसे सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बित होते हुए भी जल के वृद्धि ह्रास आदि दोषों से स्पष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्मा के दोषों से अन्तर्यामि ब्रह्म स्पष्ट नहीं होता। जीवात्मा उसी प्रकार सत्य तत्व है जिस प्रकार परमात्मा अन्तर्यामि तथा जीव का उद्धार करने वाला है। जीव ही बन्ध मोक्ष को प्राप्त करता है परमात्मा नहीं। निम्बार्क की उक्ति है कि ब्रह्म उभयलिंग अर्थात् प्रकाशवान् भी है और अन्धकार से दूर है, अतः निर्दोष है। श्रुति, स्मृति और पुराण ईश्वर को सर्वगुणसम्पन्न बताते हैं। ईश्वर अविद्या आदि क्लेशों से रहित, जन्म आदि छः विकारों से रहित है। श्रुति के समस्त भेद परक और अभेद परक वचन मुख्य हैं।

3.5.4 बन्धन और मोक्ष

सभी वेदान्तियों के समान निम्बार्क भी वैदिक ज्ञान काण्ड के समर्थक हैं। पुनरपि कर्म आदि को महŸव देकर ज्ञान कर्म समुच्चयवाद की स्थापना में विश्वास करना भक्ति सम्प्रदाय के वैष्णव सम्प्रदाय की विशेषता रही है। अविद्या या कर्म की निवृत्ति तथा आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान मोक्ष है। निष्काम कर्म, जो ज्ञान, श्रद्धा, ध्यान, और ईश्वर समर्पण बुद्धि से किया जाता है मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। धर्माचरण द्वारा पापकर्मों से मुक्ति मिलती है। जब सत्यज्ञान का प्रकाश आविर्भूत होता है तब धर्माचारण की आवश्यकता नहीं रहती है। ज्ञानयोग निष्काम कर्मयोगी को होता है, परब्रह्म का साक्षात्कार भगवत्कृपा और ज्ञानयोग से होता है। प्रपत्ति योग भगवत्शरणागति है। गुरू आज्ञा भी भगवत् भक्ति में सहयोग करती है। निम्बार्क के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का साधन प्रपत्ति (शरणागति) है। शरणागत होने से भगवान् अनुग्रह करते हैं, अनुग्रह से भक्ति उद्भव होती है, भक्ति से ईश्वर-प्रेम उत्पन्न होता है, प्रेमभक्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है, तब सारे क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मोक्ष की अवस्था है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रपत्ति , तथा ये पाँचों समन्वित रूप में सर्वोत्तम मोक्ष के साधन हैं।

उनके अनुसार जीवनमुक्ति नहीं होती, विदेहमुक्ति ही होती है। मोक्ष प्राप्त करने पर जीव यद्यपि ब्रह्म में मिल जाता है, पर उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व लुप्त नहीं होता है, बना रहता है। इस लिये कहा जाता है कि शक्ति और शक्तिमान में अभेद है। भक्त भगवान् के पास पहुँचेगा भगवान् नहीं हो सकता, भक्त भगवान् बनकर सृष्टि नहीं कर सकता।

निम्बार्काचार्य ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग में ही समन्वय स्थापित नहीं करते, अपितु भेदपरक तथा अभेदपरक श्रुति वचनों में तथा चेतन और अचेतन के द्वैत को ब्रह्माचर्य बताकर द्वैतवादी और अद्वैतवादी दर्शनों में भी एक साथ समन्वय ला देते हैं। धर्म, आचार, दर्शन आदि को एक साथ समन्वित करने में भी उनका विशेष योगदान है। उनके दर्शन में सभी वर्णों और आश्रमों को उचित स्थान भी मिला है। उनका भेदाभेदवाद नाम ही समन्वयात्मक पद्धति का द्योतक है। विरोधी बातों में संगति और सामंजस्य स्थापित करना उनका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। इनका मत काफी प्रभावशाली रहा है- अचिन्त्य भेदाभेद, शाक्त मत तथा विज्ञानभिक्षु का मत इनसे काफी प्रभावित रहे हैं।

बोधप्रश्न

प्र.(3.) निम्न वाक्यों में सही केआगे(√) तथा असत्य के आगे (X)का अंकित करें।

(क) निम्बार्क के अनुसार तीन तत्व होते हैं। ( )

(ख) निम्बार्क ने सत्ख्यातिवाद को नहीं माना है। ( )

(ग) क्या इश्वर ब्रह्म का पर्याय है। ( )

(घ) निम्बार्क के चित् से तात्पर्य जीवात्मा से है। ( )

(ङ) बन्धन और मोक्ष ईश्वर कृपा से होता है। ( )

अभ्यास-

प्रश्न (3.) निम्बार्क के अनुसार द्वैताद्वैत को स्पष्ट करें-

....

....

....

....

प्रश्न (4.) तत्वत्रय से क्या तात्पर्य है।

....

....

....

....

बोधप्रश्न

प्र.(4.) रिक्त स्थानों की पूर्ति उपयुक्त उत्तर के द्वारा करें।

(क) निम्बार्क दक्षिण भारतीय .... आचार्य हैं।

(ख) जीवात्मा और परमात्मा में .... संबंध है।

(ग) मोक्ष किसको प्राप्त होता है...।

(घ) चेतना विहीन..........................है।

(ङ) निम्बार्क .... के समर्थक हैं।

प्रश्न (5.) बन्धन एवं मोक्ष से क्या तात्पर्य है।

....

....

....

....

3.6 सारांश

निम्बार्क दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य निम्बार्क का वास्तविक नाम नियमानन्द था। ये दक्षिण भारत के तैलंग ब्राह्मण थे। निम्बार्क सम्प्रदाय को वैष्णव मत का सनक-सम्प्रदाय तथा द्वैताद्वैतवाद के रूप में जाना जाता है। निम्बार्क का ब्रह्मसूत्र पर पूर्णप्रज्ञभाष्य या वेदान्तपारिजातसौरभ है। इनकी प्रमुख रचनाएँ वेदान्तपारिजातसौरभ, सिद्धान्तरत्न, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तवराज हैं।यथार्थ ज्ञान या प्रमा बुद्धिवृद्धि के नहीं जीव के आश्रित होती है। ज्ञान आत्मा में गुण और गुणी के सम्बन्ध से नित्य जुड़ा हुआ रहता है। गुण और गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध होता है, निम्बार्क प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, तीन प्रमाणों को मानते हैं। प्रत्यक्ष-इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है जो बाह्य और आन्तर दो प्रकार का होता है। बाह्य पदार्थें प्रत्यक्ष इन्द्रियज है तथा सुख-दुःख आदि आन्तरिक विषयों का इन्द्रिय-निरपेक्ष आन्तर। अनुमान-व्याप्ति पर निर्भर ज्ञान अनुमान है। शब्द-इन दो ज्ञानों से अतिरिक्त एवं सर्वाधिक प्रामाणिक ज्ञान श्रुतिमूलक होता है। निम्बार्क रामानुज के समान सत्ख्यातिवादी हैं। अनिर्वचनीय ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति जैसे सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये सत्ख्यातिवादी निम्बार्क का कथन है कि प्रमाण का बल पर भ्रान्त ज्ञान का बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पुण्य से पाप का या औषधि से रोग का। द्वैताद्वैतवाद- रामानुज के समान निम्बार्क भी चित्, अचित् और ईश्वर- इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। इनके मत में चित् (जीव) अचित् (जगत्) से भिन्न होते हुये भी ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है और प्रकाश का आश्रय भी है, उसी प्रकार चित् भी एक ही काल में ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय भी है। ब्रह्म जीव और जड़ युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। जिस प्रकार मकड़ी अपने में से जाला बनाने पर भी उससे स्वतंत्र रहती है इसी प्रार ब्रह्म भी असंख्य जीव और जड़ में

विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाए रखता है। इस प्रकार चित् का अवस्थाभेद से ब्रह्म से भिन्न तथा चैतन्यरूप से अभिन्न होने के कारण इनका मत 'द्वैताद्वैतवाद' नाम से प्रसिद्ध है। चित् जीव निम्बार्क मत में जीव ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय और अणुरूप है। वह विभु, नित्य एवं कर्मफल का भोक्ता है। जीव दो प्रकार के हैं बद्ध और मुक्त। अचित्-अर्थात् चेतना विहीन पदार्थ। अचित् तत्त्व तीन प्रकार का होता है- प्राकृत, अप्राकृत और काल। ईश्वर -निम्बार्क मत में ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अचिन्त्य, सर्वनियन्ता, स्वतन्त्र अमित ऐश्वर्य से युक्त है। यह अविद्या आदि पाँच क्लेशों से मुक्त है। ईश्वर जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। ईश्वर विश्वकल्याण के लिये अवतार धारण करता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी, स्वरूपतः ब्रह्म से इसका अभेद है और कार्य रूप से अभेद भी है। जिस प्रकार दूध से दही का परिणाम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् का उसकी असाधारण शक्ति से। जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित है। परमात्मा नित्य आविर्भूत ज्ञान स्वरूप है जबकि जीव अनुकरण है। परमात्मा निर्लेप है, जीवात्मा भोक्ता है। जीवात्मा अनेक है तथा परमात्मा एक और विभु है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है, जीव ही बन्ध मोक्ष को प्राप्त करता है परमात्मा नहीं। बन्धन और मोक्ष अविद्या या कर्म की निवृत्ति तथा आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान मोक्ष है। निष्काम कर्म, जो ज्ञान, श्रद्धा, ध्यान, और ईश्वर समर्पण बुद्धि से किया जाता है मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। निम्बार्क के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का साधन प्रपत्ति (शरणागति) है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रपत्ति तथा गुरूपसिन्नधि ये पाँचों समन्वित रूप में सर्वोत्तम मोक्ष के साधन हैं। उनके अनुसार जीवनमुक्ति नहीं होती, विदेहमुक्ति ही होती है।

निम्बार्काचार्य ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग में ही समन्वय स्थापित नहीं करते, अपितु भेदपरक तथा अभेदपरक श्रुति वचनों में तथा चेतन और अचेतन के द्वैत को ब्रह्मचर्य बताकर द्वैतवादी और अद्वैतवादी दर्शनों में भी एक साथ समन्वय ला देते हैं। उनका भेदाभेदवाद नाम ही समन्वयात्मक पद्धति का द्योतक है। विरोधी बातों में संगति और सामंजस्य स्थापित करना उनका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

03.7 शब्दावली

अचित्-अर्थात् चेतना विहीन पदार्थ ज्ञानशून्य तथा विकारास्पद जड़ तŸव।

अनुमान-व्याप्ति पर निर्भर ज्ञान अनुमान है।

अप्राकृत- जिसका प्रकृति से सम्बन्ध न हो, उसे अप्राकृत कहते हैं।

ईश्वर- सर्वषक्तिमान, सर्वज्ञ, अचिन्त्य, सर्वनियन्ता, स्वतन्त्र अमित ऐष्वर्य से युक्त है।

काल- प्राकृत और अप्राकृत से भिन्न तत्त्व को काल कहते हैं, यह नित्य एवं विभु है।

चित्- चेतन जीव, ज्ञानशून्य स्वयंप्रकाश, ज्ञानाश्रय और अणुरूप।

प्रत्यक्ष-इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है जो बाह्य और आन्तर दो प्रकार का होता है।

प्राकृत- अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न। महत् से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी पदार्थ प्राकृत हैं।

सत्कार्यवाद- कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् रूप में विद्यमान रहता है। कारण के सत् होने पर कार्य भी सत् होता है।

मोक्षप्राप्ति के साधन- ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रपत्ति तथा गुरूपसन्निधि।

शरणागति- ईश्वर की शरण में जाना ही शरणागति तथा प्रपत्ति है।

3.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न

1.क. (√) ख. (X) ग. (√) घ. (√) ङ. (X)

2.

(क) द्वैताद्वैतवाद

(ख) दो प्रकार का बाह्य और आन्तर।

(ग) चित्, अचित् और ईश्वर।

(घ) श्रुति से

(ङ) गुण-गुणी संबंध से

3. क. (√) ख. (X) ग. (√) घ. (√) ङ. (X)

4. (क) तैलंग ब्राह्मण

(ख) भेदाभेद

(ग) जीवात्मा को

(घ) अचेतन

(ङ) द्वैताद्वैत

अभ्यास-

(1.) देखें उपखण्ड- 3.4.2

(2.) देखें उपखण्ड- 3.4.2

(3.) देखें खण्ड- 3.5.1

(4.) देखें उपखण्ड- 3.5.2

(5.) देखें उपखण्ड- 3.5.4

03.9 संदर्भ ग्रन्थसूची

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग- 3 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण।

7दत्त एवं चटर्जी (1994) भारतीय दर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना।

8. शर्मा चन्द्रधर (1998) भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली।

03.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1.दासगुप्ता एस0 एन0 (1989) भारतीय दर्शन कोश, राजस्थान

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वितीय संस्करण.

2. शर्मा राममुर्ति (1998) अद्वैत वेदान्त, इतिहास तथा सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

3. ऋषि उमाशंकरशर्मा(1984) माधवाचार्यकृतसर्वदर्शनसंग्रह,चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, तृतीय संस्करण।

03.11 निबंधात्मक प्रश्न

4. द्वैताद्वैत दर्शन के आधार पर तŸवत्रय का विश्लेषण करें।
5. द्वैताद्वैत दर्शन के ज्ञान मीमांसा पर एक निबन्ध लिखें।
6. बन्धन तथा मोक्ष से क्या तात्पर्य है। विस्तार से लिखें।

खण्ड 2- सांख्यकारिका

इकाई1.सांख्यदर्शनकासंक्षिप्त इतिहास एवं तत्वमीमांसा

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3. साख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास एवं तत्वमीमांसा

1.3.1 साख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

1.3.2 साख्य दर्शन की तत्वमीमांसा

1.3.2.1 सांख्य स्वीकृत तत्वों की संख्या

1.3.2.2 सांख्य सम्मत तत्वों का स्वरूप सिद्धि

1.3.2.3 सृष्टि प्रक्रिया

1.3.2.4 सांख्य का ईश्वर विषयक विचार

1.4 सारांश

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सांख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास एवं तत्वमीमांसा को रखा गया है।

इसमें दो उपखण्ड है। प्रथम उपखण्ड में सांख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास वर्णित है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल हैं उन्होने पवित्र साख्य का उपदेश अपने शिष्य आसुरि को दिया, वही ज्ञान परम्परा पंचशिख वार्षगण्य जैगीषव्य आदि के माध्यम से ईश्वर कृष्ण को मिली जिसको उन्होने सांख्य कारिका में बताया है। इसी खण्ड में इसका साहित्य भी वर्णित है।

इसके द्वितीय उपखण्ड में इसकी तत्वमीमांसा वर्णित है । इसके अन्तर्गत तत्वों की संख्या, तत्वों का स्वरूप, तत्वों की सिद्धि, सृष्टिप्रक्रिया और ईश्वर विषयक सांख्य की मान्यता को दिखाया गया है।

1 .2 उद्देश्य

प्रस्तुत प्रथम इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह जानने में समर्थ हो सकेगें -

1. साख्यदर्शन का संक्षिप्त इतिहास जिसमें साख्य की आचार्य परम्परा, साहित्य,
2. तत्वों की संख्या व स्वरूप, सृष्टि प्रक्रिया
3. ईश्वर विषयक प्रश्न आदि ।

1.3 सांख्य दर्शन संक्षिप्त इतिहास एवं तत्वमीमांसा:

इस खण्ड के दो उपखण्ड हैं -

1. सांख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास
2. सांख्य की तत्वमीमांसा ।

1 .3.1 सांख्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

सांख्य दर्शन सर्वप्राचीन आस्तिक दर्शन है। इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं । सांख्य का अर्थ है तत्वों की गणना व तत्व का ज्ञान। सांख्य का व्युत्पत्ति परक अर्थ है **संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्वानि येन तत् सांख्यम्** अर्थात जिसमे तत्वों की संख्या गिनी जाती है वह सांख्य है। सांख्य का दूसरा व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। संख्यायते प्रकृतिपुरूषान्यताख्यातिरूपोऽवबोधो सम्यक् ज्ञायते येन तत् संख्यम् अर्थात जिसमे प्रकृति एवं पुरूष का अन्यताख्याति रूप विवेक ज्ञान होता है वह सांख्य है। महाभारत के अनुसार तत्वों की गणना और तत्वज्ञान दोनों ही सांख्य है।

संख्या प्रकुर्वते चैव, प्रकृति´च प्रचक्षते ।

तत्वानि च चतुर्विंशत, तेन सांख्यं प्रकीर्तितम् ।।

सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरूष सृष्टि प्रक्रिया, मोक्ष, अज्ञान, आदि का विचार मिलता है। यह सत्य है कि सांख्य का सुव्यवस्थित रूप बाद में बना किन्तु इसके बहुत से सिद्धान्तों की चर्चा वेद उपनिषद, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता तथा पुराणों में मिलती है। ऋग्वेद का पुरूष सूक्त सृष्टि की आध्यात्मिक व्याख्या करता है तो वहीं वाक् सूक्त शक्ति से सृष्टि की व्याख्या करता है। नासदीय सूक्त के तम् असीत तमसा गूढमग्रेप्रकेतं (ऋग्वेद 10.129.3) में सांख्य के अव्यक्त का संकेत मिलता है, यही से साख्य के विचारों के प्रस्फुटित होने का संकेत डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र ने माना है।

उपनिषदों में तो सांख्य दर्शन में स्वीकृत बहुत से तत्वों का संकेत मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद में सांख्य के अव्यक्त आदि तत्वों का वर्णन है जैसे - **देवात्म शक्तिं स्वगुर्णैनिगूढाम्, पंचाशत् भेदां पंचपर्वामधीमः, व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः, तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः, अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां, मायां प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्** । श्वेताश्वतर में ही सर्वप्रथम कपिल ऋषि का नाम आया है- **ऋषिं प्रसूतं कपिलस्तमग्रे1। 521 कठोपनिषद्2** में भी सांख्य के तत्वों का संकेत है।

सत्कार्यवाद का बीज वृहदारण्यक में मिलता है। इसके अतिरिक्त महाभारत में सांख्य से सम्बन्धित आचार्य परम्परा एवं सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। श्रीमद्भगवत् गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलों पर सांख्य योग की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त सांख्य के सिद्धान्त भागवत्, सौर, सूर्य, लिंग, विष्णु तथा देवी भागवत् पुराणों में भी मिलते हैं।

अब आप सांख्य के प्रारम्भिक बीज कहां -कहां प्रस्फुटित हुए और इस विषय से परिचित हो गये होंगे। आगे सांख्य की आचार्य परम्परा और साहित्य पर प्रकाश डाला जायेगा।

यह सर्व स्वीकृत है कि महर्षि कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक है। इन्हे व्रह्मा का पुत्र, अग्नि का अवतार, और नारायण का अवतार, बताया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है- सिद्धानां कपिलो मुनिः इन्हें सिद्धेश, निर्माणचित्त का आश्रय लेकर पवित्र सांख्य का उपदेश करने वाला आदिविद्वान् कहा जाता है। डॉ सुरेशचन्द श्रीवास्तव के अनुसार पिशंग वस्त्र धारण करना कदाचित् कपिल के नामकरण का भी एक कारण हो, क्योंकि कपिल और पिशंग शब्द पर्यायवाची है। इन्होने निर्माणचित्त का आश्रय लेकर आसुरि को पवित्र सांख्य ज्ञानात्मक तंत्र का उपदेश किया। आज भी विश्व दार्शनिक समुदाय कपिल के स्थापित सिद्धान्तों के सामने नतमस्तक है। क्योंकि वे दर्शन के कई अंगो यथा तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा व नीति मीमांसा को दर्शन का अनिवार्य अंग मानें। आज भी यही तीनों अंग दर्शन के आधारभूत अवयव माने जाते हैं। तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा व नीतिमीमांसा को सर्वप्रथम प्रस्तुत करके इन्होने दर्शन जगत का बहुत ही उपकार किया है। आचार्य कपिल के नाम से कई ग्रन्थों को कुछ लोग जोड़ते हैं जैसे सांख्यप्रवचनसूत्र और तत्वसमास। सांख्यप्रवचनसूत्र किसी परवर्ती आचार्य की रचना है। तत्वसमास को कुछ विद्वान कपिल की रचना मानते हैं और कुछ इसे दूसरे आचार्य की रचना मानते हैं

आचार्य कपिल के बाद उनके शिष्य आसुरि का नाम सांख्याचार्य के रूप में मिलता है। माठर वृत्ति के अनुसार अत्यन्त ही कारूण्य भाव से बार-बार आग्रह करके गृहस्थ धर्म में आसक्त आसुरि को कपिल ने अपना शिष्य बनाया और उन्हे पवित्र तंत्र (सांख्यशास्त्र) का उपदेश किया।

आसुरि ने पंचशिख को अपना शिष्य बनाया। इन्हे पांचरात्रविशारद कहा गया है। इन्होने आसुरि से प्राप्त सांख्य को षष्टितन्त्र में प्रकाशित किया और बहुत से शिष्यों को उसे पढ़ाया। पंचशिख के द्वारा लिखा गया षष्टितंत्र नामक ग्रन्थ आज नहीं मिलता है किन्तु पंचशिख के विचार परवर्ती ग्रन्थों में मिलते है। उनमें कुछ इस प्रकार है - 1. **स्यात् स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवर्म्ष .... (तत्व कौमुदी) 2. एकमेव दर्शनं ख्यातिमेव दर्शनम्योगसूत्र।**

पंचशिख के अनन्तर जैगीषव्य का नाम मिलता है। जैगीषव्य परम योगी थे इन्होने उमा और महेश को भी योग का प्रदर्शन कर आश्चर्य चकित किया था। इसके अतिरिक्त वार्षगण्य, विन्ध्यवास असितदेवल आदि को भी सांख्याचार्य के रूप में माना गया। वार्षगण्य के बाद प्रसिद्ध सांख्याचार्य के रूप में ईश्वरकृष्ण का ही उल्लेख मिलता है इन्हें कपिल के द्वारा उपदिष्ट मूल सांख्यीय विचार धारा का अनुयायी माना जाता है। इन्होने सांख्यकारिका नामक प्रमुख ग्रन्थ लिखा जिसके ऊपर वर्तमान सांख्य दर्शन का स्वरूप अवलम्बित है। स्वयं ईश्वरकृष्ण ने कहा है मैनें पवित्र सांख्य का संकलन आख्यायिका आदि से रहित सांख्यकारिका में किया है। इसमें कुल 72/73 कारिकायें हैं।

सांख्यकारिका को सांख्यसप्तति, हिरण्यसप्तति, कनकसप्तति, सुवर्णसप्तति भी कहा जाता है।इसी ग्रन्थ पर आधृत सांख्य के स्वरूप से हम परिचित हैं। शंकराचार्य ने सांख्य का खण्डन करते समय सांख्यकारिका से उद्धरण दिये हैं। सांख्यकारिका पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, जयमंगला, तत्वकौमुदी युक्तिदीपिका आदि प्राचीन टीकाएँ है। इस ग्रन्थ पर कुछ नवीन टीकाएँ भी हैं जैसे बालराम उदासीन की विद्व्ततोषिणी, वंशीधर मिश्र का साख्यतत्वदिवाकर, श्रीकृष्णबल्लभाचार्य की किरणावली, शिवनारायणशास्त्री की सारबोधिनी, हरीराम शुक्ल की सुषमा, डॉ0 आद्याप्रसाद मिश्र की सांख्य तत्व कौमुदीप्रभा (हिन्दी में) आदि। इनके अतिरिक्त सांख्यसूत्रवृत्ति, महादेव का सांख्यसूत्रविस्तर, नागेश की लघुसांख्यसूत्रवृत्ति, विज्ञानभिक्षु का साख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसारः इत्यादि ग्रन्थ भी सांख्य से सम्बन्धित ग्रन्थ है।

1.3.2 सांख्य दर्शन की तत्वमीमांसा

आप सांख्य दर्शन के अर्थ, आचार्य परम्परा व साहित्य आदि से भलीभाँति परिचित हो गये होगें। अब सांख्य दर्शन की तत्वमीमांसा पर विचार किया जायेगा। सांख्य की तत्वमीमांसा का वर्णन करने के पहले तत्वमीमांसा का अर्थ जानना उचित होगा।

तत्वमीमांसा का अर्थ - दर्शन का मौलिक स्वरूप तत्वविषयक है। दार्शनिक मूल तत्व की समस्या पर विचार करते हैं। मौलिक तत्व की संख्या कितनी है। एक है या अनेक है। मौलिक तत्व का स्वरूप

चेतन है अचेतन। मूल तत्व के साथ एक और भी प्रश्न जुड़ा हुआ है। यदि तत्व मौलिक है। तो सम्पूर्ण सृष्टि उसी से हुई है। दूसरे शब्दों में सृष्टि मूल तत्व की कृति है। अतः सृष्टि विचार भी तत्वमीमांसा से सम्बन्धित है। मान लिया जाय कि सृष्टि कार्य है। तो इसका कर्ता अवश्य होगा। इस सृष्टिकर्ता को प्रायः ईश्वर कहते है। अतः ईश्वर विचार भी तत्वमीमांसा से सम्बन्धित है। इस प्रकार तत्वों की संख्या, स्वरूप, सृष्टि प्रक्रिया और ईश्वर विचार ही तत्वमीमांसा है।

1.3.2.1 सांख्य स्वीकृत तत्वों की संख्या –

सांख्य दर्शन में स्वीकृत तत्वों की संख्या का संकेत करते हुए गौडपाद कहते है-

पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र तत्र आश्रमे वसन् ।

जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।

अर्थात जिस किसी भी आश्रम में निवास करने वाला जटाधारी, सिर मुड़ायें रहने वाला और शिखा धारण करने वाला 25 तत्वों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसमें संदेह नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन 25 तत्वों को स्वीकार करता है। ये तत्व हैं- प्रकृति, महान, अहंकार 11 इन्द्रियां, 5 तन्मात्र, 5 महाभूत। इन्हीं पच्चीस तत्वों को व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ में ईश्वकृष्ण ने अन्तर्भूत किया है, और इन्हीं के तत्वज्ञान से उत्पन्न कैवल्य को त्रिविध दुःख शमन का आत्यंतिक व एकांतिक उपाय बताया है1। अव्यक्त तत्व प्रकृति है। और ज्ञ तत्व पुरूष है। इनपर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा हैं। इन्ही 25 तत्वों को अविकृति, प्रकृति विकृति, विकृति, न प्रकृति न विकृति के चार विभाग में दिखाया गया है2।

प्रकृति अविकृति तत्व है यह एक है। प्रकृति विकृति और विकृति ये कुल 23 तत्व हैं। और ये प्रकृति के परिणाम विशेष हैं। ज्ञ तत्व पुरूष हैं। यह अनेक है। इनमें स्वरूपगत एकता एवं संख्यागत भिन्नता है। चूँकि प्रकृति और पुरूष के संयोग से 23 व्यक्त तत्व उत्पन्न होते हैं। अतः इन 23 तत्वों के स्वरूप का प्रतिपादन सृष्टि प्रक्रिया को बतलाते हुए किया जायेगा। चूँकि व्यक्त प्रकृति के परिणाम हैं। अतः प्रकृति और पुरूष ही दो मूल तत्व हैं। इन्ही दो मूल तत्वों को स्वीकार करने के कारण सांख्य दर्शन को द्वैतवादी दर्शन कहते है। दो मूल तत्वों की संख्या स्वीकार करना ही द्वैतवाद है। सांख्य के अनुसार तत्व और उसके परिणाम सभी यथार्थ हैं। अतः यह यथार्थवादी दर्शन है।

1.3.2.2 सांख्य सम्मत मूल तत्वों का स्वरूप व सिद्धि-

चूँकि प्रकृति और पुरूष ये दो ही मूल तत्व हैं। अतएव इन के स्वरूप व सिद्धि पर विचार करना युक्ति संगत होगा। सांख्य सम्मत प्रकृति तत्व स्वरूप व सिद्धि - प्रकृति का अर्थ है प्रकरोति इति प्रकृतिः प्रकृष्ट सर्जनात्मक शक्ति ही प्रकृति है। अव्यक्त, प्रधान और माया इसके अपर पर्याय है। समस्त कार्य इसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते है अतः इसे अव्यक्त कहते हैं। **प्रकर्षेण धीयते**

अवस्थाप्यते अत्राखिलम् इति प्रधानम्1 अर्थात् सम्पूर्ण कार्य समूह जिसमें प्रकृष्ट रूप से अवस्थित हो जाता हैं। वह प्रधान है। **देवी भागवत2** के अनुसार प्रकृति में प्र शब्द और कृति शब्द है। प्रशब्द का अर्थ है- प्रकृष्ट और कृति का अर्थ है सृष्टि जो सृष्टि करने में मूल तत्व है। वही प्रकृति है। प्र,कृ, और ति सत्व, रजस एवं तमो गुण के बोधक हैं। अतः त्रिगुणात्मिका शक्ति प्रकृति है। वही प्रकृति है। प्र शब्द प्रथम का वाचक है कृति-सृष्टि का वाचक है अतः जो सृष्टि का आदि कारण है वही प्रकृति है।

प्रकृति अन्य कारण से अनुत्पन्न है अतः अकारण है। नश्वर नहीं होने से नित्य है। कार्याें में व्याप्त रहने से व्यापक है। एक है। आश्रय है क्योंकि कार्य इसी में आश्रय लेते है। अन्य कहीं लीन न होने से अलिंग है। निरवयव है। स्वतन्त्र है। त्रिगुणात्मिका है। अविवेकी है। भोग्य होने से विषय है। सर्वसाधारण होने से सामान्य है। सुख-दुःख एवं मोह को नही जानती है अतः अचेतन है। जड़ है। नित्यपरिणामी है। प्रकृति में प्रलयावस्था में गुणों में सरूपरिणाम और सृष्टि की बेला में विरूपपरिणाम होते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। इसकी उपलब्धि इसके कार्यो से होती है। इसकी सत्ता सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सिद्ध होती है। प्रकृति ही पुरूष का कैवल्य सम्पन्न करती है। प्रकृति उपकारिणी है। गुणवती है। विभिन्न आश्रयों वाली प्रकृति ही बँधती, संसरण करती एवं छूटती है। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। गुण का अर्थ है दूसरे के लिए होना, रज्जु होना, गौड होना इन तीनों ही अर्थों में सत्व, रजस् तमस् गुण हैं। ये प्रकृति के संरचनात्मक तत्व है। प्रकृति और गुणों में तद्रूपता है। चन्द्रधर शर्मा के अनुसार तीनों गुण प्रकृति के निर्माणक व संघटक तत्व हैं।

सत्वगुण –

सत्व गुण का स्वरूप सुखात्मक है। इसका प्रयोजन विषयों को प्रकाशित करना है। यह लघु है। इसका रंग श्वेत है। इसके उत्कट होने पर सरलता सत्य पवित्रता क्षमा धैर्य अनुकम्पा लज्जा शान्ति संतोष और सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है। अंग हल्के होते हैं। इन्द्रियों में निर्मलता होती है। वे विषयों को प्रकाशित करती हैं। धर्म में सदैव प्रीति होती है। **रजोगुण** – रजोगुण का स्वरूप दुखात्मक है। क्रियाशील रहते हुए दूसरे गुणों को उत्तेजित करना इसका प्रयोजन है। इसका रंग लाल है। जब यह प्रबल होता है तो उत्कंठा अनिद्रा राजसी श्रद्धा द्वेष द्रोह मत्सर स्तम्भ मान मद गर्व उत्पन्न होता है। रजोगुण की प्रबलता से चित्त अस्थिर होता है।

तमोगुण - तमोगुण का स्वरूप मोहात्मक है। नियमन करना इसका प्रयोजन है। वह भारी और अवरोधक है। इसका रंग कृष्ण है। इससे विषाद उत्पन्न होता है। इसके प्रबल होने पर आलस्य अज्ञान निद्रा दीनता भय विवाद कायरता कुटिलता रोष वैषम्य अतिनास्तिकता, दूसरों के दोषमात्र देखने की प्रवृत्ति, दूसरों को पीड़ित करने की प्रवृत्ति होती है।

गुणों का व्यापार- गुणों का व्यापार निम्न वाक्यांश में वर्णित है।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च

तीनो गुण परस्पर एक दूसरे को तिरस्कृत करने वाले हो कर ही अपने प्रयोजन को करते हैं जैसे सत्वगुण तमोगुण व रजोगुण को अभिभूत करके ही विषयों को प्रकाशित करता है ऐसे ही रजोगुण और तमोगुण भी अन्य दोनो गुणों को अभिभूत करके अपने प्रयोजन को पूरा करते है।

गुण एक दूसरे क आश्रय बनने वाले होते है। जब विषयों का प्रकाशन होता है तो वह तमोगुण और रजो गुण पर अवलम्बित होता है ऐसे ही अन्य गुणो की क्रिया अन्य दूसरे पर अवलम्बित होती है। तीनों गुण एक दूसरे के परिणाम सहकारी हैं। गुण परस्पर अपेक्षा रखते हुए प्रलयावस्था मे प्रकृति मे सरूपरिणाम (जनन) उत्पन्न करते है। ये परस्पर मिथुन भाव से रहते है ये परस्पर सहयोगी है जैसे स्त्री पुरूष मिलकर अपने प्रयोजनो को पूरा करते हैं ठीक वैसे ही गुण भी परस्पर सहायक होकर ही अपना प्रयोजन पूरा करते हैं। जैसा कि कहा गया हे-

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।

रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः।।

तमसश्चापि मिथुने ते सत्वरजसी उभे।

उभयोः सत्व रजसोर्मिथुनं तम उच्यते।।

नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते।।देवीभागवत्

गुण एक दूसरे की वृत्ति को उत्पन्न करते हैं अन्योन्यवृत्तिः जनयन्ति इति माठरः) जैसे कोई जैसे कोई नय विनम्रता विश्वास चतुरा स्त्री भातृ बन्धु व पति को सुखी करती है वही सौतों मे दुःख एवं मोह को उत्पन्न करती है। इस प्रकार सत्व गुण के द्वारा रजो गुण व तमो गुण की वृत्ति उत्पन्न की जाती है, ऐसे ही अन्य दोनो गुण भी अन्य दोनों के व्यापार को उत्पन्न करते है। भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता मे इसका संकेत किया है- गुणा गुणेषु वर्तन्ते।

सांख्यकारिका में प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पांच हेतुओं को दिया गया है। जो निम्न कारिका में हैं।

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।।का0.15।।

भेदानां परिमाणात्- महदआदि कार्यों के सीमित होने से अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इस संसार के पदार्थ सीमित परतंत्र अव्यापक और अनेक हैं। ये असीमित स्वतंत्र व्यापक और एक की ओर संकेत करते हैं। जैसे बुद्धि अहंकार 11 इन्द्रियां 5 तन्मात्र 5 महाभूत सीमित परतंत्र अव्यापक और अनेक हैं इनका जो कारण है वह असीमित स्वतंत्र व्यापक और एक होना चाहिए

वह कारण है अव्यक्त।

समन्वयात् - संसार के सभी पदार्थ सुखात्मक दुखात्मक और मोहात्मक हैं इन सभी कार्यों के मूल कारण में भी इस त्रिगुणात्मक स्वभाव का होना आवश्यक है। इनका मूल कारण अव्यक्त है जो त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार तीनो गुणों के स्वरूप का समन्वय प्रकृति में होने से उसका अस्तित्व सिद्ध है।

शक्तितः प्रवृत्तेः - शक्ति से प्रवृत्त होने से अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध होता है। व्यक्त आदि कार्य शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। शक्ति आश्रयहीना नहीं होती है। उस शक्ति का आश्रय अव्यक्त है। लोक में जिस व्यक्ति में जैसा कार्य करने की शक्ति होती है वैसे ही कार्य को करता है ठीक ऐसे ही सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति केवल प्रकृति में ही है। अतः उसका अस्तित्व सिद्ध है।

कारणकार्यविभागात् - करोति इति कारणं क्रियते इति कार्यं तयोर्विभागः तस्मात् जो करता है वह कारण है और जो किया जाय वह कार्य कहा जाता है, चूँकि कारण अलग होता है और कार्य अलग होता है इससे भी प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड कारण है और घट कार्य है क्योंकि वही मधु जल दुग्ध आदि ग्रहण करने मे समर्थ है न कि मिट्टी का पिण्ड। इसी तरह से व्यक्त और अव्यक्त में भी भेद है ,व्यक्त कार्य अलग हैं और अव्यक्त प्रधान व्यक्त से भिन्न कारण है अतः अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध है ।

वैश्वरूप्यस्य अविभागात् - विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यम् बहुरूपम् इति अर्थः तस्य विश्वरूपता का भाव ही वैश्वरूप्य है। वैश्वरूप्य का अर्थ है बहुरूपता उसके अविभक्त रूप में अन्तर्भूत होने के कारण प्रधान का अस्तित्व सिद्ध है। प्रलयकाल में त्रैलोक्य 5 महाभूतों में अभिन्न बन जाता है । 5 महाभूत 5 तन्मात्राओं मे अभिन्न बन जाते हैं। पंच तन्मात्र और 11 इन्द्रियां अहंकार में , अहंकार बुद्धि में और वह अव्यक्त में अविभक्त बन जाती हैं। इस प्रकार तीनो लोक प्रलयकाल में प्रकृति में अविभक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। सभी कार्य समूह के प्रकृष्ट रूप से अवस्थित होने के कारण अव्यक्त को प्रधान कहते हैं। माठरवृत्ति कहती है- **प्रकर्षेण धीयते अवस्थाप्यते अत्राखिलमिति प्रधानम्**। इस अविभाग के कारण प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

सांख्य सम्मत पुरूष का स्वरूप अस्तित्व व बहुत्व सिद्धि - आप प्रकृति के स्वरूप गुण और प्रकृति की सिद्धि से परिचित हो चुके हैं। अब सांख्य सम्मत पुरूष तत्व का विवेचन किया जायेगा ।

पुरूष ज्ञ आत्मा पर्याय है। पुरूष न तो प्रकृति है न विकृति है। यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होता है। अतः विकृति अर्थात कार्य नहीं है। और इससे अन्य कोई उत्पन्न ही नहीं होता है अतः यह किसी दूसरे का कारण भी नहीं है। अतएव यह न तो प्रकृति है न विकृति। पुरूष कार्य एवं कारण से अतीत है। पुरूष निर्गुण विवेकी भोक्ता असाधारण चेतन अपरिणामी है। पुरूष अहेतुमत् नित्य

व्यापक निष्क्रिय अनेक आश्रय अलिंग निरवयव और स्वतंत्र तत्व है। पुरूष वस्तुतः साक्षी द्रष्टा अकर्ता और उदासीन है, जो पुरूष का स्वरूप धर्म है। संसारी अवस्था में प्रकृति से संयुक्त होने से यह कर्ता और भोक्ता सा प्रतीत होता है। यह सत् चित् है। वन्धन अवस्था में इसे सुख और दुःख का अभिघात सहना पड़ता है। जब तक कैवल्य नहीं हो जाता है। तब तक उसे सुख-दुःख भोगना पड़ता है। पुरूष अनुपकारी है। प्रकृति के द्वारा इसका कैवल्य सम्पन्न होता है।

पुरूष सूक्ष्म तत्व है। इसकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। पुरूष की सत्ता सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने निम्न कारिका में पांच हेतुओं को दिया है ।

सड्.घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविषययादधिष्ठानात्।
पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्,कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च ।। का0.17।।

पुरूषः अस्ति अर्थात पुरूष है, इसके अस्तित्व के साधक हेतु हैं-

सड्.घातपरार्थत्वात्

जो यह महदादि सघात पदार्थ है वह पुरूष के लिए है ऐसा अनुमान किया जाता है। क्योकि संघात पदार्थ अचेतन है अतःवे पर्यंक् की तरह दूसरे के लिए है और भी यह शरीर पंचमहाभूतो का संघात है।यह भोग्य शरीर जिसके लिए है वह पुरूष है।

त्रिगुणादिविपर्ययाद्

त्रिगुण,अविवेकि विषय सामान्य अचेतन परिणाम धर्म सावयव,परतंत्र से विपरीत धर्मो वाला होने से पुरूष का अस्तित्व सिद्ध है। व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो ही मे ये सरूप धर्म है-त्रिगुण अविवेकि विषय,सामान्य परिणाम समान धर्म है। त्रिगुण निर्गुण का अविवेकी, विवेकी का,और विषय अविषय का ,सामान्य असामान्य का तथा चेतन अचेतन का परिणाम अपरिणाम का निर्देश करता है। ये व्यक्त एवं अव्यक्त के विपरीत धर्म जिसमे है वह तत्व पुरूष है।

अधिष्ठानात्-संचालक होने के कारण भी पुरूष का अस्तित्व है। व्यक्त और अव्यक्त सभी त्रिगुणात्मक होने से जड़ हैं। वे स्वयं अपना संचालन नही कर सकते है। उसके संचालक के रूप में पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है। जैसे- संसार मे लंघन धावन क्रिया मे समर्थ अश्वो से युक्त रथ सारथी के द्वारा प्रेरित होता है वैसे ही यह अचेतन शरीर भी पुरूष के द्वारा प्रेरित होता है। गीता भी कहती है।

.... **हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।यही रहस्य पंचशिख ने ष्ष्टितन्त्र मे निर्दिष्ट किया है ।**

पुरूषाधिष्ठितं प्रधानं प्रर्वतते ।

4.भोक्तृभावात्

भोक्ता का भाव हो के कारण भी पुरूष का अस्तित्व सिद्धि होता है। व्यक्त और अव्यक्त विषय और सामान्य है। भोग्य होने के कारण विषय है । मूल्यदासी वत् होने के कारण सामान्य है। इन भोग्य

पदार्थो को भोक्ता की अपेक्षा होती है। वह भोक्ता पुरूष है जैसे षड्रस समन्ति व्यंजन भोग्य है उसके भोक्ता के रूप मे यज्ञदत्त कि सिद्धि होती है। ऐसे ही महदादि लिङ्.ग स्वयं अपने भोक्ता नही है ये भोग्य है ।इनके भोक्ता के रूप मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च

कैवल्य के लिए प्रवृत्त होने से भी पुरूष की अलग सत्ता सिद्ध होती है। कैवल्य का अर्थ है दुःख का आत्यन्तिकशमन। यतः शास्त्र कैवल्य का प्रतिपादन करते है और लोग इसे पाना चाहते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि पुरूष है जो मुक्ति चाहता है।

अद्वैत वेदान्त एकात्मवाद का सिद्धान्त मानता है। किन्तु सांख्य दर्शन बहुत से पुरूषों की सत्ता स्वीकार करता है। इसके अनुसार पुरूषों में स्वरूपगत एकता किन्तु संख्यागत बहुत्व है।पुरूष बहुत्व को सिद्ध करने के लिए सांख्यकारिका में पांच हेतु दिये गए हैं -

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च

पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। का0 18

पुरूषबहुत्वं सिद्धम अर्थात् पुरूष बहुत से हैं यह सिद्ध है। इसके सिद्धि के हेतु हैं -

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् –

जन्म मृत्यु तथा इन्द्रियों की प्रत्येक जीव के साथ अलग-अलग व्यवस्था होने के कारण पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक होती तो एक ही जीव के जन्म से सभी जीवों का जन्म हो जाता। लेकिन हम देखते हैं कि एक ही जीव के जन्म के साथ सभी जीवों का जन्म नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है। इसी तरह से प्रत्येक जीव की मृत्यु भी अलग-अलग होती है। ऐसा नहीं है कि यदि एक की मृत्यु हो जाय तो सभी मर जायँ। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है। इसी तरह से प्रत्येक जीव के साथ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के बीच अलग-अलग व्यवस्था देखने को मिलती है। यदि आत्मा एक ही होती तो एक जीव के अन्धे होने पर सभी जीव अन्धे हो जाते। एक ही जीव के पंगु होने पर सभी जीव पंगु हो जाते। किन्तु ऐसा लोक में दिखाई नहीं पड़ता है। अतएव यह मानना युक्ति संगत है कि जीव एक नहीं अनेक हैं। इस अंश में पुरूष बहुत्व के साधक तीन हेतु जन्म की व्यवस्था, मृत्यु की अलग-अलग व्यवस्था और इन्द्रियों की अलग-अलग व्यवस्था को बताया गया है।

अयुग्पद्प्रवृत्तेश्च- और सभी जीवों के एक ही साथ सदृश कार्यो में प्रवृत्त न होने से भी पुरूष का बहुत्व सिद्ध होता है। यदि आत्म तत्व एक होता तो सभी जीवों की क्रियाओं में सादृश्य दिखाई पड़ता, किन्तु हम देखते हैं कि सभी जीव एक ही साथ एक ही कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं कुछ जीव

धर्म में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ अधर्म में। कुछ जीव वैराग्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव आसक्ति में लगे होते हैं। कुछ जीव ऐश्वर्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव अनैश्वर्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है पुरूष एक नहीं है बल्कि अनेक है।

त्रैगुण्यविपर्ययात् च तीनों गुणों के परिणाम सुख दुःख मोह में विपर्यय दिखाई पड़ने से पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक हो तो सभी जीवों को एक ही साथ सुखी एक ही साथ दुखी अथवा एक ही साथ मोहयुक्त होना चाहिए, किन्तु हम देखते हैं समान जन्म होने पर भी सात्विक पुरूष सुखी, राजसी दुखी तथा तामसी व्यक्ति मोहयुक्त होता है। इस कारण यही मानना युक्तिसंगत है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।

1.3.2.3 सांख्य सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया पर विचार करना अपेक्षित है। सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रकृति पुरूष सम्बन्ध व सृष्टि क्रम पर विचार किया जायेगा।

प्रकृति पुरूष सम्बन्ध – सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है प्रकृति एवं पुरूष के सम्बन्ध से प्रकृति में गुणक्षोभ होता है। और सरूप परिणाम वाली प्रकृति निरूप परिणाम वाली होकर व्यक्त का प्रसव करती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और परिणामी है। पुरूष तत्व निर्गुण विवेकी भोक्ता असाधारण चेतन और अपरिणामी है। प्रकृति अचेतन है। और क्रियाशील है। पुरूष चेतन है। और निष्क्रिय है। दोनों में संयोग के कारण अचेतन प्रकृति के विकार महत आदि में चैतन्य भास होता है। और प्रकृति में कर्तृत्व आदि की प्रतीति। प्रकृति जो अचेतन है तथा पुरूष जो चेतन है। दोनों का संयोग क्यों होता है। इसपर सांख्य कारिका में कहा गया है-

पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत् कृतः सर्ग ।। का0-21

पुरूष द्वारा प्रधान को देखने के लिए और प्रधान द्वारा पुरूष का कैवल्य कराने के लिए लंगड़े व अन्धे की तरह दोनो का संयोग होता है। उन दोनो के संयोग का फल सृष्टि है। पुरूष का प्रकृति के साथ जो संयोग है वह प्रकृति को देखने के लिए होता है। प्रकृति महत् से महाभूत पर्यन्त जो सृष्टि है उसे पुरूष देखता है। और प्रकृति का पुरूष के साथ जो संयोग है। वह पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराने के लिए है। इन दोनों का सम्बन्ध पंगु और अँधे की तरह से होता है। पुरूष पंगु है और प्रकृति अँधी है। जैसे गमन करने में असमर्थ पंगु एवं देखने में असमर्थ अँधा व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्तकर वियुक्त हो जाते हैं। वैसे ही क्रिया रहित दर्शन शक्ति वाले पुरूष और क्रियावती किन्तु दर्शन शक्ति रहित प्रकृति भी अपने अपने दर्शन और कैवल्य रूप प्रयोजन को सम्पन्न करके वियुक्त हो जाते है। प्रकृति और पुरूष का सम्बन्ध सप्रयोजन है। सोद्देश्य है। संयोग का अर्थ वाचस्पति के अनुसार प्रकृति और पुरूष

की सन्निधि है। डॉ संगम लाल पाण्डेय के अनुसार जब तक पुरूष और प्रकृति का विवेक नहीं हो जाता तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेक प्राप्ति के लिए पुरूष को प्रकृति की आवश्यकता है। पुरूष और प्रकृति की आवश्यकताओं में भोगों में एकता है। पुरूष जिस विवेक को चाहता है। उसी को प्रकृति भी चाहती है। इसी कारण दोनों का संयोग होता है1। प्रकृति और पुरूष दोनों एक दूसरे का उद्देश्य पूरा करते है। चेतनाशून्य दूध बछड़े के पोषण के लिए गाय के शरीर से प्रस्रवित होता है, वैसे ही ज्ञानशून्य (अचेतन) प्रकृति का परिणाम पुरूष के कैवल्य के लिए है2 प्रकृति और पुरूष का संयोग अनादि है। यह देश और काल में घटित होने वाला नहीं है। प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए यह उदाहरण भी दिया जाता है- जैसे चुम्बक के सन्निधि मात्र से ही लोहे के टुकड़ों में गतिशीलता होती है। ठीक ऐसे ही पुरूष की सन्निधि मात्र से ही प्रकृति विरूप परिणाम वाली होती है।

1. **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण पृष्ठ 231 2. सांख्यकारिका 57**

पुरूष का सम्बन्ध विशेष रूप से प्रकृति के परिणाम बुद्धि से होता है। लेकिन इस सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट करना कठिन है। बुद्धि करणों में सूक्ष्म है। इसी में पुरूष की छाया पड़ती है। जिसके कारण बुद्धि चेतनावति हो जाती है। और वह पुरूष स्वरूपा हो जाती है। ऐसी बुद्धि पुरूष के लिए भोग को उत्पनन करती है। बुद्धि के द्वारा ही पुरूष सुख-दुःख मोहात्मक संसार से भोक्ता या साक्षी के रूप में जुड़ता है। जो बुद्धि प्रकृति का भोग सम्पन्न करती है वही बुद्धि अन्त में प्रकृति और पुरूष का विभेद ज्ञान भी उत्पन्न करती है1। बुद्ध और पुरूष के सम्बन्ध का निरूपण भी जटिल है पुरूष और लिंग शरीर का संयोग देश और काल में घटित होने वाला नहीं है किन्तु दोनों में संयोग के अनन्तर अचेतन लिंग शरीर चेतन सा हो जाता है और निष्क्रिय पुरूष कर्ता और भोक्ता सा हो जाता है। सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरूष के संयोग की संतोष जनक व्याख्या नहीं की है। ऐसा विद्वानों का मत है। प्रकृति और पुरूष का संयोग सोद्देश्य है। और इन दोनों के संयोग का फल है सृष्टि। जब तक प्रकृति और पुरूष का संयोग रहता है। तब तक सृष्टि की स्थिति रहती है। दोनों का वियोग होने पर प्रलय की स्थिति होती है।

सृष्टिक्रम - प्रकृति एवं पुरूष के संयोग का फल है सृष्टि । गुणक्षोभ होने पर प्रकृति में विरूप परिणाम होता है। तब प्रकृति से महत्, उससे अंहकार, अहंकार से 11 इन्द्रियां और पांच तन्मात्र , और पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। चूकि ये 23 तत्व निश्चित क्रम से ही उत्पन्न है। अतः उनपर उसी क्रम से वर्णन किया जायेगा।

महत् तत्व - यह प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्व है। मति ख्याति प्रत्यय उपलब्धि और प्रज्ञा पर्याय है। यह विश्व का बीज है। समष्टि रूप में इसे महत् कहते है। व्यष्टि रूप में बुद्धि । का इसका स्वरूप अध्यवसाय है। सामने दिखलाई पड़ने वाला व्यक्ति राम ही हैं। ऐसा निश्चय अध्यवसाय है।

अध्यवसाय करने वाला तत्व बुद्धि है। बुद्धि के सात्विक और तामस दो रूप है। सात्विक बुद्धि के चार अंग है- धर्म ज्ञान विराग और ऐश्वर्य । तामस बुद्धि के भी चार अंग हैं- अधर्म अज्ञान राग और अनैश्वर्य इस प्रकार बुद्धि आठ अंगों वाली है। धर्म से उर्ध्व लोक की प्राप्ति होती है। अधर्म से अधोगति होती है। ज्ञान से अपवर्ग होता है। और अज्ञान से बन्धन होता है वैराग्य से प्रकृति लय की अवस्था होती है। रजोमय राग से संसरण होता है। एश्वर्य से इच्दा की सफलता तथा अनैश्वर्य से इच्छाओं का हनन होता है। बुद्धि पुरूष के लिए सभी विषयों के भोग का संपादन करती है। और वही प्रकृति और पुरूा का ज्ञान ही भेद सम्पन्न करती है। विपर्यय अशक्ति तुष्टि सिद्धि ये प्रत्यय सर्ग हैं। विपर्यय के पांच भेद हैं। 28 भेद अशक्ति के हैं। त्रुष्टि के 9 भेद हैं सिद्धि के 8 भेद है। इस प्रकार प्रत्यय सर्ग के कुल 50 भेद है।

अहंकार तत्व:- महत् से उत्पन्न होने वाला तत्व अहंकार है। अहंकार को अभिमान कहते हैं। रूप आदि विषयों में अभिमान अहंकार है। जैसे मैं रूपवान हूँ ये विषय मेरे लिण् है मैं इसे करने में असमर्थ हूँ यह सब अभिमान है। और ये सब अहंकार के असाधारण धर्म है। अहंकार के तीन भेद है। 1. सात्विक अहंकार- इसे वैकृत अहंकार कहते हैं। 2 तामस अहंकार- जिसे भूतादि अहंकार कहते हैं।

1. सांख्यकारिका 37

3. **राजस अहंकार** इसे तैजस भी कहते हैं। अहंकार से दो तरह की सृष्टि होती है। सात्विक अहंकार से 11 इन्द्रियों का समूह उत्पन्न होता है। तथा तामस अहंकार से 5 तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। सात्विक और तामस अहंकार का सहयोगी राजस अहंकार है।

11 इन्द्रिय तत्व - सात्विक अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। इन्द्रिय का अर्थ माठर के अनुसार विषयों में द्रवित होने वाले तत्वों से है। इन्द्रियां तीन तरह की हैं - 1. ज्ञानेन्द्रिया, 2.कर्मेन्द्रियाँ और 3. उभयेन्द्रिय मन। ज्ञानेन्द्रिया पांच है- श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण । श्रोत्र शब्दका, त्वचा स्पर्श का, नेत्र रूप का, जिह्वा रस का और घ्राण गन्ध का आलोचन करती है। कर्म इन्द्रियाँ 5 है वाक्, पाणि, पाद्, पायु उपस्थ । इनका व्यपार क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, विसर्जन करना और रमण करना है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां एवं पांच कर्मेन्द्रियां मिलकर दस वाह्येन्द्रियां कही जाती है। इन्हे बाह्त्करण भी कहते हैं। उभयेन्द्रिय मन है जो अन्तरिन्द्रिय है। यह उभ्यात्मक है। इसका व्यापार संकल्प और विकल्प है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है- इन्द्रियाणां मनश्चास्मि । महत् अहंकार और मन को अन्तः करण कहते है। ज्ञानेन्द्रियों और अन्तः करण की ज्ञान में बड़ी भूमिका है । अन्तःकरण ही मुख्य हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ अमुख्य ।

पंच तन्मात्र:- तामस अहंकार से 5 तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। तन्मात्र का अर्थ सूक्ष्म है। यह प्रत्यक्ष नहीं होते है। अनुमान के विषय हैं। ये हैं - शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र । तन्मात्र अविशेष कहे जाते हैं।

पंच महाभूत:- पंच तन्मात्रों से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। शब्द तन्मात्र से अकाश महाभूत उत्पन्न होता है। उसमें शब्द गुण होता है। शब्दतन्मात्रसहित स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होता है। उसमें शब्द और स्पर्श गुण होते हैं। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहित रूप तन्मात्र से अग्नि उत्पन्न होता है। उसमें शब्द, स्पर्श और रूपगुण होते हैं। शब्दस्पर्शरूपसहित रस तन्मात्र से जल उत्पन्न होता है। उसमें शब्द स्पर्श रूप और रस गुण होता है। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहित गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इसमंे शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध गुण होता है। ये महाभूत शान्त घोर मूढ होते हैं। ये विशेष कहे जाते हैं। ये प्रत्यक्ष के विषय हैं। महत से अहंकार मन श्रवण त्वक नेत्र जिह्वा और नासिका वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी ये सब व्यक्त पदार्थ हैं। ये सभी व्यक्त पदार्थ प्रकृति के समान भी हैं और असमान भी हैं। प्रकृति जैसे त्रिगुणात्मिका, अविवेकी, विषय, सामान्य अचेतन और नित्यपरिणामी है वैसे ही ये व्यक्त भी सुख दुःख मोहात्मक अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और परिणामी तत्व हैं। जहाँ प्रकृति अहेतुमत नित्य प्रवेश और निःसरण रहित आश्रय स्वतन्त्र निरवयव और अलिंग एक है वहीं ये व्यक्त आदि हेतुमत अनित्य सक्रिय परतन्त्र आश्रित सावयव लिंग और अनेक हैं। इन व्यक्त पदार्थों में बुद्धि अहंकार मन और पाँच तन्मात्रायें प्रकृति और विकृति दोनों हैं जबकि एकादश इन्द्रियाँ और पंचमहाभूत केवल कार्य हैं। प्रकृति अविकृति तत्व है। पुरूष न तो प्रकृति है न तो विकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार इन्हीं पच्चीस तत्वों का खेल पूरी सृष्टि है।सृष्टि इन्ही तत्वों का परिणाम है। सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया विकासवादी चक्रिय और सप्रयोजन है यह विकासवादी प्रक्रिया 25 तत्वों का खेल है जो खेल प्रकृति से प्रारम्भ होकर महाभूतों तक समाप्त हो जाता है और पुरूष इसमें द्रष्टा है।

1.3.2.4 सांख्य का ईश्वर विषयक विचार -

सांख्य दर्शन के ईश्वर कृष्णीय स्वरूप में ईश्वर के विषय में कुछ भी संकेत नहीं मिलता है। ईश्वर के विषय में ईश्वरकृष्ण मौन हैं। कपिलउपदिष्ट सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता था। किन्तु बौद्धों के प्रभाव से सांख्य दर्शन निरीश्वर वादी हो गया ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। परवर्ती सांख्याचार्य विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर के अस्तित्व को माना है। सांख्य ने प्रकृति और पुरूष के संयोग में ईश्वर के भूमिका को नहीं माना है। सांख्य के समान तन्त्र योगदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और वह पुरूष विशेष ही है।

अभ्यास प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक हैं -

(a) ईश्वरकृष्ण (b) आसुरि

(c) पंचशिख (d) कपिल

2. कपिल ने तंत्र का उपदेश किया -

(a) ईश्वरकृष्ण (b) आसुरि

(c) पंचशिख (d) कपिल

3. कपिल का नाम सर्वप्रथम कहां मिलता है -

(a) कठोपनिषद् (b) ऋग्वेद

(c) श्वेताश्वतर उपनिषद् (d) महाभारत

4. सांख्य का अर्थ है -

(a) तत्वों की गणना (b) विवेकज्ञान

(b) उपर्युक्त दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

5. षष्टितंत्र रचना है-

(a) ईश्वरकृष्ण की (b) आसुरि की

(c) पंचशिख की (d) कपिल की

6. सांख्यकारिका किसकी रचना है -

(a) ईश्वरकृष्ण (b) आसुरि

(c) माठर (d) गौड़पाद

7. माठर वृत्ति टीका का है -

(a) तत्व समास पर (b) न्यायसूत्र की

(c) ष्ष्टितंत्र की (d) सांख्यकारिका की

8. तत्वमीमांसा का अर्थ है -

(a) ज्ञान का विचार (a) नीति का विचार

(c) तत्वों की संख्या स्वरूप आदि विचार (d) इनमें से कोई नहीं

9. सांख्य कुल कितने तत्वों को स्वीकार करता है -

(a) 23 (b) 24

(c) 25 (d) 20

10. सांख्य कुल कितने मूल तत्व स्वीकार करता है -

(a) 1 (b) 2

(c) 3 (d) इनमें से कोई नहीं

11. गुणों की साम्यावस्था है -

(a) प्रकृति (a) व्यक्त

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

12. अहेतुमत् तत्व हैं -

(a) केवल प्रकृति (b) केवल पुरूष

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

13. चेतन तत्व है -

(a) पुरूष (b) प्रकृति

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

14. प्रकृति में गुणक्षोभ होता है -

(a) काल से (a) ईश्वर से

(c) पुरूष संयोग से (d) इनमें से कोई नहीं

15. सांख्य पंगु अन्ध न्याय से प्रकृति पुरूष संयोग की व्याख्या करता है यह कथन है -

(a) सत्य (b) असत्य

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

16. प्रकृति से साक्षात् उत्पन्न तत्व है -

(a) ज्ञानेन्द्रियाँ (b) अहंकार

(c) महत (d) इनमें से कोई नहीं

17. अहंकार से उत्पन्न होता है-

(a) 11 इन्द्रियाँ (b) 5 तन्मात्राएँ

(c) दोनों (d) महाभूत

18. निश्चय करने वाला तत्व है -

(a) बुद्धि (b) मन

(c) अहंकार (d) कोई नहीं

19. पुरूष के विषय में असत्य है -

(a) पुरूषों में संख्यागत बहुत्व है। (b) पुरूषों में स्वरूपगत एकता है।

(c) पुरूष त्रिगुणात्मक है। (d) इनमें से कोई नहीं ।

20. आत्मा का बहुत्व मानता है -

(a) सांख्य (b) अद्वैत वेदान्त

(c) दोनों (c) इनमें से कोई नहीं

21. निम्न में महाभूत है-

(a) आकाश (b) रूप

(c) गंध (d) स्पर्श

22. निम्न में तन्मात्र है -

(a) आकाश (b) पृथ्वी

(c) वायु (d) रूप

23. तन्मात्र का अर्थ है -

(a) सूक्ष्म (b) स्थूल

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

24. वाचस्पति के अनुसार संयोग का अर्थ सन्निधि है यह कथन है -

(a) सत्य (b) असत्य

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं

1.4 सारांश -

दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ वेदों में ही मिलता है। किन्तु उसे सुव्यवस्थित रूप देकर सर्वप्रथम कपिल ने ही सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया। जा आसुरि पंचशिख जैगीषव्य और वार्षगण्य आदि के द्वारा विस्तार को प्राप्त किया । आज सांख्य के जिस स्वरूप से हम परिचित हैं। वह चिन्तन ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका पर आधारित है। सांख्य में अपनी तत्वमीमांसा में प्रकृति और पुरूष इन दो मूल तत्वों को स्वीकार किया है। प्रकृति सहित उसके परिणाम महत आदि मिलकर 24 हैं। इस प्रकार कुल तत्वों की संख्या 25 है। प्रकृति और पुरूष में समान और असमान धर्म हैं। प्रकृति की सिद्धि पांच हेतुओं से और पुरूष की अस्तित्व की सिद्धि व बहुत्व की सिद्धि पांच-पंाच हेतुओं से की गई है। प्रकृति और पुरूष के सप्रयोजन संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति से महत उससे 11 इन्द्रिया $ 5 तन्मात्र, 5 तनमात्रों से पांच महाभूत उत्पन्न होते है। उत्तरवर्तीसृष्टि इन्हीविकारोंकाखेल है। सांख्य दर्शन पहले ईश्वरवादी था किन्तु ईश्वकृष्णीय सांख्य ईश्वर के विषय में मौन है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

तत्वमीमांसा- तत्वों की संख्या स्वरूप सृष्टि प्रक्रिया और ईश्वर विचार ही तत्वमीमांसा है।

प्रकृति- सृजनकारिणी त्रिगुणात्मिका मूल शक्ति।

पुरूष- निर्गुण चेतन साक्षी द्रष्टा कैवल्य उदासीन तत्व।

मोक्ष- बन्धन से छुटकारा दुःखों का एकान्तिक व आत्यन्तिक शमन कैवल्य की प्राप्ति।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. d 2. c 3.c 4.c 5.c 6.a

7.d क	8.c	9.c	10.b	11.a	12.c
13.a	14.c	15.a	16.c	17.c	18.a
19.c	20.a	21.a	22.d	23.a	24.a

1.7. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-1

1. भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, लेखक- डा. चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पुनर्मुद्रण- दिल्ली 1991

2 भारतीयदर्शन की रुपरेखा, लेखक- डा. बद्रीनाथ सिंह, प्रकाशक- आशा प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2003

3. भारतीय दर्शन, लेखक- चटर्जी एवं दत्त, प्रकाशक- पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाऊसपटना,तृतीय संस्करण 1994

4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, लेखक- संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक- सेन्ट्रल पटिलशिंग हाऊस, इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002

5. भारतीय दर्शन (द्वितीय खण्ड), लेखक- डा. राधाकृष्णन्, प्रकाशक- राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1986

6. देवीभागवतपुराण मूल संस्कृत गीता प्रेस गोरखपुर

7. योगदर्शनम व्याख्याकार डा0 सुरेशचन्द श्रीवास्तव चौखम्भा संस्कृत भवन वाराणसी

1.8. सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के लिए आप अग्रलिखित पुस्तकों का उपयोग कर सकते है-

1. **साख्यतत्वकौमुदीप्रभा**- ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पति मिश्र कृत तत्वकौमुदी की हिन्दी व्याख्या- व्याख्याकार- डा. आद्या प्रसाद मिश्र, प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद, मुद्रक- शुभ चिन्तक प्रेस इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 1994

2. **भारतीय दर्शन**, आलोचन और अनुशीलन, लेखक- डा. चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पुनर्मुद्रण- दिल्ली 1991

3**. भारतीय दर्शन की रुपरेखा**, लेखक- डा. बद्रीनाथ सिंह, प्रकाशक- आशा प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2003

4. **भारतीय दर्शन**, लेखक- चटर्जी एवं दत्त, प्रकाशक- पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाऊस पटना, तृतीय संस्करण 1994

5. **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण**, लेखक- संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक- सेन्ट्रल पटिलशिंग हाऊस, इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002

6. **भारतीय दर्शन (द्वितीय खण्ड), लेखक**- डा. राधाकृष्णन्, प्रकाशक- राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1986

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1- प्रकृति का स्वरूप अस्तित्व सिद्धि पर प्रकाश डालिए ?

प्रश्न 2- पुरूष का स्वरूप व अस्तित्व सिद्धि पर प्रकाश डालिये ?

प्रश्न3- प्रकृति पुरूष सम्बन्ध और सृष्टि प्रक्रिया समझाइए ?

इकाई-2 दुःखत्रय का स्वरूप, सत्कार्यवाद पुरूषबहुत्व प्रकृति पुरूष सम्बन्ध मोक्ष का स्वरूप

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3. सांख्य योग के प्रतिपाद्य-दुःखत्रय का स्वरूप, सत्कार्यवाद पुरूष बहुत्व , प्रकृति पुरूष सम्बन्ध, मोक्ष का स्वरूप

- 2.3.1 दुःखत्रय का स्वरूप
- 2.3.2 सत्कार्यवाद
- 2.3.3. पुरूष बहुत्व
- 2.3.4 प्रकृति पुरूष सम्बन्ध
- 2.3.5 मोक्ष का स्वरूप

2.4 सारांश

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सांख्य दर्शन के प्रतिपाद्य दुःखत्रय का स्वरूप, सत्कार्यवाद, पुरूष बहुत्व प्रकृति पुरूष सम्बन्ध और मोझ का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। दुःख रजोगुण का परिणाम विशेष है। सुख भी वस्तुतः दुःख ही है। दुःख के आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन भेद हैं। इनका स्वरूप अलग-अलग है, सांख्य का कारण विषयक सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। सांख्य सत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए तर्क भी देता है। चेतन तत्व पुरुष है। वह एक नहीं अनेक है। इसे सिद्ध करने के लिए भी युक्तियाँ देता है। प्रकृति और पुरुष परस्पर भिन्न तत्व हैं। इन्हीं दो तत्वों के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति और पुरूष दोनों भिन्न धर्मात्मक हैं तो इन दोनों का सम्बन्ध अर्थात् संयोग कैसे होता है, क्यों होता है इस संयोग का क्या आशय है ? इसे भी इस इकाई में बताया गया है। प्रकृति और पुरूष के संयोग से ही सृष्टि भी होती है। लेकिन इस इकाई में प्रकृति पुरूष संयोग से होने वाली सृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। यतः प्रथम इकाई में यह बताया गया है कि तत्वों का स्वरूप तत्वों की संख्या सृष्टि प्रक्रिया और ईश्वर ये सब तत्वमीमांसा के विषय हैं। अतः इस इकाई में प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध का ही विचार किया गया है। सांख्य दर्शन का प्रयोजन मोक्ष है। मोक्ष दुःख की आत्यंतिक और एकांतिक निवृत्ति है। अतः इसका स्वरूप मोक्ष में प्रकृति की भूमिका जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों पर प्रकाश डाला गया है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न तथ्यों से अवगत हो सकेंगे-

- सांख्य की दुःख विषयक अवधारणा व दुःख का भेद,
- सांख्य का कारणता विषयक सिद्धान्त का स्वरूप व सिद्धि के हेतु,
- पुरूष का बहुत्व साधक हेतु,
- प्रकृति और पुरूष का सप्रयोजन सम्बन्ध,
- सांख्य सम्मत मोक्ष का स्वरूप आदि।

2.3 दुःखत्रय का स्वरूप, सत्कार्यवाद पुरूष बहुत्व, प्रकृति पुरूष सम्बन्ध, मोक्ष का स्वरूप

आस्तिक वैदिक दर्शनों में सांख्य सबसे प्राचीन है। इसमें दुःख का स्वरूप, तत्वों की संख्या, स्वरूप, ज्ञान मीमांसा कारणता विषयक सिद्धान्त सृष्टि प्रक्रिया, बन्धन व मोक्ष का प्रतिपादन है इस इकाई के विभिन्न प्रतिपाद्यों को खण्ड विभाग पूर्वक आगे वर्णित किया जायेगा।

2.3.1 दुखत्रय का स्वरूप

साख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दुःखमय है। हम विभिन्न प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं। लेकिन दुःख क्या है ? दुःख का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- दुःखयति इति दुःखम्। पतंजलि ने कहा है प्रतिकूल वेदनीयता ही दुःख है। जो अपने लिए अप्रीतिकर हो वही दुःख है। न्याय के अनुसार तो 'बाधना लक्षणम् दुःखं' अर्थात परिताप ही दुःख है। दुःख सुख का अभाव नही है बल्कि यह वास्तविक रूप से अनुभूयमान है इसके प्रति विर्कषण की भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन मे रहती है। दुःख रजोगुण का परिणाम विशेष है। दुःख तो अप्रीतिकर है ही वस्तुतः अनुभूयमान सुख भी परिणाम संस्कार और ताप दुःखता के कारण दुःख ही है। सर्वं दुःखं विवेकिनः। दुःख के भेद का उल्लेख ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका के प्रथम कारिकांश में ही सांख्य शास्त्र की अर्थवत्ता का प्रतिपादन करते हुए संकेत किया है।

दुखःत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदपधातके हेतौ अर्थात् दुःख त्रिविध हैं और उनका अभिघात जीव मात्र को होता है। अतएव उन तीनों दुःखों के आत्यन्तिक व एकान्तिक समाधान के साधन की जिज्ञासा होती है। ये तीन दुःख हैं- 1. आध्यात्मिक, 2. आधिभौतिक, 3. आधिदैविक।

1. आध्यात्मिक दुख- वह दुःख है जो शरीर और मन में होता है और आन्तरिक उपाय साध्य होता है। इस दुःख के दो भेद हैं- 1. शारीरिक व 2. मानसिक। वात, पित्त और कफ के वैषम्य से उत्पन्न ज्वर अतिसार आदि शारीरिक दुःख है। प्रिय वस्तु के वियोग एवं अप्रिय के संयोग से उत्पन्न होने वाले दुःख को मानसिक कहते हैं। व्याधि शारीरिक दुःख है और आधि मानसिक दुःख है।

2. आधिभौतिक दुःख- वह दुःख जो मनुष्य पशु, पक्षी, सरीसृप, दंश, मच्छर, जूँ,खटमल, मछली, मकर, ग्राह और स्थावर से उत्पन्न होता है। यह दःुख जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज इन चतुर्विध सृष्टि से उत्पन्न होता है।

3. **आधिदैविक दुःख**- वह दुःख है जो दैव (देवताओं अथवा द्युलोक) के कारण होता है। ये है शीत, वर्षा, बज्रपातादि । तत्वकौमुदी के अनुसार- यक्ष राक्षस विनायक ग्रह आदि के द्वारा उत्पन्न दुःख आधिदैविक दुःख है ।

सांख्य दर्शन केवल दुःखों को ही नहीं बताता है चूँकि दुःख हेय हैं अतः उनके प्रहाण के लिए लौकिक व वैदिक दोनों ही उपायों की दुःखों के ऐकान्तिक व आत्यन्तिक शमन में असमर्थता सिद्ध करके कैवल्य का प्रतिपादन करता है।

2.3.2 सत्कार्यवाद

कारणता सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है। इसमें कारण कार्य का स्वरूप व सम्बन्ध पर विचार किया जाता है। कारणता सिद्धान्त मानता है कार्य उत्तरवर्ती होता है और कार्य का स्वरूप अलग

होता है। दोनों से अलग-अलग तरह के प्रयोजन सिद्ध होते हैं। उत्पत्ति के पहले कारण और कार्य में क्या सम्बन्ध है इससे सम्बन्धित तीन प्रश्न उठते हैं। क्या कार्य उत्पत्ति के पहले कारण में सत् है ? क्या असत् है ? क्या सत् और असत् दोनों है ? इन प्रश्नों के समाधानार्थ भारतीय दर्शन मे कई सिद्धान्त मिलते हैं। जो मानते है कि कार्य उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् है वे सत्कार्यवादी कहे जाते हैं। जो यह मानते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पहले कार्य में असत् है उन्हें असत्कार्यवादी कहते हैं और जो यह मानते हैं कि कार्य कारण में सत् और असत् दोनों होता है उन्हें सदसत्कार्यवादी कहा जाता है। सत्कार्यवाद को सांख्ययोग और वेदान्त स्वीकार करते हैं। जो र्दशन कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण में असत् मानते हैं। वे असत्कार्यवादी हैं। न्याय व वैशेषिक दर्शन असत् कार्यवाद मानते हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन असत्कार्यवाद के आरम्भवादी स्वरूप को मानता है। इनके अनुसार कारण से अलग कार्य सम्पन्न होता है और कार्य से अलग प्रयोजन पूरे होते हैं तथा उत्पत्ति और व्यय कार्य में दिखाई पड़ता है। कार्य एक नवीन सृष्टि है। बौद्ध दर्शन क्षणभंगवाद को मानता है। जैन दर्शन सदसत्कार्यवादी है। जैन दर्शन स्याद्वाद से सदसत् कार्यवाद को सिद्ध करता है।

सांख्य सम्मत सत्कार्यवाद का स्वरूप-

सांख्य दर्शन के अनुसार जैसे कार्य उत्पत्ति के बाद सत् होता है ठीक वैसे ही यह उत्पत्ति के पहले भी कार्य कारण में सत् होता है। यह मानता है कि सत् से ही सत् उत्पन्न होता है। कारण कि कार्य के रूप में परिणति है। न कि नवीन सृष्टि। जैसे- दूध कारण है और दही कार्य है। दही दूध का परिणाम है। व्यक्त आदि कार्य हैं और प्रकृति कारण है। कार्य कारण से तात्विक रूप से भिन्न नहीं है बल्कि वह कारण की ही परिणति है। इसी से कारण के ही गुण वाले कार्य होते हैं। यदि कार्य कारण में पहले से ही मौजूद है ? तो कारणावस्था और कार्य में क्या अन्तर है ? कारण में विद्यमान कार्य अनभिव्यक्त होता है और परिणति के बाद व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार वह सिद्धान्त जो उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य को सत् मानता है वह सत् कार्यवाद कहलाता है। सत्कार्यवाद का प्रयोजन प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि है। इसके दो रूप हैं- 1.परिणामवाद, 2. विवर्तवाद । सांख्य प्रकृति परिणामवाद को मानता है। और विशिष्टाद्वैत दर्शन व्रह्म परिणामवाद को मानता है ।

सांख्यकारिका सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए 5 हेतुओं को उपन्यस्त करती है-
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। का09
कार्यं सत् - उत्पत्ति के पहले कार्य कारण मे विद्यमान रहता है ।
असदकरणात्-अर्थात् जो वस्तु अनस्तित्व वाला होता है उसे किसी भी कारण से उत्पन्न नही किया जा सकता है। जैसे आकाश पुष्प असत् है उसे किसी कारण से नही उत्पन्न किया जा सकता है और करोड़ो शिल्पी मिलकर नीले रंग को पीला नही वना सकते है।अतः जैसे उत्पत्ति के बाद कार्य सत् होता है ठीक वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य कारण में सत् होता है।

उपादानग्रहणात्- यतः कार्य की उत्पत्ति के लिए सम्बन्धित उपादान का ग्रहण किया जाता है। यह लोक सिद्ध है कि जो व्यक्ति जिस कार्य को चाहता है वह उससे संम्बन्धित उपादान कारण का ग्रहण करता है,जैसे दही को प्राप्त करने के लिए दूध को ही ग्रहण करता है। इससे सिद्ध है कि कार्य उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् है।

सर्वसम्भवाभावात्-यतः सभी कार्यांे की सभी कारणो से उत्पत्ति नही होती है अतः यह भी सिद्ध करता है कि कार्य कारण में उत्पत्ति के पहले से ही मौजूद रहता है। जैसे-सुवर्ण की रजत् ,तृण,धूल,और बालू से उत्पत्ति नही होती है।

शक्तस्य शक्यकरणात्- यतः जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति मे शक्त अर्थात समर्थ होता है उससे उसी शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है।अतः सिद्ध होता है कि कार्य कारण मे सत् है, जैसे शक्य तेल,घट,पट, को उत्पन्न करने में क्रमशः तिल ,मृत्तिका और तन्तु ही समर्थ हैं।

कारणभावाच्च-यतः कार्य कारणात्मक होता है जो लक्षण कारण का होता है वही लक्षण कार्य का भी होता है। यह सिद्ध करता है कि कार्य कारण मे पहले से विद्यमान है जैसे जौ से जौ ही उत्पन्न होता है,धान से धान ही उत्पन्न होता है,गेहूँ से गेहूँ उत्पन्न होता है।

2.3.3 पुरूष बहुत्व

प्रथम इकाई में पुरूष के स्वरूप उसके अस्तित्व की सिद्धि और बहुत्व का प्रतिपादन किया गया है वहीं से इस पुरूष के बहुत्व को सिद्ध करने के हेतुओं को यहाँ दिखाया जा रहा है। पुरूष अकारण नित्य व्यापक, निष्क्रिय, आश्रय, अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन, अपरिणामी तत्व है। वह न तो प्रकृति है न विकृति है। विभिन्न दर्शनों में पुरूष के संख्या विषयक विचार अलग-अलग मिलते हैं। अद्वैत वेदान्त दर्शन आत्मा को अद्वय मानता है। किन्तु सांख्य दर्शन पुरुषकी सत्ता एक नहीं अनेक मानता है। सभी पुरूष तात्विक रूप ससमानहैं।किन्तुउनमें संख्यागत भेद है। पुरूष बहुत हैं यह सिद्धान्त पुरूष बहुत्व सिद्धान्त है। पुरूष बहुत्व को सिद्ध करने के लिए ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका में हेतुओं को दिया है-

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च

पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। का0 18

पुरूष बहुत हैं इसके निम्न पाँच हेतु हैं-

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद्

जन्म मृत्यु तथा इन्द्रियों की प्रत्येक जीव के साथ अलग-अलग व्यवस्था होने के कारण पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक होती तो एक ही जीव के जन्म से सभी जीवों का जन्म हो जाता। लेकिन हम

देखते हैं कि एक ही जीव के जन्म के साथ सभी जीवों का जन्म नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है। इसी तरह से प्रत्येक जीव की मृत्यु भी अलग-अलग होती है। ऐसा नहीं है कि यदि एक की मृत्यु हो जाय तो सभी मर जायँ। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है। इसी तरह से प्रत्येक जीव के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ के बीच अलग-अलग व्यवस्था देखने को मिलती है। यदि आत्मा एक ही होती तो एक जीव के अन्धे होने पर सभी जीव अन्धे हो जाते। एक ही जीव के पंगु होने पर सभी जीव पंगु हो जाते। किन्तु ऐसा लोक में दिखाई नहीं पड़ता है। अतएव यह मानना युक्ति संगत है कि जीव एक नहीं अनेक हैं। इस अंश में पुरूष बहुत्व के साधक तीन हेतु जन्म की व्यवस्था, मृत्यु की अलग-अलग व्यवस्था और इन्द्रियों की अलग-अलग व्यवस्था को बताया गया है।

अयुग्पद्प्रवृत्तेश्च

और सभी जीवों के एक ही साथ सदृश कार्यों में प्रवृत्त न होने से भी पुरूष का बहुत्व सिद्ध होता है। यदि आत्म तत्व एक होता तो सभी जीवों की क्रियाओं में सादृश्य दिखाई पड़ता, किन्तु हम देखते हैं कि सभी जीव एक ही साथ एक ही कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं कुछ जीव धर्म मेंप्रवृत्त होते हैं तो कुछ अधर्म में। कुछ जीव वैराग्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव आसक्ति में लगे होते हैं। कुछ जीव ऐश्वर्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव अनैश्वर्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है पुरूष एक नहीं है बल्कि अनेक है।

त्रैगुण्यविपर्ययात् च

तीनों गुणों के परिणाम सुख दुःख मोह में विपर्यय दिखाई पड़ने से पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक हो तो सभी जीवों को एक ही साथ सुखी एक ही साथ दुखी अथवा एक ही साथ मोहयुक्त होना चाहिए, किन्तु हम देखते हैं समान जन्म होने पर भी सात्विक पुरूष सुखी, राजसी दुखी तथा तामसी व्यक्ति मोहयुक्त होता। इस कारण यही मानना युक्तिसंगत है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।इस प्रकार यह सिद्ध है पुरूष बहुत हैं।

2.3.4. प्रकृति पुरूष सम्बन्ध

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है प्रकृति एवं पुरूष के सम्बन्ध से प्रकृति में गुणक्षोभ होता है। और सरूप परिणाम वाली प्रकृति विरूप परिणाम वाली होकर व्यक्त का प्रसव करती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और परिणामी है। पुरूष तत्व निर्गुण विवेकी भोक्ता असाधारण चेतन और अपरिणामी है। प्रकृति अचेतन और क्रियाशील है। पुरूष चेतन और निष्क्रिय है। दोनों में संयोग के कारण अचेतन प्रकृति के विकार महत् आदि में चैतन्य भास होता है और पुरूष में कर्तृत्व आदि की प्रतीति। प्रकृति जो अचेतन है तथा पुरूष जो चेतन है। दोनों का संयोग क्यों होता है। इसपर सांख्य कारिका में कहा गया है-

पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत् कृतः सर्ग।। का0-21

पुरूष द्वारा प्रधान को देखने के लिए और प्रधान द्वारा पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराने के लिए लंगड़े व अन्धे की तरह दोनो का संयोग होता है। उन दोनो के संयोग का फल सृष्टि है। पुरूष का प्रकृति के साथ जो संयोग है वह प्रकृति को देखने के लिए होता है। प्रकृति महत् से महाभूत पर्यन्त जो सृष्टि है उसे पुरूष देखता है। और प्रकृति का पुरूष के साथ जो संयोग है। वह पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराने के लिए है। इन दोनों का सम्बन्ध पंगु और अँधे की तरह से होता है। पुरूष पंगु है और प्रकृति अँधी है। जैसे गमन करने में असमर्थ पंगु एवं देखने में असमर्थ अँधा व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्तकर वियुक्त हो जाते हैं। वैसे ही क्रिया रहित दर्शन शक्ति वाले पुरूष और क्रियावती किन्तु दर्शन शक्ति रहित प्रकृति भी अपने अपने दर्शन और कैवल्य रूप प्रयोजन को सम्पन्न करके वियुक्त हो जाते है। प्रकृति और पुरूष का सम्बन्ध सप्रयोजन है। सोद्देश्य है। संयोग का अर्थ वाचस्पति के अनुसार प्रकृति और पुरूष की सन्निधि है। डॉ संगम लाल पाण्डेय के अनुसार जब तक पुरूष और प्रकृति का विवेक नहीं हो जाता तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेक प्राप्ति के लिए पुरूष को प्रकृति की आवश्यकता है। पुरूष और प्रकृति की आवश्यकताओं में भोगों में एकता है। पुरूष जिस विवेक को चाहता है। उसी को प्रकृति भी चाहती है। इसी कारण दोनों का संयोग होता है1। प्रकृति और पुरूष दोनों एक दूसरे का उद्देश्य पूरा करते है। चेतनाशून्य

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण पृ0 231

दूध बछड़े के पोषण के लिए गाय के शरीर से प्रस्रवित होता है, वैसे ही ज्ञानशून्य (अचेतन) प्रकृति का परिणाम पुरूष के कैवल्य के लिए है1। प्रकृति और पुरूष का संयोग अनादि है। यह देश और काल में घटित होने वाला नहीं है। प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए यह उदाहरण भी दिया जाता है- जैसे चुम्बक के सन्निधि मात्र से ही लोहे के टुकड़ों में गतिशीलता होती है। ठीक ऐसे ही पुरूष की सन्निधि मात्र से ही प्रकृति विरूप परिणाम वाली होती है।

पुरूष का सम्बन्ध विशेष रूप से प्रकृति के परिणाम बुद्धि से होता है। लेकिन इस सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट करना कठिन है। बुद्धि करणों में सूक्ष्म है। इसी में पुरूष की छाया पड़ती है। जिसके कारण बुद्धि चेतनावति हो जाती है। और वह पुरूष स्वरूपा हो जाती है। ऐसी बुद्धि पुरूष के लिए भोग को उत्पनन करती है। बुद्धि के द्वारा ही पुरूष सुख-दुःख मोहात्मक संसार से भोक्ता या साक्षी के रूप में जुड़ता है। जो बुद्धि प्रकृति का भोग सम्पन्न करती है वही बुद्धि अन्त में प्रकृति और पुरूष का विभेद ज्ञान भी उत्पन्न करती है2। बुद्ध और पुरूष के सम्बन्ध का निरूपण भी जटिल है पुरूष और लिंग शरीर का संयोग देश और काल में घटित होने वाला नहीं है किन्तु दोनों संयोग के अनन्तर अचेतन लिंग शरीर चेतन सा हो जाता है और निष्क्रिय पुरूष कर्ता और भोक्ता सा हो जाता है।

सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरूष के संयोग की संतोष जनक व्याख्या नहीं कर सका है। प्रकृति और पुरूष का संयोग सोद्देश्य है। और इन दोनों के संयोग का फल है सृष्टि। जब तक प्रकृति और पुरूष का संयोग रहता है। तब तक सृष्टि की स्थिति रहती है। दोनों का वियोग होने पर प्रलय की स्थिति होती है।

2.3.5. मोक्ष का स्वरुप

मोक्ष कैवल्य, अपवर्ग, समानार्थी मुच धातु से बना है जिसका अर्थ है बन्धन से छुटकारा। बन्धन जन्म हैं। मोक्ष शब्द और मरण का अनवरत चक्र है जिसमें पड़कर जीव संसार में सदा दुःख भोगता रहता है। दुःखों का आत्यन्तिक शमन ही मोक्ष है। पुरुष साक्षी, उदासीन, निर्गुण तथा नित्य कैवल्य प्राप्त है किन्तु अज्ञान के कारण बुद्धि प्रतिबिम्बित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादाम्य में स्थापित कर लेता है जिससे वह अन्तः करण वच्छिन्न चैतन्य के रुप में प्रतीत होने लगता है और अपने को कर्ता, भोक्ता व संसारी समझने लगता है और इसी अवस्था में वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखों को भोगने लगता है। यह सब अज्ञान के कारण होता है। अज्ञान से पुरुष का बन्धन होता है। पुरूष ही ज्ञ तत्व है। उसका शरीर में पड़े रहन ही बन्धन है। बन्धन से ही जीव को सुख-दुःख आदि भोगां े की प्राप्ति होती है। बन्धन तीन प्रकार का होता है- प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिणिक। प्रकृति को आत्मा समझकर उसी की उपासना से उसी में लीन हो जाना प्राकृतिक वन्धन है। प्रकृति के विकारों को आत्मा समझकर उनकी उपासना कर उन्ही में लीन हो जाना वैकृतिक वन्धन है। इष्ट तथा पूर्त कर्मो से दाक्षिणिक वन्धन होता है। इन बन्धनों में पड़े रहने वाले जीव मुक्त   नही होते है। बल्कि पुनः जन्म आदि को प्राप्त कर सुखी-दुःखी होते हैं। मोक्ष दुःखों का आत्यन्तिक व एकान्तिक शमन है। वह लौकिक और वैदिक उपायों से नही होता है। दुःख का आत्यन्तिक शमन तो व्यक्त, अव्यक्त ज्ञ के विवेकख्याति के द्वारा होता है। विवेकख्याति को केवल ज्ञान के नाम से भी जाना जाता है। इस विवेकख्याति से अपवर्ग होता है जो दुःखातीतावस्था के साथ-साथ सुखातीतावस्था भी है। केवल ज्ञान से उत्पन्न होने से इसे कैवल्य भी कहते हैं। यह कैवल्य तत्वों के अभ्यास से होता है जिसका स्वरुप सांख्यकारिका में प्रतिपादित है।

...........नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।

अविपर्यायाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। कारिका 64

अर्थात मैं कर्ता नही हूँ (नास्मि)। यह शरीर मेरा नही है (न मे)। मै प्रकृति नही हूँ (नास्मि)। यह केवल ज्ञान भ्रमादि रहित विशुद्ध ज्ञान है। विशुद्ध ज्ञान का तात्पर्य है किसी अन्य विपरीत ज्ञान से मिश्रित नही होता। यही रहस्य विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः (योगसूत्रमं संकेतिक है)। सांख्यप्रवचनभाष्य के अनुसार नास्मि से पुरुष में कर्तृत्व का निषेध है, न मे से संग का निषेध है तथा नाऽहम् से तादात्म का निषेध है। इस तत्व ज्ञान से विमल एवं दृष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेकज्ञान के सामर्थ्य से धर्म

अधर्म, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, राग, विराग, इन सात रुपों से रहित अपने सम्बन्ध में परिणाम न उत्पन्न करने वाली प्रकृति को देखता है1 - यह विशुद्ध चैतन्य पुरुष का स्वरुप है यह स्वरुप ज्ञान ही मोक्ष है। इससे सम्पूर्ण दुःख का पूर्णतया शमन हो जाता है। पुरुष निगुर्ण, साक्षी, चेतन रुप में अवस्थित हो जाता है।

मोक्ष में प्रकृति की भूमिका- पुरुष नित्यमुक्त है, किन्तु वह अज्ञान से अपने को वन्धनग्रस्त समझता है, उसका वन्धन शुक के बन्धन जैसा है। वस्तुतः प्रकृति पुरुष का संयोग प्रकृति द्वारा पुरूष का कैवत्य सम्पन्न करने के लिए एवं पुरुष के द्वारा प्रकृति का दर्शन अर्थात् भोग करने के लिए होता है। प्रत्येक पुरुष का कैवल्य सम्पन्न करने के लिए ही प्रकृति प्रवृत्त होती है2। प्रकृति का व्यापार पुरुष को विमुक्त करने के लिए ही होता है। जैसे नर्तकी रंग को अपना नृत्य दिखाकर उपरत हो जाती है वैसे ही प्रकृति भी अपने को पुरुष को दिखाकर उपरत हो जाती है3। गुणवती तथा उपकारिणी प्रकृति प्रत्युपकार विहीन एवं निर्गुण पुरुष का बिना किसी स्वार्थ के ही अनेक उपयों द्वारा मोक्ष सम्पन्न करती है4। प्रकृति अत्यन्त लज्जालू है पुरुष के देखने के बाद वह उसकी दृष्टि में नही आती है5। वन्धन, संसरण और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति का ही होता है6। प्रकृति स्वयं से ही अपने को अपने सात रुपों के द्वारा बांँधती है और अपने एक रुप ज्ञान के द्वारा पुरुष के कैवल्य के लिए स्वयं को मुक्त करती है।

मोक्ष के भेद- सांख्य दर्शन दो तरह की मुक्ति मानता है जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति। जीवन रहते ही विवेकज्ञान होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है और शरीरपात के अनन्तर होने वाली मुक्ति विदेह मुक्ति है। जीवनमुक्ति की अवस्था में प्रारब्धकर्मों के बचे हुए संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किये रहता है जैसे दण्ड से चलाई गई चाक पूर्व उत्पन्न वेग नामक संस्कार से घुमती रहती है1। इस अवस्था में संचित एवं संचीयमान कर्म दग्धबीज हो जाते है। प्रारब्ध का भोग मिलते रहने पर भी पुरुष उसमें वैसे ही निर्लिप्त रहता है जैसे पानी में पड़ा हुआ कमल का पत्ता। शरीरपात के अन्नतर भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्रयोजनों के पूर्व से ही सिद्ध हुए रहने के करण प्रकृति के निवृत्त हो जाने से पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य प्राप्त करता है2। मुक्त हुए पुरूष को परमात्मा कहा जाता है। मुक्ति में क्षय मल और वैषम्य दोष नहीं होता है। यह पूर्ण समता की स्थिति है। इसमें सभी पुरूष एक दूसरे के समान होते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. दुःख के भेद हैं-

(a)आध्यात्मिक (b) आधिभौतिक

(c) आधिदैविक (d) ये सभी

2. शरीर एवं मन में होने वाले दुःख को कहते हैं-

(a)आधिदैविक (b)आधिभौतिक

(c)आध्यात्मिक (d)इनमें से कोई नहीं

3. शारीरिक एवं मानसिक दुःख भेद हैं-

(a)आध्यात्मिक (b)आधिभौतिक

(c)आधिदैविक (d)ये सभी

4. दैवजन्य दुःख है-

(a)आध्यात्मिक (b)आधिभौतिक

(c)आधिदैविक (d) ये सभी

5. सांख्य दर्शन का कारणता विषयक सिद्धान्त है-

(a) असद्कार्यवाद (b) सत्कार्यवाद

(c) दोनों (d) स्वभाववाद

6. सत्कार्यवाद का अर्थ है-

(a) उपत्ति के पूर्व कारण में कार्य का सत् होना।

(b) उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का असत् होना।

(c) उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य का सत और असत् दोनों होना है।
(d) इनमें से कोई नहीं।

7. सतकार्यवाद का प्रयोजन प्रकृति की सिद्धि है.... यह कथन है-

(a) सत्य (b) असत्य

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

8. पुरूष बहुत्व मानता है-

(a) न्याय दर्शन (b) सांख्य दर्शन

(c) बौद्ध दर्शन (d) इनम से कोई नहीं।

9. प्रकृति और पुरूष का सम्बन्ध है-

(a) सप्रयोजन (b) निष्प्रयोजन

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

10. प्रकृति और पुरूष के संयोग से होती है-

(a) प्रलय (b) सृष्टि

(c) दोनों ; (d) इनमें से कोई नहीं।

11. मोक्ष का अर्थ है-

(a) बन्धन से छुटकारा (b) संसरण करना

(c) दोनों (d) कुछ कह नहीं सकते।

12. बन्धन के भेद हैं-

(a) केवल प्राकृतिक (b) केवल वैकृतिक

(c) केवल दाक्षिणिक (d) ये सभी

13. नास्मि, नमे, नाऽहम की अनुभूति है-

(a) विवेकख्याति (b) अविवेकख्याति

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

14. बन्धन, संसरण एवं मोक्ष वस्तुतः होता है-

(a) पु रूष का (b) प्रकृति का

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

15. सांख्य दर्शन मुक्ति के भेद मानता है-

(a) दो (b) तीन

(c) एक (d) इनमें से कोई नहीं।

16. शरीर के रहते ही होने वाली मुक्ति है-

(a) जीवन्मुक्ति (b) विदेहमुक्ति

(c) क्रममुक्ति (d)ये सभी

17. शरीर पात के अनन्तर होता है-

(a) एकान्तिक कैवल्य (b) आत्यन्तिक कैवल्य

(c) दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

18. कैवल्य निष्त्रैगुण्य है.... यह कथन है-

(a) सत्य (b) असत्य

(c)दोनों (d) इनमें से कोई नहीं।

2.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में वर्णित विषयों से आप रिचित हो गये होगें इस पूरी इकाई को संक्षिप्त रुप से हम यों देख सकते हैं। प्रतिकूल, वेदनीय दुःख है।आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक उसके भेद हैं। अनुभूयमान सुख भी विवेकी के लिए दुःख ही है। कार्य उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् होता है यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। यह सांख्य का कारणता विषयक सिद्धान्त है।सत्कार्यवाद की सिद्धि पांच हेतुओं से होती है। पुरुष तत्व निर्गुण, विवेकी, भोक्ता, असामान्य, अलिंग, अपरिणामी, निरवयव तथा नित्य विद्यमान तत्व है। पुरुष में तात्विक एकता किन्तु संख्यागत विभिन्नता है। पुरुष अनेक हैं। पुरुष अनेक हैं जिसकी सिद्धि के पांच हेतु हैं। प्रकृति और पुरूष का संयोग सप्रयोजन है। पुरूष द्वारा प्रकृति का दर्शन करने के लिए और प्रकृति द्वारा पुरूष का कैवल्य सम्पन्न करने के लिए पंगवंधन न्याय से संयोग होता है। संयोग का अर्थ सन्निधि है। दोनों के संयोग से सृष्टि होती है। सांख्य प्रकृत औरपुरूषके सम्बन्ध की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर सका है। वन्धन से छुटकारा ही मोक्ष है इसमें सभी दुःखों का ऐकान्तिक व आत्यन्तिक प्रहाण हो जाता है। पुरुष को नास्मि, न मे, नाऽहम् की अनुभूति होती है उस समय वह विमल व स्वच्छ द्रष्टा की तरहस्थितहोता है।सांख्य जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को मानता है। इस प्रकार सांख्य एकमहत्वपूर्ण दर्शन है जो मानव मात्र के लिए उपयोगी है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. **आध्यात्मिक दुःख**- वह दुःख जो शरीर और मन में होता है।
2. **आधिभौतिक दुःख**- वह दुःख जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज चार प्रकार के भैतिक सृष्टि से होता है।
3. **आधिदैविक दुःख**- वह दुःख जो द्युलोक अथवा देवताओं से उत्पन्न होता है।
4. **सत्कार्यवाद**- कार्य उत्पत्ति के पहले कारण में सत् है इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.d	2.c	3.a	4.c	5.b
6 .a	7 .a	8.b	9.a	10.b
11.a	12.d	13.a	14.b	15.b
16.a	17.b	18.a		

2.7.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, लेखक- डा. चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पुनर्मुद्रण- दिल्ली 1991

भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक- डा. बद्रीनाथ सिंह, प्रकाशक- आशा प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2003

भारतीय दर्शन, लेखक- चटर्जी एवं दत्त, प्रकाशक- पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाऊस पटना, तृतीय संस्करण 1994

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, लेखक- संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक- सेन्ट्रल पटिलशिंग हाऊस, इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002

भारतीय दर्शन (द्वितीय खण्ड), लेखक- डा. राधाकृष्णन्, प्रकाशक- राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1986देवी भागवत मूल संस्कृत गीता प्रेस गोरखपुर।

2.8.सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के लिए आप अग्रलिखित पुस्तकों का उपयोग कर सकते है-

1. **साख्यतत्वकौमुदीप्रभा**- ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पति मिश्र कृत तत्वकौमुदी की हिन्दी व्याख्या- व्याख्याकार- डा. आद्या प्रसाद मिश्र, प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद, मुद्रक- शुभ चिन्तक प्रेस इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 1994

2. भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, लेखक- डा. चन्द्रधर शर्मा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पुनर्मुद्रण- दिल्ली 1991

3. भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक- डा. बद्रीनाथ सिंह, प्रकाशक- आशा प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2003

4. भारतीय दर्शन, लेखक- चटर्जी एवं दत्त, प्रकाशक- पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाऊस पटना, तृतीय संस्करण 1994

5. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, लेखक- संगमलाल पाण्डेय, प्रकाशक- सेन्ट्रल पटिलशिंग हाऊस, इलाहाबाद, चतुर्थ संशोधित संस्करण 2002

6. भारतीय दर्शन (द्वितीय खण्ड), लेखक- डा. राधाकृष्णन्, प्रकाशक- राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1986

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. सांख्य दर्शन के कारणता विषयक सिद्धान्त को समझाइये ?

प्रश्न-2. पुरूष बहुत से हैं सिद्ध कीजिए ?

प्रश्न-3. सांख्य के मोझ विषयक अवधारण पर प्रकाश डालिए ?

इकाई -3 सांख्यकारिका 1 - 10 मूलपाठ,अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 सांख्यकारिका 1-10 मूलपाठ, अर्थ एवं व्याख्या
3.4 सारांश
3.5 पारिभाषिक शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत तृतीय इकाई मे सांख्यकारिका की 1-10 तक की कारिकाओं का मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या की गई है। कारिका प्रथम व द्वितीय मे दुःख के आत्यन्तिक व एकान्तिक समन के साधन विषयक जिज्ञासा और उसके पूर्ण शमन के साधन के रूप मे तत्वज्ञान से उत्पन्न कैवल्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। तृतीय कारिका मे प्रकृति,प्रकृतिविकृति ,विकृति एवं न प्रकृति न विकृति का प्रतिपादन किया गया है। इस कारिका मे तत्वो की संख्या व स्वरूप का निर्देश है।चतुर्थ से सप्तम कारिका पर्यन्त में सांख्य की ज्ञानमीमांसा का विवेचन किया गया है। अष्टम से दशम कारिका पर्यन्त प्रकृति एवं पुरूष की अनुपलब्धि मे सूक्ष्मता की कारणता,सत्कार्यवाद,व्यक्त एवं अव्यक्त के विरूप धर्म प्रतिपादित है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न तथ्यों से परिचित हो जायेंगे-

1. संाख्यशास्त्र दुखत्रय के विनाश का आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक साधन तत्वो के विवेक से उत्पन्न कैवल्य को मानता है।
2. तत्वों की संख्या 25 है और उनको जानने के साधन प्रमाण है और ये प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द ही हैं।
3. प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमाएं क्या हैं।
4. सांख्य का कारणता विषयक सिद्धान्त सत्कार्यवाद है
5. .व्यक्त एवं अव्यक्त मे कौन-कौन सी असमानता है।

3.3 सांख्यकारिका 1-10 मूलपाठ,अर्थ व व्याख्या

दुखःत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा तदपधातके1 हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात्।। का0-1

अन्वय दुःखत्रयाभिघातात्तद्पघातकेहेतौजिज्ञासा(भवति)।दृष्टेसाऽपार्थाचेत्,न,एकान्तात्यन्तोऽभावात्।

अर्थ-त्रिविध दुखः का जीव मात्र से असह्य सम्बन्ध होने से उस (दुःखत्रय) को शान्त करने के उपाय के विषय मे जिज्ञासा होती है । यदि कोइ ऐसा मानता है कि (दुःखशमन) के लौकिक उपायो केहोने पर वह जिज्ञासा व्यर्थ है तो ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है;क्योकि लौकिक उपाय से दुःख की आवश्यक रूप से एवं सदा के लिए शान्ति नही होती है। (अतः वह जिज्ञासा सार्थक है।)

शारदाव्याख्या- श्रीगणपति कछु गुनगन गाऊँ। मातु शारदा सतत मनाऊँ।।

गुरुहनुमन्त चरन रज आँजूँ। जिनकी कृपा शारदा साजूँ।।

परमकृपा पूर्वक अज्ञान सागर मे डूबते हुए जीवांे के कैवल्यार्थ निर्माणचित्त का आश्रय लेकर सिद्धेश ब्रह्मापुत्र कपिल ने जिस पवित्र सांख्य शास्त्र का उपदेश आसुरि को दिया और वही ज्ञान आसुरि ने अपने शिष्य पंचशिख को दिया पंचशिख ने जिसका षष्टितन्त्र के माध्यम से खूब विस्तार किया वही ज्ञान जैगीषव्य,वार्षगण्य विन्ध्यवासादि शिष्य प्रशिष्यों की परम्परा से पुष्पितपल्लवित हुआ।

पाठान्तर संकेत 1-तदभिधाते -गौडपाद,माठर; तदवधातके-जयमंगला

वही ज्ञान जो षष्टितन्त्र मे उपनिबद्ध था उसी का प्रकाशन आचार्य ईश्वरकृष्ण नें'सांख्यकारिका' में किया है।उसमें सांख्यशास्त्र विषयक जिज्ञासा की प्रयोजन की अर्थवत्ता प्रतिपादनार्थ ईश्वरकृष्ण ने कहा है दुखःत्रयेति-

दुखःत्रयाभिधातात्-

दुखानां त्रयम् तेषाम् अभिधातःतस्मात् अपघातके हेतौ जिज्ञासा भवति अर्थात तीन तरह के दुःख से बुद्धिप्रतिविम्बित पुरूष का असहनीय संम्बन्ध होता है अतः उन तीनो तरह के दुःखों के शमन के विषय मे जिज्ञासा होती है।दुखःक्या है ऐसी अपेक्षा होने पर कोई कहता है दुःखयतीतिदुःखम् पतंजलि ने कहा है प्रतिकूल वेदनीयता ही दुःख है, जो अपने लिए अप्रीतिकर हो।

वही दुःख है। न्याय के अनुसार तो 'बाधना लक्षणम् दुःखम्' अर्थात परिताप ही दुःख है। दुःख सुख का अभाव नही है; बल्कि यह वास्तविकरूप से अनुभूयमान है। इसके प्रति विर्कषण की भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन मे रहती है। इसके परिणाम है-प्रतिकुलता,वस्तु,के प्रति विकर्षण और दैन्य आदि। दुःख रजोगुण का परिणाम भेद है दुःख तो अप्रीतिकर है ही वस्तुतः अनुभूयमान सुख भी परिणाम, संस्कार और तापदुःखता के कारण दुख ही है।सर्वं दुःखं विवेकिनःऐसा पतंजलि ने कहा है।दुःख का स्वरूप तो वार्णित हो चुका उसके भेद का विवेचन क्रम प्राप्त है। दुःख भेद निर्देश तो दुःखत्रय कहकर कारिका मे ही हुआ है अर्थात दुःख के तीन भेद है किन्तु ये तीन भेद कौन कौन है? इसविषयमेगौडपादभाष्यमेंकहागयाहै- ''तत्रदुःखत्रयम्आध्यात्मिकम्,आधिभौतिकम्,आधिदेविकम् चेति।तत्राध्यात्मिकंद्विविधम् - शारीरंमानसंचेति।शारीरंवातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतंज्वरातीसारादि। मानसंप्रियवियोगाप्रियसंयोगादि।आधिभौतिकंचतुर्विधभूतग्रामनिमित्तंमनुष्यपशुपक्षीसरीसृपदंशमशक यूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्योजरायुजाण्डजस्वेदजोज्जेभ्यःसकाशादुपजायते।आधिदैविकं-देवानामिदंदैवम्,दिवःप्रभवतीतिवादैवं,तदधिकृत्ययदुपजायतेशीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम्। अर्थात दुख तीन है आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख के दो भेद है- 1.शारीरिक 2. मानसिक। वात,पित्त और कफ के वैषम्य से उत्पन्न ज्वर अतिसार आदि शारीरिक

दुख है। प्रिय वस्तु के वियोग एवं अप्रिय के संयोग से उत्पन्न होने वाले दुःख को मानसिक कहते हैं। आधिभौतिक दुःख चारो प्रकार कि भूत समूह के कारण होता है। जो मनुष्य पशु,पक्षी,सरीसृप,दंश मच्छर,जूँ,खटमल,मछली,मकर,ग्राह और स्थावर से उत्पन्न होता है। यह दःख जरायुज,अण्डज,स्वदेज,और उद्भिज्ज इन चतुर्विध सृष्टि से उत्पन्न होता है। दैविक दुःख वह है जो दैव (देवताओं अथवा द्युलोक) के कारण होता है। ये है शीत,वर्षा,बज्रपातादि। **तत्वकौमुदी में आध्यात्मिकदुःख का अर्थ किया गया हैअन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यत्मिकं** दुःखम्,आधिदैविकं तु **यक्षराक्षस विनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्** दुःखत्रय का अभिधात जीव मात्र को होता है जो भी शरीरी है उन सभी को इन दुःखो का अभिघात सहना पड़ता है।इस अभिधात से क्या आशय है ? इसका उत्तर तत्व कौमुदीकार यों देते है- **दुःखत्रयेण अन्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूल वेदनीयतयाभिसम्बन्धोऽभिधात इति** अर्थात अन्तः करण मे वर्तमान और अनिष्ट रूप से अनुभूयमान त्रिविध दुःख के साथ चेतन पुरूष के असह्य सम्बन्ध को अभिधात कहते है।’’दुःख अनिष्ट से अनुभूयमान है अतः हेयः है उसके निर्वतन के विषय मे जिज्ञासा करना ठीक है ।दुःख का विनाश सम्भव है। अतः उसके शान्त करने या विनाश करने के साधन के विषय मे जानने की इच्छा होती है।

दृष्टे सा अपार्था चेत्

अर्थात यदि पूर्वपक्षी यह कहता है दुःख के विनाश के प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक उपायो के रहते दुःख शान्ति करने के साधन विषयक जिज्ञासा बेकार है ।क्योकि तीनो दुःखो मे से आध्यात्मिक दुःख के शमन का लौकिक उपाय आयुर्वेद शास्त्र मे प्रतिपादित कटु कसाय तिक्त क्वाथआदि है और प्रिय का समागम और अप्रिय का परिहार है।आधिभौतिक दुःख के समन का लौकिक उपाय रसादिका प्रयोग है। आधिदैविक दुःख का मणिमन्त्रौषधि आदि द्वारा विनाश देखा गया है। अतः सांख्यशास्त्रविषयक जिज्ञासा व्यर्थ है । यदिपूर्वपक्षी ऐसी आशंका करता है तो- न-अर्थात दुःख शमन के साधनों में जिज्ञासा करना निरर्थक नहीं है वल्कि वह जिज्ञासा सार्थक है क्योकि,

एकान्तात्यन्तोभावात्

एकान्तश्च अत्यन्तश्च एकान्तात्यन्तौ तयोः अभावः तस्मात् –

अर्थात् लौकिक साधनो से दुःखत्रय की एकान्त रूप से और आत्यन्तिक रूप से निवृत्ति नही होती है। शान्ति नही होती है एकान्त का तात्पर्य है दुःखनिवृत्तेरवस्यम्भावः(तत्वकौमुदी) दुःख का आवश्यक रूप निवृत्त होना ही एकान्त निवर्तन है। यह जरूरी नही कि दुःख लौकिक साधनों से आवश्यक रूप से शान्त ही हो जाय।

कैन्सर शरीरिक दुःख है अवस्था विशेष मे पहुचने पर वह अवश्य रूप निवर्तनीय नही रह जाता है।

इसी प्रकार लौकिक साधनो से दुःखत्रय की अत्यन्त रूप से निवृत्ति नही होती है। अत्यन्त का अर्थ है-अत्यन्तो-निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः(तत्वकैामुदी) शान्त हुए दुःख का फिर उत्पन्न न होना ही आत्यन्तिक निवृत्ति है किन्तु दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति नही होती है अतः दुःख को एकान्तिक एवं आत्यन्ति रूप से शान्त करने के साधन के विषय मे जिज्ञासा सार्थक है।1

विशेष 1- दुःखत्रय का उपन्यास करके जहाँ नैराश्य से शुरूवात है वही उसके विनाश के कारण की जिज्ञासा का प्रतिपादन कर मंगलाचरण करते हुए आशावाद का संचार भी किया गया है।

2. सांख्यशास्त्र सप्रयोजन है।

पूर्वापर सम्वन्ध,-लौकिक उपाय से दुःखत्रय की शान्ति न हो किन्तु वैदिक उपाय से उसके शान्त होने की आशंका होने पर कहा गया है

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।। का0-2

अन्वय-आनुश्रविकःदृष्टवत्।हिसःअविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।तद्विपरीतःश्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्

अर्थ-वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों जैसा है क्योकि वह दोष,क्षय और वैषम्य से युक्त है उन दोनों लौकिक/वैदिक)उपायो से भिन्न उपाय प्रशस्त है वह उपाय है। व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ के विवेक ज्ञान से उत्पन्न कैवल्य।

शारदाव्याख्या-अनुश्रविकः अनुश्रूयते इति अनुभवः तत्र भवः आनुश्रविकः गुरू के उच्चारण के अनन्तर सुने जाने से वेदो को अनुश्रव कहते है। उसमे विहित उपाय ही आनुश्रविक है। दुःख विधात के वैदिक उपाय रहते दुःख शमन विषयक जिज्ञासा व्यर्थ है। क्योकि आगम कहता है-

अपामसोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

किं वा नूनमस्मान् तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य।। ऋग्वेद 8.42.3

ऐसा ही संकेत कठोपनिषद् मे भी मिलता है-

न तत्रं त्वं न जरया विभेति,उमे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकान्तिगः मोदते स्वर्ग लोके।
वैदिक उपाय जो दुःखो के शमन का उद्घोष करते है वह वास्तविक स्थिति नही है वैदिक उपायों से भी दुःख का आत्यन्तिक व एकान्तिक समाधान नही होता है अतः **दृष्टवत्-दृष्टेन तुल्यः** अर्थात वैदिक उपाय भी दृष्टवत है।जैसे लौकिक उपाय दुःख की आत्यन्तिक एवं एकान्तिक निवृत्ति करने मे समर्थ नही है वैसे ही वैदिक कर्म कलाप भी,दुःख का पूरी तरह से शमन करने मे असमर्थ है।

वैदिक उपाय दुःख का पूरी तरह से शमन करने मे असमर्थ क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहा है हिसःविशुद्धिक्षयातिशययुक्तःविशुद्धियुक्तःक्षययुक्तः,अतिशययुक्तश्चते विशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। क्योकि वह वैदिक कार्य कलाप अशुद्धि,क्षय और वैषम्यदोषो से युक्त होता है। श्रुति का आदेश है स्वर्गकामो वै यजेत् किन्तु यज्ञां में हिंसा भी विहित है उसमे पशुओ कि हिन्सा होती है जहाँ साधुकर्मो से पुण्य बनता है वहीं हिंसा कर्म से पाप भी बनता है। अतः पाप के भी मिश्रित होने से वह वैदिकर्म मलयुक्त होता है। और सुख के साथ साथ दुःखदायी भी होता है। वैदिक उपाय जन्य स्वर्गादि प्राप्ति भी क्षय दोष से युक्त होती है जीव स्वर्ग मे तभी तक रहता है जब तक पुण्य बना रहता है पुण्य के क्षय होने पर पुनः मृत्यु लोक मे आना पड़ता है गीता कहती है-

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। 9.21

वैदिक उपाय जन्य फल मे वैषम्य भी होता है भिन्न-भिन्न यज्ञों का अलग-अलग फल है कुछ स्वर्ग मे वास देने वाले है तो कुछ वहाँ का अधिपति बनाने वाले हैं । जैसे लोक मे कम सुखी व्यक्ति अधिक सुखी व्यक्ति को देखकर के दुखी होता है वैसे ही स्वर्ग मे भी स्वर्ग के वासी अपने से उच्च स्थिति मे विद्यमान जीव को देखकर दुःखी हो सकते हैं । जैसे सुरूप को देख कर कुरूप दुःखी होता है वैसे ही इन्द्रपद आसीन जीव को देखकर अन्य दुःखी हो सकते हैं। चूँकि लौकिक औेर वैदिक दोनो ही उपाय दुःख की पूर्ण शान्ति करने मे असमर्थ है तो क्या कोइ ऐसा उपाय है ? जो उन दुख का पूर्ण शमन करने मे समर्थ हो ऐसी आशंका होने पर कहते है -

तद्विपरितः ताभ्यां विपरीतः श्रेयान्-

उन दोनों लौकिक एवं वैदिक उपायों से भिन्न उपाय प्रशस्यतर है ; क्योकि वह उपाय दुःख का आत्यन्तिक एकान्तिक रूप से शमन करता है और उसमे अशुद्धि,क्षय,और अतिशय भी नही हैं। वह उपाय है व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्. व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च इति व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विज्ञानम् तस्मात्।व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ के विभेदज्ञान से उत्पन्न कैवल्य। व्यक्ततत्व है महत्, अहंकार,11 इन्द्रियाँ 5 तन्मात्र, 5 महाभूत। अव्यक्त प्रकृति है एक है ।**ज्ञ** पुरूष तत्व है इस प्रकार कुल 25 तत्व है । इन्ही तत्वो के ज्ञान से कैवल्य मिलता है । गौड़पादभाष्य मे भी निर्देश है-

पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।

जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।

इन पच्चीस तत्वो के अभ्यास से ही केवल्य उत्पन्न होता है इसका 64वीं कारिका मे प्रतिपादन हुआ है।

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। 2

पूर्वापर संबन्ध-तत्वो के ज्ञान से उत्पन्न कैवल्य दुःख शमन का साधन है उन 25 तत्वो का पदार्थ चतुष्टय के रूप मे प्रतिपादन करते है।

मूलप्रकृतिरविकृर्तिमहदाद्याःप्रकृतिविकृतयःसप्त

षोऽशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिःपुरूषः।। का0-3

अन्वय-मूलप्रकृतिःअविकृतिः।महदाद्याःसप्त प्रकृति विकृतयः।षोडशकः विकारः।तु पुरूषः न प्रकृतिः न विकृतिः अस्ति।

अर्थ-मूल प्रकृति किसी का कार्य नही है। महत् आदि-(महत,अहंकार,पंचतन्मात्र) सात कारण और कार्य दोनो हैं। 16 तत्वो का समूह (11इन्द्रियाँ$पंचमहाभूत)केवल कार्य हैं। किन्तु पुरुष न तो कारण है और न तो कार्य है।

शारदाव्याख्या-मूलप्रकृतिःअविकृतिः मूलं च सा प्रकृतिःइति प्रकृतिः। प्रकरोति इति प्रकृतिः सर्जना करने वाली मूल शक्ति प्रकृति है वह गुणों की साम्यावस्था है।वह किसी का कार्य नही है वह अकारण कारण है। प्रकृति का स्वरूप देवीभागवत् मे इस प्रकार वर्णित है-

प्रकृष्टवाचकःप्रश्च कृतिश्च स्ष्टिवाचकः।

सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृति सा प्रकीर्तिता।।

गुणे सत्वे प्रकृष्टे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतः।

मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृति।।

त्रिगुणात्मस्वरूपा या सा शक्तिसमन्विता।

प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।।

प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।

सृष्टेरादौ च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।। देवीभागवत् 9.1.5-8

यह प्रकृति किसी का कार्य नही होने से अविकृति है वह महत् आदि का तो कारण है किन्तु प्रकृति का कोई अन्य कारण नही है। अतः वह अजा है।

महदाद्याःसप्त प्रकृतविकृतयः-

महदाद्याः महत् आदिःयेषां ते महादाद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयः प्ररकृतयश्च विकृतयश्च

प्रकृतिकृतयः-महत है प्रारम्भ में जिसके वे महत्आदि तत्व हैं। वे सात हैं-महत् अहंकार पाँच तनमात्राएं । वे सात तत्व प्रकृति और विकृति अर्थात् कारण और कार्य दोनो है जैसे महत् अहंकार का कारण है अतःप्रकृति है किन्तु स्वयं मूल प्रकृति का कार्य है अतः विकृति भी है। अहंकार, 11 इन्द्रियों एवं 5 तन्मात्राओं का कारण है और महत् का कार्य है।पांच तन्मात्र पांच महाभूतो के कारण हैं एवं अहंकार के कार्य है।

षोडशकः विकारः-

षोडषकःषोडषतत्वानां समुदायः षोडशकःविकारः16 तत्वो का समुदाय ही षोडशक है ये 16 तत्व है 11इन्द्रियाँ$5महाभूत।ये तत्व केवल कार्य हैं।

तु पुरूषः न प्रकृतिः न विकृतिः-किन्तु पुरूष न तो कारण है न तो कार्य है।पुरूष का स्वरूप आगे प्रतिपादित है। पुरूष कारण और कार्य की श्रृंखला से परे है।पुरूष सत् चित है।

विशेष-जिन 25 तत्वों का अभ्यास कैवलय सम्पन्न कराता है उनका चतुर्धा विभाग 1.अविकृति 2.प्रकृति

विकृति 3.विकार,4.न प्रकृति न विकृति के रूप मे किया गया है। 3

पूर्वापर सम्बन्ध-प्रकृति आदि 25 तत्व है उनके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है -

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिःप्रमाणाद्धि।।का0.4.

अन्वय-दृष्टम्अनुमानम् आप्तवचनं च त्रिविधम् प्रमाणम् इष्टम्।सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः (भवति)।

अर्थ-प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण ही मान्य है। इन्ही तीनो प्रमाणों मे अन्य सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाण से ही प्रमेयों का ज्ञान होता है।

शारदाव्याख्या

दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनं च त्रिविध प्रमाणम् इष्टम्-

प्रत्यक्ष,अनुमान,और शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का लक्षण व भेद निर्देश तो 5वी कारिका में प्रतिपादित है।प्रमाण का निर्वचन तत्वकौमुदी मे हुआ है- **प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रतिकरणत्वं गम्यते । तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषयाचित्तवृत्तिः।**

बोधश्च पौरूषेयःफलं प्रमा तत्साधनं प्रमाणमिति,अर्थात जिसके द्वारा प्रमा हो वही प्रमाण है।प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो,बाधित होने वाला न हो,तथा पहले से ज्ञात न हो।ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न,अतःउसका फलभूत पुरूषवर्ती बोध प्रमा है इसी का साधन प्रमाण है।

सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्- अन्य सभी प्रमाणों का इन्ही तीनो मे अन्तर्भाव हो जाता है। भारतीय दर्शन में प्रमाणो की संख्या विषयक विप्रतिपत्ति का संकेत मानसोल्लास में मिलता है-

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।

अनुमानं तच्चापि सांख्याः शब्दं च ते अपि।।

न्यायैकदेशिनोऽप्येवम् उपमानं च केचन्।

अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः।

अभावषष्ठान्येतानि भट्टा वेन्दान्तिनस्तथा।

सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।।

प्रत्यक्ष,अनुमान ,शब्द के अतिरिक्त प्रमाण है। उपमान,अर्थापत्ति,अभाव,सम्भव और ऐतिह्य। इनका अन्र्तभाव दिखलाया जा रहा है।उपमान का लक्षण है-

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतगोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् यथा गौस्तथा गवयः (तर्कभाषा) सांख्य इसे अलग प्रमाण न मानकर उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करता है।अर्थापति का लक्षण है। अनुपपद्यमानाथर्दर्शनात् तदुपपादकीभूर्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः। तथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। इसका अन्तर्भाव सांख्य अनुमान मे करता है। इस कमरे में गौ नहीं है यह जो गौ के अभाव का ज्ञान है यह अनुपलब्धि प्रमाण है। सांख्य दर्शन इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करता है।सम्भव प्रमाण पर तत्वकौमुदी में लिखा है-सम्भवस्तु यथा खार्य़ांद्रोणाढकप्रस्थाद्यावगमः स चानुमानमेव।इसी तरह ऐतिह्य पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि इस वृक्ष पर यक्ष रहता है ऐसा वृद्ध जन कहते है इत्यादि प्रकार कि जन श्रुति ऐतिह्य प्रमाण है। वह मूल वक्ता के ज्ञान के अभाव मे सन्दिग्ध है और यह प्रमाणिक पुरूष प्रोक्त हो तो आगम प्रमाण है।

हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः - यतः प्रमाणो के द्वारा ही प्रमेयो का ज्ञान होता है।विद्यमान सभी विषयों का ज्ञान प्रमाण से ही होता है। अतः तत्वों की उपलब्धि के साधन प्रमाणों का उपन्यास किया गया है। प्रमेय प्रकृति आदि 25 तत्व है जिनकी उपलब्धि प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द से होती है। 4

पूर्वापर सम्बन्ध

यतः प्रमेयों का ज्ञान प्रमाण से होता है।सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन ही है। उनके लक्षण क्या है ?

ऐसी आशंका होने पर कहते हैं -

प्रतिविषयाध्वसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिङ्गलिङ्पूिर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु1।। का0-5

अन्वय - प्रतिविषयाध्यवसायःदृष्टम्।अनुमानं त्रिविधम् आख्यातम् तल्लिङ्गलिङ्पूिर्वकम्। तु आप्तश्रुतिराप्तवचनम्।

अर्थ- विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रियाश्रित बुद्धि का व्यापार प्रत्यक्ष है। अनुमान को तीन प्रकार का कहा गया है। वह लिंङ्ग(व्याप्य) और लिङ्गी (व्यापक) के ज्ञान से होता है।आप्तश्रुति जन्य अर्थ ज्ञान ही आगम प्रमाण है।

शारदाव्याख्या

प्रतिविषयाध्यवसायःदृष्टम्-विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रियाश्रित बुद्धि का व्यापार प्रत्यक्ष है। विषयं विषयं प्रति इति प्रतिविषयम् प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु, अध्यवसायः दृष्टंप्रत्यक्षम् (गौडपाद)। अर्थात् त्वचा के 'द्वारा स्पर्श विषय का चक्षु के द्वारा रूप का, रसना के द्वारा रस का, नासिका के द्वारा गन्ध का अध्यवसाय अर्थात निश्चय जो बुद्धि का व्यापार है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। व्यास भाष्य मे प्रत्यक्ष पर इस तरह विचारमिलता है- इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया **सामान्यविषयात्मनोऽर्थस्यविशेषावधारण-प्रधानावृत्तिःप्रत्यक्षंप्रमाणं।फलमविशिष्टःपौरूषेयश्चित्तवृत्तिवोधः।** प्रत्यक्ष का लक्षण न्यायसूत्र मे इस प्रकार है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्पन्नं **ज्ञानमव्ययदेश्यमव्याभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्** 1.4,न्याय दर्शन इन्द्रियों को प्रमाण मानता है। किन्तु सांख्य बुद्धि के अध्यवसाय को प्रमाण मानता है।

तल्लिङ्गलिङ्पूिर्वकम्अनुमानम्- कारिकाकार ने पहले भेद बतलाया है तब अनुमान का लक्षण किया है। यहां पहले अनुमान का लक्षण करते हैं फिर उसके भेद का वर्णन किया जायेगा। लिड.्ग और लिड्.गीपूर्वक होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। अनुमान का अर्थ है अनु अर्थात् पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान । इस तरह जो ज्ञान प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण पर आश्रित हो वह अनुमान प्रमाण है। इसमें व्याप्य से व्यापक का और व्यापक से व्याप्य का ज्ञान होता है।जैसे धूम से अग्नि का अनुमान दण्ड के द्वारा यति होने का ज्ञान। काली कोट से वकील होने का अनुमान ।

अनुमानं त्रिविधम् आख्यातम्-अनुमान के तीन भेद हैं। पूर्ववत शेषवत् और सामन्यतोदृष्ट। ऐसी ही स्वीकृति न्याय की भी है- अथ तत्पूर्वकं अनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च (न्यायसूत्र) पूर्ववत

अनुमान वह है जिसमें पूर्व अर्थात् कारण को देखकर कार्य का ज्ञान होता है।जैसे उमड़े हुए वादलो को देखकर होने वाली वृष्टि का अनुमान। मौसम विभाग की भविष्यवाणियाँ पूर्ववत्,अनुमान

ही है। शेषवत् अनुमान वह है जिसमे कार्य को देखका कारण का ज्ञान होता है।जैसे बढ़ी हुई नदी को देखकर देशान्तर में होने वाली वृष्टि का अनुमान।किन्तु गौडपाद इसका अन्य उदाहरण दिये है। शेषवत् **तथा समुद्रादेकं जलपलं लवणंमासाद्य शेषमप्यस्ति लवणभावः** इति।

सामान्यतोदृष्टंनाम-यत्रअप्रत्यक्षे लिड्.लङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिड.गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो

लिडि.गी गम्यते यथा कार्यतःप्रकृत्युपलब्धिः।

अनुमान प्रमाण पर भारतीय दर्शन में सर्वाधिक सूक्ष्म चिन्तन न्याय दर्शन मे हुआ है।

आप्तश्रुतिःआप्तवचनम्इति- आप्तश्रुति जन्य अर्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है। आप्तश्रुतिरितिः -आप्ताः आचार्याः व्रह्मादयःश्रुतिर्वेदः आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तमाप्तवचनः व्रह्मा आदि आचर्यों के वचन जन्य अर्थ और वेद जन्य अर्थ ज्ञान दोनो हीआगम प्रमाण है।आप्त का लक्षण गौडपादभाष्य में इस प्रकार किया गया है-

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।

क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न बूयाद्धेत्वसम्भवात्।।

स्वकर्मण्यभियुक्तो य सड.गद्वेषविवर्जितः।

पूजितस्तविधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।

प्रमाणो का स्वरूप व भेद बतला दिया गया है। 5

पूर्वापर संम्बन्ध-प्रत्यक्ष प्रमाण का फल स्पष्ट ही है किन्तु अनुमान और शब्द प्रमाण का क्या फल है? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते है।

सामान्यतस्तुदृष्टादइन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्1।

तस्मादपि चासिद्धम्2 परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।।का06

अन्वय- सामान्यतःदृष्टाद् अनुमानाद् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः।तस्मादपि च असिद्धम् परोक्षम् आप्ताडमात् सिद्धम्।

अर्थ-सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय प्रमेयो की उपलब्धि होती है।और उससे अर्थात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान से असिद्ध परोक्ष प्रमेय आगम प्रमाण से सिद्ध होते है।

शारदाव्याख्या

सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रतीतिः-सामान्तोदृष्ट अनुमान से इन्द्रियातीत विद्यमान प्रमेयो की सिद्धि होती है।प्रत्यक्ष प्रमाण से इन्द्रियगोचर वर्तमानकालीन विषयों की सिद्धि होती है। इन दोनों कि

सिद्धि सामन्तोदृष्टि अनुमान से होती है जैसे महदादि लिंड्.ग त्रिगुणात्मक है त्रिगुणात्मक कार्य जिसके है,वह प्रधान है।इसी प्रकार,क्योकि अचेतन चेतन की तरह प्रतीत होता है अतः इसका संचालक पुरूष है। अनुमान से भूतकालीन ,वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन विषयों का ज्ञान होता है।

1. प्रसिद्धिरनुमानात् -युक्तिदीपिका , 2. साध्यम्- माठरवृत्तिः

तस्मादपि च असिद्धं परोक्षम् आप्तागमात् सिद्धम्- उस सामान्यतोदृष्टानुमान से जिन अतीन्द्रिय प्रमेयो का ज्ञान नही होता है।उन प्रमेयो की उपलब्धि शब्द प्रमाण से होती है।जैसे स्वर्ग है, नरक है, देवताओं के राजा इन्द्र है, यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है आदि शब्द प्रमाण के द्वारा जाने जाते है। 6

पूर्वापर संम्बन्ध-प्रमेय विद्यमान रहने पर भी प्रत्यक्ष का विषय क्यो नही होते है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान् मनोऽनवस्थानाच्च।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभभवात् समानाभिहारात् च ।। का07

अन्वय-अतिदूरात्,सामीप्यात्,इन्द्रियघातात्,मनोऽनवस्थानात्,सौक्ष्म्याद्,व्यवधानाद्,अभिभवात्, समानाभिहारात् च(प्रमेयणाम् उपलबिधः न भवति इति शेषः)।

अर्थ- अधिक दूर होने के कारण,अधिक समीप होने के कारण ,इन्द्रियों के नाश के कारण , चित्त की अस्थिरता के कारण, बीच मे किसी रूकावट के कारण ,अभिभूत होने के कारण,और समान मे मिल जाने के कारण (प्रमेयों का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है)।

शारदाव्याख्या- विद्यमान होने पर विषयो के प्रत्यक्ष न होने के आठ हेतु है-

अतिदूरात्-अधिक दूर होने से वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही होता है जैसे देशान्तर मे विद्यमान चैत्र,मैत्र और विष्णुमित्र का प्रत्यक्ष नही होता है।

सामीप्यात्-अधिक समीपता के कारण भी प्रमेयो का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है,जैसे आखो मे लगा हुआ आजन समीप होने के कारण दिखाई नही देता है।

इन्द्रियघातात्-इन्द्रियों का घात अर्थात अपने-2 विषय को प्रकाशित करने की शक्ति का नाश होने पर विद्यमान पदार्थोका प्रत्यक्ष नही होता है जैसे अन्धत्व के कारण रूप का ज्ञान नही होता है।

मनोऽनवस्थानात्- मन की अस्थिरता से विद्यमान वस्तु भी ज्ञात नही होती है जैसे व्यग्रचित्त व्यक्ति कही गयी बात को अवधारित नही कर पाता है।

सौक्ष्म्यात्-सूक्ष्म होने के कारण भी विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है जैसे इलेक्ट्रान,प्रोटान और न्यूट्रान कणो का प्रत्यक्ष सूक्ष्म होने के कारण नही होता है। प्रकृति और पुरूष अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते हैं।

व्यवधानात्-व्यवधानात् अर्थात् आड़ मे होने के कारण भी विद्यमान वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान नही

होता है जैसे दीवार आदि की ओट मे रहने से राज महिषियों का प्रत्यक्ष नही होता है।

अभिभवात्- अभिभव अर्थात् तिरस्कृत होने के कारण भी विद्यमान का प्रत्यक्ष नही होता है।जैसे सूर्य के तेज से तिरस्कृत होने से दिन में ग्रह,नक्षत्र ,तारे आदि प्रत्यक्ष के द्वारा नही जाने जाते है।

समानाभिहारात्-सदृश वस्तु के साथ मिश्रित होने जाने पर भी विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता हैं जैसे-सरोवर केजल में मिली हुई वर्षा की बूँद का प्रत्यक्ष नही होता ,मूँग की राशि मे मिला दिये गये मूँग का प्रत्यक्ष नही होता है।उपर्युक्त आठ हेतु वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमाएं है।

पूर्वापर सम्बन्ध- अत्यन्तदूरादि 8 कारणो से प्रमेय का प्रत्यक्ष नही होता है तो प्रकृति का प्रत्यक्ष न होने मे क्या कारण है ? और उसकी उपलब्धता कैसे होती है ? ऐसी आंकाक्षा होने पर कहते है-

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः1 ।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं2 सरूपं च ।।का08

अन्वय-सैक्ष्मयात् तदनुपलब्धिः,अभावात् न, कार्यतः तदुपलब्धेः। तच्च कार्य महदादि प्रकृतिविरूपं सरूपं च।

अर्थ-सूक्ष्म होने के कारण ही उन प्रकृति और पुरूष का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है,अभाव के कारण नही ,क्योकि कार्य से उस प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान होता है। और वे कार्य महदादि है(जो)प्रकृति के समान धर्म वाले भी है और उसमे भिन्न धर्म वाले भी है।

शारदाव्याख्या- सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः - सूक्ष्म होने के कारण उन प्रकृति और पुरूष का प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्धि नहीं होती है।जो सूक्ष्म पदार्थ हैं उनकी प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्धि नही होती है।

न अभावात्-ऐसा नही है कि प्रकृति और पुरूष ख पुष्प की तरह असत् पदार्थ है अतः उन दोनो का प्रत्यक्ष नही होता हैं। वस्तुतः वे भाव पदार्थ हैं। नित्य है। यदि प्रकृति और पुरूष भाव पदार्थ हैं तो उनकी उपलब्धि कैसे होती है ऐसी आकांक्षा होने पर कहते है कार्यतस्दुपलब्धेः कार्य से उस प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान होता है जैसे लोक मे कार्य को देखकर उसके कारण का अनुमान होता है वैसे ही प्रकृति का ज्ञान उसके कार्य से होता है। पुरूष के अनुमानार्थ हेतुओं का संघातपरार्थत्वात् 17वी कारिका में कहा जायेगा। कार्य से प्रकृति का ज्ञान होता है।कार्य कौन है ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-तच्चकार्यं महदादिः वे कार्य है महदादि 23 तत्व अर्थात् महत् अहंकार,11इन्द्रियाँ , 5 तन्मात्र और 5 महाभूत। ये कार्य हैं।इन्ही से प्रकृति का अनुमान होता है।

प्रकृतिविरूपं सरूपं च- वे महत् आदि कार्य प्रकृति के सदृश धर्म वाले भी है। और प्रकृति से विरूप धर्म वाले भी हैं। जैसे पुत्र पिता के सदृश भी होता है और उससे भिन्न भी होता है वैसे ही महत् आदि कार्य प्रकृति के सदृश भी हैं और भिन्न भी हैं। 8

पूर्वापर संम्बन्ध-महदादि कार्यो से प्रकृति का अनुमान होता है। महदादि कार्य प्रकृति मे सत् है या असत् ?ऐसा संशय होने पर कहते है।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।का09

अन्वय-कार्यं सत् असदकरणात्,उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च।

अर्थ- असत् के न उत्पन्न होने के कारण,उपादान कारण का ग्रहण होने के कारण,सभी कारणो से सभी कार्यो की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण,समर्थ कारण से ही समर्थ कार्य की उत्पत्ति होने के कारण,कार्य के कारण स्वरूप होने के कारण कार्य उत्पन्न होने के पूर्व भी कारण मे ़ सत् होता है।

1. तदुपलब्धिः-गौडपादभाष्य,युक्तिदीपिका। 2. प्रकृतिविरूपं सरूपं च तत्वकौमुदी

शारदाव्याख्या- कार्यं सत् - उत्पत्ति के पहले कार्य कारण मे विद्यमान रहता है। यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद है इसका प्रयोजन कार्य से प्रकृति की अस्तित्व की सिद्धि है।कारण में कार्य सत् है इसके लिए 5 हेतु दिए गए है।

असदकरणात्-

अर्थात् जो वस्तु अनस्तित्व वाला होता है उसे किसी भी कारण से उत्पन्न नही किया जा सकता है।जैसे आकाश पुष्प असत् है उसे किसी कारण से नही उत्पन्न किया जा सकता है और करोड़ो शिल्पी मिलकर नीले रंग को पीला नही वना सकते है।अतः जैसे उत्पत्ति के बाद कार्य सत् होता है ठीक वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य कारण में सत् होता है।

उपादानग्रहणात्- यतः कार्य की उत्पत्ति के लिए सम्बन्धित उपादान का ग्रहण किया जाता है। यह लोक सिद्ध है कि जो व्यक्ति जिस कार्य को चाहता है वह उससे संम्बन्धित उपादान कारण का ग्रहण करता है,जैसे दही को प्राप्त करने के लिए दूध का ही ग्रहण करता है। इससे सिद्ध है कि कार्य उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् है।

सर्वसम्भवाभावात्

यतः सभी कार्यों की सभी कारणो से उत्पत्ति नही होती है अतः यह भी सिद्ध करता है कि कार्य कारण में उत्पत्ति के पहले से ही मौजूद रहता है। जैसे-सुवर्ण की रजत् ,तृण,धूल,और बालू से उत्पत्ति नही होती है।

शक्तस्य शक्यकरणात्

यतः जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति मे शक्त अर्थात समर्थ होता है उससे उसी शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है।अतः सिद्ध होता है कि कार्य कारण मे सत् है, जैसे शक्य तेल,घट,पट, को उत्पन्न करने में क्रमशः तिल ,मृत्तिका और तन्तु ही समर्थ हैं।

कारणभावाच्च

यतः कार्य कारणात्मक होता है जो लक्षण कारण का होता है वही लक्षण कार्य का भी होता है। यह सिद्ध करता है कि कार्य कारण मे पहले से विद्यमान है जैसे जौ से जौ ही उत्पन्न होता है,धान से धान ही उत्पन्न होता है,गेहूॅ से गेहूँ उत्पन्न होता है।

विशेष-

कार्य उत्पत्तिपूर्व कारण मे सत् है या असत् है,सदसत् है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ भारतीय दर्शन मे कई सिद्धान्त मिलते है। जो मानते है कि कार्य उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् है वे सत्कार्यवादी कहे जाते हैं। सत्कार्यवाद को सांख्ययोग और वेदान्त मानता है। सांख्ययोग सत्कार्यवाद के भेद प्रकृति परिणामवाद को मानता है। विशिष्टाद्वैत व्रह्मपरिणामवाद को मानता है। अद्वैतवेदान्त व्रह्मविवर्तवाद मानता है। जो र्दशन कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण में असत् मानते हैं। वे असत्कार्यवादी हैं। वे हैं न्यायवैशेषिक और बौद्धदर्शन। न्यायवैशेषिक आरम्भवादी हैं। ये कार्य को नवीन सृष्टि मानते है।कार्य में उत्पत्ति और व्यय के द्वारा असत्कार्यवाद को सिद्ध करते हैं। वौद्ध क्षणभंगवाद को मानता है। जो कारण मे कार्य को सद् और असद् दोनो मानतं◌े है वे सदसत्कार्यवादी है जैन दर्शन इस सिद्धान्त को मानता है। जैन दर्शन स्यादवाद से सदसत् कार्यवाद को सिद्ध करता है। 9

पूर्वापर संम्वन्ध- 8वीं कारिका मे महदादि कार्य और प्रकृति मे कुछ धर्म असमान है ऐसा कहा गया है तो वे असमान धर्म क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते है-

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्.गम्।

सावयवं परतंत्रं व्यक्तं,विपरीतम व्यक्तम्।।का0.10

अन्वय-व्यक्तंहेतुमत्,अनित्यम् अव्यापि सक्रियम् अनेकम् आश्रितं लिङ्.गं सावयवं परतंत्रम्।अव्यक्तं विपरीतम्।

अर्थ-व्यक्तसकारणअर्थात्उत्पन्न,विनाशी,व्याप्त,क्रियाशील,अनेक,स्वकारणमेआश्रित,लिङ्ग अर्थात लययुक्त या प्रधान के ज्ञापक हेतु,अवयव युक्त,और परतन्त्र हैं जबकिअव्यक्त, निष्क्रिय, एक,आश्रय, अलिंग,निरवयव, और स्वतंत्र है।

शारदाव्याख्या-व्यक्त कार्य है और अव्यक्त कारण है दोनो मे विरूपता है उनमे विरूपता बतलाने के लिए व्यक्त के धर्म को पहले बतलाते है -

व्यक्तं हेतुमत्-व्यक्त महदादि सकारण है इनका कोई कारण होता है। महत् का कारण प्रकृति है।अहंकार का कारण महत् है। 11 इन्द्रियों एवं 5 तन्मात्राओ का कारण अहंकार है। 5 महाभूतो का कारण 5 तन्मात्राएं है।

अनित्यम्-अनित्य का अर्थ है विनाशी। विनाशी होने का अर्थ है अपने कारण मे अन्तर्भूत हो जाना।व्यक्त अपने कारण में लय हो जाने से अनित्य हैं। जैसे प्रलयकाल में महाभूत तन्मात्राओं में , तन्मात्राएं एवं 11 इन्द्रियां अहंकार में,यह भी महत् मे और महत प्रकृति मे अन्तर्भूत हो जाते हैं।

अव्यापि- अव्यापि का अर्थ है अव्यापक होना। सभी कार्य परिणामी कारण को व्याप्त नही करते हैं,

महदादि परिणाम परिणामी प्रकृति को व्याप्त नही करते है। अतः व्यक्त व्याप्य हैं।

सक्रियम्-व्यक्त सृष्टि की दशा मे संसरण करता हैं अतः सक्रिय है।

अनेकम्-व्यक्त अनेक हैं। ये महद् आदि 23 तत्व हैं।

आश्रितम्-स्वकारणमाश्रयते महद् आदि अपने-अपने कारण मे आश्रय लेते है अतः ये आश्रित है।महत् प्रधान पर आश्रित है। वुद्धि पर अहंकार आश्रित है। अहंकार मे 11 इन्द्रियाँ व 5 तन्मात आश्रित है, तन्मात्रो मे 5 महाभूत आश्रित है।

लिङ्गम-इसकी व्याख्या मे गौडपादभाष्यं एवं तत्व कौमुदी मे अन्तर है **गौड़पादभाव्यं** मे तो-लिङ्गं **लययुक्तं लयकाले पंचमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते** ....**च प्रधाने लयं यातीति**। कहा गया है। किन्तु तत्व कौमुदी मे इस प्रकार कहा गया है,लिंङ्गं प्रधानस्य अर्थात् ये प्रधान के अनुमान मे हेतु होते है।

सावयम्-अवयवों वाला होना ही सावयव है।व्यक्त तत्व सावयव हैं ।अवयव शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ही है उनसे युक्त होने से व्यक्त सावयव है।

परतंत्रम्- व्यक्त स्वयं से उत्पन्न नही होते हैं। अतः परतन्त्र है।परतन्त्र का अर्थ पराधीन होना भी है।ये व्यक्त के धर्म व्याख्यात हुए अब प्रकृति की विरूपता दिखलाने के लिए कहते हैं- अव्यक्तं विपरीतम् जिसमें सभी कार्य अप्रकट रूप से कारण मे विद्यमान रहते हैं। वह अव्यक्त है। वह व्यक्त के विपरीत धर्म वाला है। यतः व्यक्त हेतुमद,अनित्य,सक्रिय,अनेक,आश्रित,लिड़्.ग,सावयव, तथा परतन्त्र है किन्तु अव्यक्त अहेतुमद्,नित्य,एक,आश्रय,अलिङ्ग,निरवयव तथा स्वतन्त्र हैं। 10

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. दुःख कितने हैं-

(a). तीन (b) पाँच

(c). दो (d). चार

प्रश्न 2. दुःखत्रय का आत्यंतिक विनाश होता है -

(a). लौकिक उपाय से (b). वैदिक उपाय से

(c). तत्वज्ञान से (d).. इनमें से किसी से नहीं

प्रश्न 3. तत्वों की कुल संख्या है -

(a). 1 (b). 20

(c).. 18 (d).. 25

प्रश्न 4. प्रकृति विकृति तत्वों की संख्या है-

(a). 5 (b). 8

(c). 7 (d). 4

प्रश्न 5. सांख्य स्वीकृत प्रमाण हैं -

(a). केवल प्रत्यक्ष (b). केवल अनुमान

(c). केवल आगम (d). ये सभी

प्रश्न 6. विकृति तत्व हैं -

(a). 8 (b). 16

(c). 12 (d). 20

प्रश्न 7. प्रतिविषयाध्यवसायः लक्षण है -

(a). प्रत्यक्ष का (b). अनुमान का

(c). आगम का (d). उपमान का

प्रश्न 8. लिङ्ग लिङ्गी पूर्वक होता है -

(a). आगम (b). अनुमान

(c). प्रत्यक्ष (d). उपमान

प्रश्न 9. अनुमान के भेद हैं -

(a). 2 (b). 5

(c). 3 (d). 4

प्रश्न 10. अतिदूरात् .... में 8 बाधक हेतु हैं -

(a). प्रत्यक्ष के (b). अनुमान के

(c). उपमान के (d).. आगम के

प्रश्न 11. सांख्य दर्शन स्वीकार करता है -

(a). असत्कार्यवाद (b). सत्कार्यवाद

(c).. दोनो (d). इनमें से कोई नहीं

3.4 सारांश

सांख्यकारिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।इस इकाई मे 1-10 कारिकाओ तक जो प्रतिपादित है उनका सार निम्नवत है।सांख्यशास्तत्र दुःखो के ऐकान्तिक एवं आत्यंतिक शमन का साधन व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ के विवेक ज्ञान से उत्पन्न कैवल्य को मानता है। अतः यह मोक्ष शास्त्र है। व्यक्त में 23 तत्व है- महत् तत्व,अहकार ,11इन्द्रियाँ,5 तन्मात्राएं और 5 महाभूत। अव्यक्त तत्व प्रकृति है यह एक है। ज्ञ पुरूष है। इस प्रकार कुल 25 तत्व है इनका ज्ञान दृष्ट अनुमान और शब्द प्रमाण से ही होता है। कारिका 4-7 में सांख्य की ज्ञानमीमांसा वर्णित है। प्रकृति के सिद्धि के सा ाधन भूत सत्कार्यवाद को मानता है यह इसका कारणता सिद्धान्त है। व्यक्त सकारण व्याप्य सक्रिय अनेक आश्रित लिङ्ग और सावयव परतंत्र है। अव्यक्त अकारण नित्य व्यापक अलिंग आश्रय निरवयव और स्वतंत्र है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. दुःख - प्रतिकूल वेदनीय रजोगुण का परिणाम विशेष दुःख है।
2. प्रकृति - मूल सृजन कारिणी जड अचेतन शक्ति जो गुणो की साम्यावस्था है।
3. अव्यक्त- जिसमे सभी कार्य समूह अप्रकट रूप से विद्यमान होते है। प्रकृतिअव्यक्त माया प्रधान पर्याय शब्द है।
4. व्यक्त -कारण और कार्य स्वरूपात्मक महत् आदि 23 तत्व है।
5. सत्कार्यवाद- वह सिद्धान्त जो कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण मे सत् मानता है।

3.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1.a	2.c	3.d	4.c
5.d	6.b	7.a	8.b

9.c 10.a 11.b

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0श्री ज्वाला प्रसाद गौड,प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2. सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कष्णदास अकादमी वाराणसी,संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

,5.सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

6. देवीभागवत- (मूल संस्कृत) गीता प्रेस गोरखपुर।

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

आप इस इकाई का अध्ययन के लिए अधोलिखित पाठ्य सामग्री का उपयोग कर सकते है-

1.सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0श्री ज्वाला प्रसाद गौड,प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2. सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कष्णदास अकादमी वाराणसी,संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

,5.सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रथम इकाई की कारिकाओं का सं◌ाराँश लिखिए ?

प्रश्न 2. सांख्य दर्शन की ज्ञानमीमांसा पर प्रकाश डालिए?

प्रश्न 3. सत्कार्यवाद सिद्धान्त को समझाइए ?

इकाई-4 सांख्यकारिका 11-20 मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3. साख्यकारिका11-20 मूलपाठ से अर्थ एवं व्याख्या
4.4 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.5 परिभाषिक शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों उत्तर
4.7 संन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत चतुर्थ इकाई मे सांख्यकारिका की 11 से 20 कारिकाओं का मूलपाठ,अर्थ एवं व्याख्या की गयी है। ग्यारहवीं कारिका में प्रकृति एवं तथा व्यक्त के समान धर्म और पुरूष तत्व की प्रकृति एवं प्रकृति से सरूपता एवं विरूपता प्रतिपादित है। 12वीं कारिका में गुणों का स्वरूप प्रयोजन और प्रणाली का वर्णन है। 13वीं कारिका में तीनों गुणों का नाम व वैशिष्टय प्रतिपादित हैं। 14वीं कारिका में प्रकृति आदि शूक्ष्म तत्वों में अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि की गयी है। 15वीं कारिका में प्रकृति तत्व की सिद्धि के 5 हेतुओं का वर्णन है। 16वीं कारिका में तीनों गुणों के समुदय से उत्पन्न हुई सृष्टि में नानात्व का उपपत्ति पूर्वक प्रतिपादन है। 17वीं कारिका में पुरूष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए 5 हेतुओं को दिया गया है। 18वीं कारिका में पुरूष के बहुत्व को सिद्ध किया गया है। 19वीं कारिका में पुरूष के वास्तविक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। 20वीं कारिका में अचेतन लिंग के चेतनवत् प्रतिपादित होने के कारण का वर्णन किया गया है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप निम्न तथ्यो से परिचित हो जायेगें -

- प्रकृति का स्वरूप क्या है ? गुण कौन हैं ?, प्रकृति की सिद्धि किन हेतुओ से होती है ?
- पुरूष का स्वरूप क्या है, पुरूष की सिद्धि कैसे होती है ?
- पुरूष एक है या अनेक ?

4.3 साख्यकारिका 11-20 मूलपाठ,अर्थ एवं व्याख्या

अवतरणिका-सांख्यकारिका 8 मे कहा गया है- **तच्च कार्यं महदादि प्रकृतिविरूपं सरूपं च ।**

अर्थात अव्यक्त एवं व्यक्त मे असमान धर्म है और समान धर्म भी है। असमान धर्म कारिका 10 मंे प्रतिपादित किये गये हैं किन्तु दोनो के समान धर्म क्या है ? पुरूष किस प्रकार उनके सदृश एवं भिन्न है ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

त्रिगुणमविवेकि विषयःसामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। का0-11

अन्वय-व्यक्तं तथा प्रधानं त्रिगुणम्अविवेकि विषयः सामान्यम् अचेतनं प्रसवधर्मि । पुमान् तद्विपरितः तथा च।

अर्थ-व्यक्त तथा प्रधान दोनो त्रिगुणात्मक, अपृथक विषय अर्थात् भोग्य या

विज्ञानवाह्य,सर्वसाधारण,जड़ एवं परिणामी भी है। पुरूष उन दोनो से भिन्न भी है एव सदृश भी है।

शारदाव्याख्या-व्यक्त एवं अव्यक्त मसमान धर्मो के प्रतिपादनार्थ कहते है त्रिगुणेति-.

व्यक्तं तथा प्रधानं त्रिगुणम्- व्यक्त तथा प्रधान दोनो ही त्रिगुणात्मक है। व्यक्त सत्व, रजस् एवं तमस् के धर्म सुख दु.ख एवं मोह से युक्त होने से त्रिगुणात्मक है और प्रधान तो गुणो की साम्यावस्था होने से त्रिगुणात्मक है यह दोनो मे पहली सरूपता है।

दोनों में दूसरी सरूपता है अविवेकि जैसे प्रधान अपने से अभिन्न है ये गुण है यह प्रकृति है ऐसा भेद नही सम्भव है क्योंकि प्रकृति त्रिगुणों की तद्रूपता है वैसे ही यह व्यक्त है यह गुण है ऐसा भेद नही है अतःअविवेकि का अर्थ अभिन्नता है।

दोनों मे तीसरी सरूपता है- विषयः-विषय का अर्थ है भोग्य होना व्यक्त और अव्यक्त पुरूष का भोग्य होने से विषय है। सभी का भोग्य होने के कारण विषय है (गौडपाद)। विषयः ग्राह्यःविज्ञानात्वहिरिति यावत् (तत्व कैमुदी)।व्यक्त और अव्यक्त विज्ञान वाह्य होने से भी विषय है।

दोनों में चतुर्थ समानता है सामान्यम् अर्थात् सर्वसाधारण होना व्यक्त और अव्यक्त दोनों मूल्यदासी की तरह से सर्वसाधारण होने से सामान्य है।

दोनों मे 5वीं सरूपता है अचेतनम् अचेतन का अर्थ है सुख और दुःख का ज्ञान नही होना। चूँकि सुख दुःख और मोह का ज्ञान व्यक्त और अव्यक्त को नही होता है अतः वे दोनों अचेतन है। जड होना ही अचेतन होना है।

दोनों में 6वी समानता है प्रसवधर्मि- प्रसवरूपो धर्मो यः सो अस्य अस्ति इति प्रसवधर्मि- जिसमें प्रसवरूप धर्म विद्यमान है वह प्रसवधर्मी है। प्रसवधर्मिता का अर्थ है नित्य परिणामशीलता। व्यक्त और अव्यक्त दोनों में नित्य परिणाम होता रहता है। यह प्रसवरूप धर्म विद्यमान रहते ही वुद्धि से अहंकार,उससे 11 इन्द्रियाँ व 5 तन्मात्र , 5 तन्मात्रो से 5 महाभूत प्रसूत होतेहैं।ऐसे ही प्रकृति में भी नित्य रूप से परिणाम होता रहता है। प्रलय काल मे गुणो में सरूप परिणाम होता रहता है। तथा सृष्टिकाल में गुणों में विरूप परिणाम होता है। विरूप परिणामावस्था में यह महदादि को प्रसूत करती है। यहाँ तक व्यक्त और अव्यक्त के सरूप धर्म प्रतिपादित हुए।

किन्तु पुरूष का इनसे वैरूप्य तथा सारूप्य बतलाने के लिए कहा गया है-पुमान् तद्विपरितः तथा च। पुरूष उन दोनो व्यक्त तथा अव्यक्त के विरूपधर्मवाला भी है और उस अव्यक्त के समान धर्मवाला भी है।पुरूष अत्रिगुण है,विवेकी है, भोक्ता है असामान्य है, चेतन है तथा अपरिणामी है, अकारण नित्य व्यापक निष्क्रिय अनेक, आश्रय अलिंग निरवयव और स्वतंत्र है। 11

पूर्वापर सम्बन्ध- अव्यक्त तथा व्यक्त त्रिगुणात्मक है उन त्रिगुणों का स्वरूप क्या है। उनका प्रयोजन (कार्य) क्या है ? उनका व्यापार कैसे होता है ? ऐसी आकांक्षाओं के होने पर कहा गया है-

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।का0.12

अन्वय गुणाप्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाप्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाअन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च भवन्ति।

अर्थ-तीनो गुण सुख,दुःख मोहात्मक है,प्रकाशन,प्रर्वतन,तथा नियमन इनके प्रयोजन है तथा ये एक दूसरे को अभिभूत करते हैं ,एक दूसरे के आश्रय बनतें है , एक दूसरे के उत्पादक (परिणाम सहकारी) होते हैं, एक दूसरे से मिथुनीभूत होते हैं और एक दूसरे की वृत्ति को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

शारदाव्याख्या-गुणाः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रीत्यात्मकः अप्रीत्यात्मकः विषादात्मकः ते तथा - तीनों गुण सुख दुख और मोहात्मक हैं।गुण का अर्थ है दूसरे के लिए होना , गौड होना और रज्जु की तरह से बॉधने वाला होना। ये तीन हैं सत्वगुण रजोगुण व तमोगुण। सत्वगुण का स्वरूप सुख है। रजो गुण का स्वरूप दुख है और तमो गुण का स्वरूप मोह है। सुख की अवस्था में सत्व गुण प्रबल होता है। और दुख की अवस्था में रजोगुण प्रबल होता है। मोह की अवस्था में तमो गुण प्रबल होता है। गुणों का स्वरूप प्रतिपादन के अनन्तर इनका प्रयोजन बताया जाना अभीष्ट है। इनका प्रयोजन है- **प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः प्रकाशार्थः च प्रवृत्त्यर्थः च नियमार्थश्च** अर्थात् गुण प्रकाशन प्रवर्तन और नियमन प्रयोजन वाले हैं। सत्वगुण का प्रयोजन विषयों को प्रकाशित करना है, रजोगुण का प्रयोजन क्रिया में प्रवृत्त करना है । तमोगुण का प्रयोजन नियंत्रित करना है। गुणों का **व्यापारहैअन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्चअन्योऽन्याभिभवाः,अन्योऽन्याश्रयाःअन्योऽन्यजननाः, अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयाः च ते (गौडपाद**)। ये गुण एक दूसरे को अभिभूत करतें हैं ,एक दूसरे के आश्रय बनतें है एक दूसरे के उत्पादक (परिणाम सहकारी) होते हैं, एक दूसरे से मिथुनीभूत होते हैं और एक दूसरे की वृत्ति को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

अन्योऽन्याभिभवाः तीनों गुण परस्पर एक दूसरे को तिरस्कृत करने वाले होकर ही अपने प्रयोजन को करते हैं जैसे सत्वगुण तमोगुण व रजोगुण को अभिभूत करके ही विषयो को प्रकाशित करता है ऐसे ही रजोगुण और तमोगुण भी अन्य दोनो गुणों को अभिभूत करके अपने प्रयोजन को पूरा करते हैं।

अन्योऽन्याश्रयाः - गुण एक दूसरे के आश्रय बनने वाले होते है। जब विषयों का प्रकाशन होता है तो वह तमोगुण और रजो गुण पर अवलम्बित होता है ऐसे ही अन्य गुणों की क्रिया अन्य दूसरे पर अवलम्बित होती है।

अन्योऽन्यजनना: तीनों गुण एक दूसरे के परिणाम सहकारी हैं। गुण परस्पर अपेक्षा रखते हुए प्रलयावस्था में प्रकृति में सरूपरिणाम (जनन) उत्पन्न करते हैं।

अन्योऽन्यमिथुना: ये परस्पर मिथुन भाव से रहते हैं ये परस्पर सहयोगी हैं जैसे स्त्री पुरूष मिलकर अपने प्रयोजनो को पूरा करते हैं ठीक वैसे ही गुण भी परस्पर सहायक होकर ही अपना प्रयोजन पूरा करते हैं। जैसा कि कहा गया है-

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।
रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः।।
तमसश्चापि मिथुने ते सत्वरजसी उभे।
उभयोः सत्व रजसोर्मिथुनं तम उच्यते।।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते।। देवीभागवत्

अन्योऽन्यवृत्तयः- गुण एक दूसरे की वृत्ति को उत्पन्न करते हैं (अन्योन्यवृत्तिः जनयन्ति इति माठरः) जैसे कोई नय विनम्रता विश्वास चतुरा स्त्री भातृ बन्धु व पति को सुखी करती है वही सौतों मे दुःख एवं मोह को उत्पन्न करती है। इस प्रकार सत्व गुण के द्वारा रजोगुण व तमोगुण की वृत्ति उत्पन्न की गई। ऐसे ही अन्य दोनों गुण भी अन्य दोनों के व्यापार को उत्पन्न करते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता मे इसका संकेत किया है- **गुणा गुणेषु वर्तन्ते। 12**

पूर्वापर सम्बन्ध- त्रिगुणों का स्वरूप प्रयोजन,एवं व्यापार का प्रतिपादन किया गया है। सुख दुःख मोहात्मक त्रिगुण कौन हैं ? उनमे क्या वैशिष्ट्य है ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरूवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।का0.13

अन्वय-सत्वंलघुप्रकाशकंरजःचलंउपष्टम्भकंचलंतमःगुरूवरणकमेइष्टंअर्थतःप्रदीपवत्वृत्त।

अर्थ- सत्वगुण हल्का एतएव प्रकाशक माना गया है , रजोगुण चंचल एतएव उत्तेजक माना गया है । तमोगुण भारी अतएव नियामक माना गया है । प्रयोजन की सिद्धि मे ये प्रदीप की तरह मिलकर व्यापार करते हैं ।

शारदाव्याख्या -सत्वं लघु प्रकाशकम् इष्टम्-सत्व गुण लघु और प्रकाशक है। जब सत्व गुण प्रबल होता है तब अंग हल्के होते हैं , बुद्धि विषयों का प्र्रकाशन करती हैं, इन्द्रियों मे प्रसन्नता होती है। देवीभागवत में सत्वगुण के सम्बन्ध में निम्न विचार मिलते हैं -

सत्वं प्रीत्यात्मकं ज्ञेयं सुखात्प्रीतिसुमुद्भवः।
आर्जवं च तथा सत्यं,शौचं,श्रद्धा,क्षमा,धृतिः।।
अनुकम्पा तथा लज्जाशान्तिः सन्तोष एव च।
एतैः सत्वप्रतीतिश्च जायते निश्चला सदा।।
श्वेतवर्णं सत्वं धर्मे प्रीतिकरं सदा ।
सच्द्द्रद्धोत्पादकं नित्यंअसच्द्द्रद्धानिवारकम्।।3.8.2-4

उपष्टम्भकं चलं च रजः। रजोगुण उत्तेजक और क्रियाशील है।यह उत्तेजकता वैसी ही है जैसे वृष को देखकर दूसरा वृष उत्तेजित होता है। रजोगुणीव्यक्ति कलहप्रेमी होता है ,उत्सुक मन वाला होता है चंचलचित्त वाला होता है। इसका स्वरूप देवीभागवत में इस प्रकार वर्णित है-

रक्तवर्णं रजः प्रोक्तमप्रीतिकरमद्भुतम्।
अप्रीतिर्दुःखयोगत्वाöत्येव सुनिश्चिता ।।
प्रद्वेषोऽथ तथा द्रोहो मत्सरः स्तम्भ एव च।
उत्कण्ठा च तथानिद्रा श्रद्धा तत्र च राजसी।।
मानो मदस्तथा गर्वो रजसा किल जायते।
प्रत्येतव्यं रजस्त्वेतैर्लक्षणैश्च विचक्षणै।।3.8.6-8

तमःगुरूवरणकमेव-तमोगुण भारी होता है अतः अवरोधक माना गया है। जब तमोगुण प्रबल होता है अंग भारी होते है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों का प्रकाशन नहीं करती हैं।देवीभागवत में इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है -

कृष्णवर्णं तमः प्रोक्तं मोहनं च विषादकृत्।
आलस्यं च तथा अज्ञानं निद्रा दैन्यं भयं तथा।।
विवादश्चैव कार्पण्यं कौटिल्यं रोष एव च।
वैषम्यं वातिनास्तिक्यं परदोषानुदर्शनम् ।।
प्रत्येतव्यं तमस्त्वेतैर्लक्षणैः सर्वथा बुधैः।

तामस्या श्रद्धया युक्तं परतापोपपादकम्।।3.8.9-11

अर्थतः प्रदीपवत् वृत्तिः- परस्पर विरोधी स्वभाव वाला होने पर भी गुणत्रय प्रदीप की तरह एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए मिलकर कार्य करते हैं। ऐसा देखने मे आता है कि जैसे अग्नि बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी उनके साथ मिलकर विषयों को प्रकाशित करता है वैसे ही सत्व रजस् और तमस् भी परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर सहयोग पूर्वक अपना कार्य करते हैं। सहयोग का अर्थ है पुरूष का भोगापवर्ग। जैसा 31वीं कारिका मे कहा गया है- पुरूषार्थ एवं हेतुः न केदचित् कार्यते करणम्। 13

पूर्वापर सम्बन्ध-11वीं कारिका मे त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम् प्रसवधर्मि व्यक्तं तथा प्रधानम् ऐसा कहा गया है। प्रत्यक्ष पदार्थो मे त्रिगुण आदि धर्म तो सिद्ध है किन्तु सूक्ष्म अव्यक्त तथा वुद्धि आदि मे इनकी सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है -

अविवेक्यादेः1 सिद्धिः त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्।।का0-14

अन्वय-अविवेक्यादेःसिद्धिःत्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।कार्यस्यकारणगुणात्मकत्वात अव्यकतम्अपि

सिद्धम्।

अर्थ-त्रिगुणात्मक होने के कारण अव्यक्त आदि मे अविवेकित्वादि धर्मो की सिद्धि होती है। क्योंकि इनके अभाव में अव्यक्त आदि पदार्थां में तीनों गुणों का अभाव हो जायेगा और कार्य के कारण गुणों से ही युक्त होने से इन अविवेकित्व आदि धर्मों के आश्रयभूत अव्यक्त की भी सत्ता सिद्ध होती है।

शारदाव्याख्या-अविवेक्यादेःसिद्धिःत्रैगुण्यात्- अव्यक्त इत्यादि अप्रत्यक्ष पदार्थो मे अविवेकि,विषय,सामान्य,आदि धर्म की सिद्धि त्रिगुणात्मक होने से होती है।जो-जो पदार्थ त्रिगुणात्मक होते है वे अविवेकी आदि धर्मो से युक्त होते है जैसे प्रत्यक्ष होने वाले व्यक्त पदार्थ युक्त होते हैं। यह अन्वयव्याप्ति पूर्वक अव्यक्त और व्यक्त में अविवेकि आदि धर्मो की सिद्धि की गयी है।

तद्विपर्ययाभवात्-अर्थात जहाँ अविवेकित्व विषयत्वादि धर्मो का विपर्यय(अभाव) है। वहाँ त्रैगुण्य का भी अभाव है जैसे पुरूष में। अतः व्यक्त और अव्यक्त त्रैगुण्य रूप हेतुवाले होने से अविवेकि

1 विवेक्यादिः -माठरवृत

विषय सामान्य आदि धर्म वाले है। यहा व्यतिरेकव्याप्ति पूर्वक अविवेकित्वादि की अव्यक्त आदि मे सिद्ध की गई है। चूँकि अभी तक अव्यक्त को सिद्ध नही किया गया है तो उसमे अविवेकि आदि धर्मों की सिद्धि कैसे होती है ऐसी आशंका होने पर कहते हैं -

कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् अव्यक्तम्अपि सिद्धम्-कार्य मे कारण के गुण होते है । जैसे स्वर्ण निर्मित आभूषण स्वर्ण के गुण वाला ही होता है उसी तरह व्यक्त कार्य भी त्रिगुणात्मक तथा अविवेकित्वादि धर्म वाले देखे जाते हैं। इस स्थिति मे तद्रूप मूल कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। 14

पूर्वापर संम्बन्ध- अविवेकित्वआदि धर्म युक्त अव्यक्त है उसकी सत्ता कैसे सिद्ध की जा सकती है ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

> **भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।**
> **कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।।का0.15।।**
> **कारणमस्त्यवक्तं,प्रवर्ततेत्रिगुणतःसमुदयाच्च।**
> **परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।का016।।**

अन्वय - भेदानां परिमाणात्, समन्वयात् , शक्तितः प्रवृत्तेः,कारणकार्यविभागात् , वैश्वरूप्यस्य अविभागात् चअव्यक्तं कारणम् अस्ति। त्रिगुणतः च समुदयात् प्रवर्तते , प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् भवन्ति।

अर्थ- महत्आदि कार्यों के परिमित होने , कारण के समान होने , कारण की शक्ति से जन्य होने, कारण कार्य के अलग-अलग मालूम होने , प्रलय की अवस्था में नानारूप कार्यों के कारण में लीन

होने से , सबका एक कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। अव्यक्त अपने तीनो गुणों के स्वरूप से तथा मिले हुए तीनों गुणों के समूह से कार्य करता है एक-एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद के कारण परिणाम से जल की भॉति विभिन्न होते हैं।

शारदाव्याख्या

भेदानां परिमाणात्- महद् आदि कार्यो के सीमित होने से अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस संसार के पदार्थ सीमित परतंत्र अव्यापक और अनेक हैं। ये असीमित स्वतंत्र व्यापक और एक की ओर संकेत करते हैं। जैसे बुद्धि अहंकार 11 इन्द्रियां 5 तन्मात्र 5 महाभूत सीमित परतंत्र अव्यापक और अनेक हैं इनका जो कारण है वह असीमित स्वतंत्र व्यापक और एक होना चाहिए वह कारण है अव्यक्त।

समन्वयात्

संसार के सभी पदार्थ सुखात्मक दुखात्मक और मोहात्मक हैं। इन सभी कार्यों के मूल कारण में भी इस त्रिगुणात्मक स्वभाव का होना आवश्यक है। इनका मूल कारण अव्यक्त है जो त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार तीनो गुणों के स्वरूप का समन्वय प्रकृति में होने से उसका अस्तित्व सिद्ध है।

शक्तितः प्रवृत्तेः

शक्ति से प्रवृत्त होने से अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध होता है। व्यक्त आदि कार्य शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। शक्ति आश्रयहीना नहीं होती है। उस शक्ति का आश्रय अव्यक्त है। लोक में जिस व्यक्ति में जैसा कार्य करने की शक्ति होती है वैसे ही कार्य को करता है ठीक ऐसे ही सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति केवल प्रकृति में ही है। अतः उसका अस्तित्व सिद्ध है।

कारणकार्यविभागात्

करोति इति कारणं क्रियते इति कार्यं तयोर्विभागः तस्मात् जो करता है वह कारण है और जो किया जाय वह कार्य कहा जाता है, चूॅकि कारण अलग होता है और कार्य अलग होता है इससे भी प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड कारण है और घट कार्य है क्योंकि वही मधु जल दुग्ध आदि ग्रहण करने मे समर्थ है न कि मिट्टी का पिण्ड। इसी तरह से व्यक्त और अव्यक्त में भी भेद है ,व्यक्त कार्य अलग हैं और अव्यक्त प्रधान व्यक्त से भिन्न कारण है। अतः अव्यक्त का अस्तित्व सिद्ध है ।

वैश्वरूप्यस्य अविभागात्

विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यम् बहुरूपम् इति अर्थः तस्य विश्वरूपता का भाव ही वैश्वरूप्य है। वैश्वरूप्य का अर्थ है बहुरूपता उसके अविभक्त रूप में अन्तर्भूत होने के कारण प्रधान का अस्तित्व सिद्ध है।

प्रलयकाल में त्रैलोक्य 5 महाभूतों में अभिन्न बन जाता है । 5 महाभूत 5 तन्मात्राओं मे अभिन्न बन जाते हैं। पंच तन्मात्र और 11 इन्द्रियां अहंकार में , अहंकार बुद्धि में और वह अव्यक्त में अविभक्त बन जाती हैं। इस प्रकार तीनो लोक प्रलयकाल में प्रकृति में अविभक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। सभी कार्य समूह के प्रकृष्ट रूप से अवस्थित होने के कारण अव्यक्त को प्रधान कहते हैं। माठरवृत्ति कहती है प्रकर्षेण धीयते अवस्थाप्यते अत्राखिलमिति प्रधानम्। इस अविभाग के कारण प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्रधान में सभी कार्य प्रलयावस्था मे अविभक्त रूप से विद्यमान रहते हैं।और वह एक है तो उससे अनेक कार्यो की उत्पत्ति कैसे होती है ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है -**त्रिगुणतः समुदयात् च प्रवर्तते** - प्रधान तो तीनो गुणों की साम्यावस्था है। उस अवस्था में प्रकृति में सरूप परिणाम होता है जिसे त्रिगुणतः शब्द से कहा गया है। उसी त्रिगुणात्मक प्रकृति से तीन तरह का व्यापार होता हैं। वह व्यापार गुणक्षोभ होने पर होता है तीनो गुण मिलकर व्यक्त को उत्पन्न करते हैं। जब सृष्टि एक ही कारण से उत्पन्न है तो उसमें विभिन्नता क्यों दिखलायी पड़ती है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् भवन्ति। जैसे आकाश से गिरा हुआ एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके आम, जामुन तथा नीम आदि का रस बन जाने पर मीठा कसैला तिक्त आदि अनेक प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार प्रत्येक काल में एक ही गुण के प्रबल होने से प्राधान्य प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं। 15-16पूर्वापर सम्बन्ध- प्रधान का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है ।अब पुरूष के अस्तित्व कि सिद्धि के लिए

कहा गया है -

सङ्.घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्,कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च।।का0.17।।

अन्वय-पुरूषः अस्ति सङ्.घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाद् अधिष्ठानात् भोक्तृभावात्,कैवल्यार्थ प्रवृतेश्च।

अर्थ-संघातो के दूसरो के लिए होने के कारण,त्रिगुणादि धर्मो से भिन्न धर्मो वाला होने से,(प्रकृति का) संचालक होने से,भोक्ता होने के कारण,और कैवल्य प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होने से पुरूष का अस्तित्व सिद्ध है।

शारदाव्याख्या-पुरूषः अस्ति, पुरूष का अस्तित्व है इसके साधक हेतु है। संघात परार्थत्वात्-जो यह महदादि सुघात पदार्थ है वह पुरूष के लिए है ऐसा अनुमान किया जाता है। क्योंकि संघात पदार्थ अचेतन है अतःवे पर्यंक् की तरह दूसरे के लिए है और भी यह शरीर पंचमहाभूतो का संघात है। यह भोग्य शरीर जिसके लिए है वह पुरूष है।

त्रिगुणादिविपर्ययाद्-त्रिगुण,अविवेकि विषय सामान्य अचेतन परिणाम धर्म सावयव,परतंत्र से विपरीत धर्मो वाला होने से पुरूष का अस्तित्व सिद्ध है। व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो ही मे ये सरूप धर्म है-त्रिगुण अविवेकि विषय,सामान्य परिणाम समान धर्म है। त्रिगंुण निर्गुण का ,अविवेकी विवेकी का,और विषय अविषय का ,सामान्य असामान्य का तथा चेतन अचेतन का परिणाम अपरिणाम का निर्देश करता है। ये व्यक्त एवं अव्यक्त के विपरीत धर्म जिसमे है वह तत्व पुरूष है।

अधिष्ठानात्-संचालक होने के कारण भी पुरूष का अस्तित्व व्यक्त और अव्यकत सभी त्रिगुणात्मक होने से जड़ है वे स्वयं अपना संचालन नही कर सकते है। उसके संचालक के रूप में पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है जैसे संसार में लंघन धावन क्रिया मे समर्थ अश्वो से युक्त रथ सारथी के द्वारा प्रेरित होता है वैसे ही यह अचेतन शरीर भी पुरूष के द्वारा प्रेरित होता है। गीता भी कहती है।

.... **हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**। यही रहस्य पंचसिख ने पष्टि तन्त्र मे निर्दिष्ट किया है ।

पुरूषाधिष्ठितं प्रधानं प्रर्वतते ।

भोक्तृभावात्- भोक्ता का भाव हो के कारण भी पुरूष का अस्तित्व सिद्धि होता है। व्यक्त और अव्यक्त विषय और सामान्य है।भोग्य होने के कारण विषय है मूल्यदासीवत् होने के कारण सामान्य है। इन भोग्य पदार्थो को भोक्ता की अपेक्षा होती है वह भोक्ता पुरूष है जैसे षड्रस समन्ति व्यंजन भोग्य है उसके भोक्ता के रूप मे यज्ञदत्त की सिद्धि होती है। ऐसे ही महदादि लिड्.ग स्वयं अपने भोक्ता नही है ये भोग्य है ।इनके भोक्ता के रूप मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च- कैवल्य के लिए प्रवृत्त होने से भी पुरूष की अलग सत्ता सिद्ध होती है। कैवल्य का अर्थ है दुःख का आत्यन्तिकशमन।यतः शास्त्र कैवल्य का प्रतिपादन करते है और लोग इसे पाना चाहते है अतः यह सिद्ध होता है कि पुरूष है जो मुक्ति चाहता है इस कारिका मे 5 हेतुओं से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। 17 पूर्वापर सम्बन्ध-पुरूष का अस्तित्व तो सिद्ध हो चुका किन्तु पुरूष एक है या अनेक ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

जननमरणकरणानां1 प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च
पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव2 ।। का0 18

1.जन्ममरणकरणानाम्-गौडपाद्भाष्य,माठरवृत्ति,युक्तिदीपिका।2.त्रिगुणादिविपर्ययाच्चैव-युक्तिदीपिका।

अन्वय- जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्, अयुगपद्प्रवृत्तेश्च, त्रैगुण्ययविपर्ययात् पुरूषबहुत्वं सिद्धम् एव।

अर्थ- जन्म, मृत्यु तथा इन्द्रियों की प्रत्येक जीव के साथ व्यवस्था होने से, एक ही साथ (कार्या) मेंप्रवृत्त न होने से तथा सुख-दुःख मोह में विपर्यय होने के कारण पुरूष बहुत हैं, यह सिद्ध है।

शारदाव्याख्या-जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् पुरूषबहुत्वं सिद्धम- जन्म मृत्यु तथा इन्द्रियों की प्रत्येक जीव के साथ अलग-अलग व्यवस्था होने के कारण पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक होती तो एक ही जीव के जन्म से सभी जीवों का जन्म हो जाता। लेकिन हम देखते हैं कि एक ही जीव के जन्म के साथ सभी जीवों का जन्म नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक

है। इसी तरह से प्रत्येक जीव की मृत्यु भी अलग-अलग होती है। ऐसा नहीं है कि यदि एक की मृत्यु हो जाय तो सभी मर जायँ। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है। इसी तरह से प्रत्येक जीव के साथ ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां के बीच अलग-अलग व्यवस्था देखने को मिलती है। यदि आत्मा एक ही होती तो एक जीव के अन्धे होने पर सभी जीव अन्धे हो जाते। एक ही जीव के पंगु होने पर सभी जीव पंगु हो जाते। किन्तु ऐसा लोक में दिखाई नहीं पड़ता है। अतएव यह मानना युक्ति संगत है कि जीव एक नहीं अनेक हैं। इस अंश में पुरूष बहुत्व के साधक तीन हेतु जन्म की व्यवस्था, मृत्यु की अलग-अलग व्यवस्था और इन्द्रियों की अलग-अलग व्यवस्था को बताया गया है।

अयुग्पद्प्रवृत्तेश्च- और सभी जीवों के एक ही साथ सदृश कार्यो में प्रवृत्त न होने से भी पुरूष का बहुत्व सिद्ध होता है। यदि आत्म तत्व एक होता तो सभी जीवों की क्रियाओं में सादृश्य दिखाई पड़ता, किन्तु हम देखते हैं कि सभी जीव एक ही साथ एक ही कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं। कुछ जीव धर्म में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ अधर्म में। कुछ जीव वैराग्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव आसक्ति में लगे होते हैं। कुछ जीव ऐश्वर्य में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ जीव अनैश्वर्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है पुरूष एक नहीं है बल्कि अनेक हैं ।

त्रैगुण्यविपर्ययात् च तीनों गुणों के परिणाम सुख दुःख मोह में विपर्यय दिखाई पड़ने से पुरूष बहुत हैं। यदि आत्मा एक हो तो सभी जीवों को एक ही साथ सुखी एक ही साथ दुखी अथवा एक ही साथ मोहयुक्त होना चाहिए, किन्तु हम देखते हैं समान जन्म होने पर भी सात्विक पुरूष सुखी, राजसी दुखी तथा तामसी व्यक्ति मोहयुक्त होता। इस कारण यही मानना युक्तिसंगत है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं। इस प्रकार इस कारिका में पुरूष बहुत्व के साधक पाँच हेतुओं को बताया गया है। 18

पूर्वापर संबन्ध-पुरूष बहुत हैं यह सिद्ध किया जा चुका है। अब विवेकज्ञान में उपयोगी उसके धर्म कौन-कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है-

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरूषस्य
कैवल्यम्याध्यस्थं द्रष्टृत्वमकतृभावस्च्।। का019

अन्वय- च तस्मात् विपर्यासात् अस्य पुरूषस्य साक्षित्वं कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावः च सिद्धम्।

अर्थ-और उन-(त्रिगुण,अविवेकि,विषय,सामान्य,अचेतन आदि) से विपरित धर्मो वाला होने से इस पुरूष का साक्षी होना,कैवल्य,मध्यस्थ होना,द्रष्टा होना और अकर्ता होना सिद्ध होता है।

शारदाव्याख्या-च तस्मात् विपर्यासात्- और उन त्रिगुण, अविवेकी, सामान्य, अचेतन, अपरिणामी आदि धर्म से विपरीत धर्म वाला पुरूष है। ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त से विपरीत धर्म वाला पुरूष को कहा गया है-

त्रिगुणमविवेकि विषयःसामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।

त्रिगुण,अविवेकि,विषय,सामान्य चेतन ये व्यक्त तथा अव्यक्त के धर्म है इससे विपरित अर्थात अगुण,विवेकि,अविषय,असामान्य, चेतन,तथा अपरिणामी धर्म वाला पुरूष तत्व है व्यक्त एवं अव्यक्त से विपरित धर्मो वाला होने से पुरूष के स्वरूपगत धर्म सिद्ध होते हैं। जो धर्म विवेक ज्ञान में अत्यन्त उपयोगी हैं। विवेक ज्ञान में उपयोगी वे धर्म कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं- अस्य पुरूषस्य साक्षित्वं कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वं अकर्तृभावश्च सिद्धम्- अर्थात इस पुरूष में साक्षित्व,कैवल्य, माध्यस्थ, द्रष्टृत्व और अकर्तापन सिद्ध हैं। यही साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ और अकर्तापन ही पुरुष के वास्तविक स्वरूप धर्म हैं। अब इन पर अलग-अलग विचार करना अपेक्षित है।

साक्षित्वम् द्रष्टृत्वम्- पुरूष चेतन है अतः वह विषयों को देखने वाला है। विषय विषय को नहीं देख सकता है। चेतन ही विषयों का द्रष्टा होता है। द्रष्टा ही साक्षी होता है। तत्व कौमुदी के अनुसार जिसको विषय दिखाया जाय वही साक्षी है। जैसे लोक मं े वादी और प्रतिवादी विवाद का विषय साक्षी को दिखाते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी अपने द्वारा किये गये कार्य को पुरूष को दिखाती है। यह साक्षित्व और द्रष्टृत्व अविषयत्व व चेतनत्व के कारण सिद्ध होते हैं। अतः चेतन होने के नाते पुरूष मं े साक्षित्व तथा द्रष्टृत्व दोनों सिद्ध होते हैं।

कैवल्यं माध्यस्थम्- दुःखों की निवृत्ति ही कैवल्य है। कैवल्य, मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति पर्याय हैं। जहाँ-जहाँ त्रिगुणत्व है वहीं सुख-दुःख और मोह है। चूँकि पुरुष निर्गुण है। अतः उसमें सुख-दुःख आज भी नहीं है। अतएव वास्तविक रूप से वह नित्य कैवल्य प्राप्त है। कर्म और कर्ता त्रिगुणात्मक ही हैं। पुरूष निर्गुण है। अतः वह कर्म और कर्ता दोनों से ही परे है। यही कारण है कि वह मध्यस्थ है। पुरूष की मध्यस्थता वैसी ही है जैसे योगी कृषि कार्य मे लगे हुए पुरूषों के बीच में रहता हुआ भी उदासीन रहता है। वैसे ही यह पुरूष तत्व गुणों के प्रवृत्त होने पर भी उदासीन रहता है। मध्यस्थता उदासीनता ही है।

अकर्तृभावः - पुरूष विवेकी है। अपरिणामी है। अतः वह अकर्ता है। गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है- **गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।**

पूर्वापर संबन्ध -पुरूष वस्तुतः अकर्ता है; किन्तु मै चेतनावान् हूँ और मैं जा रहा हूँ ऐसी कटु भाव की प्रतीति का कारण क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है-

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।

गुण कर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।। का0 20

अन्वय- तस्मात् ततसंयोगात् अचेतनं लिङ्गं चेतनावत् इव भवति।

अर्थ- अतः दोनों (चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति) के संयोग से अचेतन लिङ्ग (बृद्धि आदि तत्व

चेतन की तरह से प्रतीत हो जाता है और उसी प्रकार तीनों गुणों के वास्तविक रूप से कर्ता होने पर भी उदासीन पुरूष कर्ता सा प्रतीत होता है।

शारदाव्याख्या- तस्मात्- यतः पुरूष चेतन है अतएव। तत् संयोगात् अचेतनं लिङगं चेतनावत् इव भवति- उस चेतन पुरूष के संयोग के कारण अचेतन महत् आदि लिङग (सूक्ष्म शरीर) चेतन जैसे प्रतीत होते हैं। जैसे इस संसार में घड़ा यद्यपि शीतल एवं उष्ण नहीं होता है, फिर भी उसमें उष्णता और शीतलता के संक्रान्त कर दिये जाने पर वह उष्ण और गर्म है ऐसा प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार से महत् आदि लिङग अचेतन हैं फिर भी उस चेतन पुरूष के संयोग मात्र से ही चेतनावान् हो जाते हैं।

तथा च गुणकर्तृत्वे उदासीनः कर्ता इव भवति- और वैसे ही गुणों के वास्तव में कर्ता होने पर भी उदासीन पुरूष कर्ता सा हो जाता है। यद्यपि संसार में पुरूष को ही कर्ता आदि कहा जाता है, किन्तु वह वास्तव में कर्ता नहीं है। कर्ता को पाणिनि ने स्वतन्त्रः कर्ता कहकर परिभाषित किया है। स्वतन्त्र का अर्थ है- व्यापार का आश्रय होना। व्यापार क्रिया है। अतः जो क्रिया का आश्रय है वही कर्ता है। चूँकि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होने के कारण नित्य क्रियाशील है। उसमें सरूप और विरूप परिणाम नित्य होते रहते हैं। अतः वास्तव में गुण ही कर्ता हैं। उन गुणों का कर्तृत्व उदासीन पुरूष में संक्रमित सा होने से पुरूष कर्ता समझा जाता है।किन्तु पुरूष वस्तुतः कर्ता नहीं है। पुरूष मंे कर्तापन की प्रतीति कैसे होती है ? और कैसे वह अकर्ता है ? इसे समझाने के लिए गौडपाद ने ऐसा कहा है- **यथाऽचौरश्चचौरैःसह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते**, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः तै संयुक्तः पुरूषोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति कर्तृ संयोगात्। अर्थात् जैसे चोरों के साथ पकड़ा गया अचौर भी चौर ही समझा जाता है। वैसे ही तीनों ही गुण वास्तव में कर्ता हैं। उनके साथ संयुक्त होने से अकर्ता होने पर भी पुरूष कर्ता सा हो जाता है। लिङ्ग में चेतना प्रातीतिक है और पुरूष में कर्ता पर प्रातीतिक है। प्रकृति पुरूष संयोग के कारण अचेतन प्रकृति चेतन जैसी हो जाती है और उदासीन पुरूष कर्ता सा हो जाता है। गुणकर्तृत्वेऽपि-माठरवृत्ति जयमंगला।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न-1. द्वितीय इकाई में कुल कारिका हैं-

(a). 8 (a). 6

(c). 10 (d). 18

प्रश्न-2. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यम् अचेतनं प्रसवधर्मि... ये समान धर्म हैं-

(a). व्यक्त और पुरूष के (b). अव्यक्त और पुरूष के

(c). व्यक्त और अव्यक्त के (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-3. प्रकाश प्रवृत्ति और नियमन् क्रमशः प्रयोजन हैं-

(a). रजस् तमस् सत्व के (b). सत्व रजस् तमस् के

(c). सत्व तमस् रजस् के (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-4. प्रीति अप्रीति और विषाद क्रमशः स्वरूप हैं-

(a). सत्व रजस् तमस् के (b). रजस् सत्व तमस् के

(c). रजस् तमस् सत्व के (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-5. अन्योन्याभिभवाश्रय.........में प्रतिपादित है-

(a). गुणों का स्वरूप (b). गुणों का प्रयोजन

(c). गुणों का व्यापार (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-6. लघु प्रकाशकम् है-

(a). सत्व गुण (a). रजो गुण

(a). तमस् गुण (a). ये सभी

प्रश्न-7. उपष्टम्भकं चलम् है-

(a). सत्वगुण (b). तमोगुण

(c). रजोगुण (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-8. गुरुवरणकम् है-

(a). रजोेगुण (b). तमोगुण

(c). सत्वगुण (d). इनमें से कोई नहीं

प्रश्न-9. श्वेत रक्त व कृष्ण रंग क्रमशः माने गये हैं-

(a). तमस् रजस् सत्व के (b). रजस् सत्व तमस् के

(c). तमस् सत्व रजस् के (d). सत्व रजस् तमस् के

प्रश्न-10. भेदानां परिमाणात्................से सिद्ध होता है-

(a). प्रकृति (b). पुरूष

(c). दोनों (d). इनमें से कोई नहीं

4.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई का सारांश निम्नवत् है- प्रकृति और व्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक अविवेकी, विषय, सामान्य और अचेतन तथा परिणामी हैं। पुरूष निर्गुण, विवेकी, भोक्ता, असामान्य, चेतन तथा अपरिणामी है। प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् हैं। सत्वगुण सुख स्वरूप, रजोगुण दुःख स्वरूप और तमोगुण मोह स्वरूप हैं। इन तीनों गुणों के प्रकाश, प्रवर्तन और नियमन् प्रयोजन हैं। एक दूसरे का अभिभव आदि करके ये दीपक की तरह से प्रयोजन सिद्ध करते हैं। प्रकृति तत्व की सिद्धि पांच हेतुओं से होती है। पुरूष तत्व की सिद्धि पांच हेतुओं से होती है। पुरूष तत्व अनेक हैं। पुरूषों में स्वरूपगत एकता किन्तु संख्यागत भेद है। साक्षित्व, मध्यस्थता, कैवल्य, द्रष्टाभाव, अकर्ताभाव ये पुरूष के स्वरूप धर्म हैं। पुरूष में कर्तृत्व आदि की भासमानता प्रकृति से संयोग होने से होती है।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. सत्वगुण- वह गुण जो लघु और प्रकाशक होता है।

2. रजोगुण- वह गुण जो उपष्टम्भक् और चंचल होता है।

3. तमोगुण- वह गुण जो भारी और अवरोधक होता है।

4. प्रकृति- गुणों की साम्यवास्था का नाम है।

5. प्रधान- प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्राखिलमिति जिसमें प्रलय काल में सभी विकार अवस्थित हो जाते हैं। उसे प्रधान कहते हैं।

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. c	2.c	3. b	4. a	5.c
6. a	7.c	8. b	9. d	10. a

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0श्री ज्वाला प्रसाद गौड,प्रकाशक-चौखम्बा वद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2. सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कष्णदास अकादमी वाराणसी, संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

5. सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

6. देवीभागवत् (मूल संस्कृत) गीता प्रेस गोरखपुर

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

आप इस इकाई का अध्ययन के लिए अधोलिखित पाठ्य सामग्री का उपयोग कर सकते हैं-

1. सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0 श्री ज्वाला प्रसाद गौड, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2. सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कष्णदास अकादमी वाराणसी, संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

5.सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

- द्वितीय इकाई के कारिकाओं का सारांश लिखिए ?
- प्रकृति का स्वरूप व उसके अस्तित्व की सिद्धि कीजिए ?
- पुरूष का स्वरूप एवं उसके अस्तित्व की सिद्धि कीजिए ?

इकाई-5 सांख्यकारिका 21-30 मूलपाठ एवं अर्थ व्याख्या

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 सांख्यकारिका 21-30 मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या
5.4 सारांश
5.5 परिभाषिक शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई मे सांख्यकारिका की 21-30 कारिकाओ का मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या है, 21वीं कारिका में प्रकृति पुरूष के सप्रयोजन सम्बन्ध को बताया गया है। दोनों का संयोग लंगड़े व अन्धे की तरह से है। 22वीं कारिका में प्रकृति से होने वाली 23 तत्वों की सृष्टि का क्रम प्रतिपादित है, जिसमंे प्रकृति से महत, महत से अहंकार, अहंकार से 11 इन्द्रियाँ व 5 तन्मात्र, 5 तन्मात्रों से 5 महाभूतों के उत्पत्ति का संकेत हुआ है। 23वीं कारिका में बुद्धि का लक्षण और उसके 8 अंगों धर्म आदि का प्रतिपादन है। 24वीं कारिका में 1 अहंकार से 2 प्रकार की सृष्टि होने का प्रतिपादन है। यह द्विविध सृष्टि है-(1) 11 इन्द्रियों का समूह व (2) 5 तन्मात्रायें। 25वीं कारिका में वैकृत अहंकार से 11 इन्द्रियों के समूह की उत्पत्ति और भूतादि अहंकार से 5 तन्मात्राओं के समूह की उत्पत्ति का वर्णन है। राजस अहंकार वैकृत और भूतादि अहंकार का सहयोगी है इसका प्रतिपादन है। 26वीं कारिका में श्रोत्र आदि 5 ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक् आदि 5 कर्मेन्द्रियों का नाम निर्देष है। 27वीं कारिका में उभयात्मक इन्द्रिय मन का वर्णन है और एकही अहंकार से 16 पदार्थांेंं का समूह कैसे उत्पन्न होता है इस पर प्रकााश डाला गया है तथा ग्राह्य विषयों के भिन्नता से मन के अनेक रूपात्मक होने का भी गुण है। 28वीं कारिका में श्रोत्र आदि सभी ज्ञानेन्द्रियों के शब्द आदि विषयों के आलोचन मात्र व्यापार को तथा वाक् आदि 5 कर्मेन्द्रियों के वचन आदि 5 व्यापारों का वर्णन किया गया है। 29वीं कारिका में अन्तःकरणों के विशिष्ट एवं सामान्य व्यापार का वर्णन किया गया है तथा प्राण आदि 5 वायुओं के व्यापार का वर्णन किया गया है। 30वीं कारिका में अन्तःकरणों सहित प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि में यौगपद्य एवं क्रम का वर्णन किया गया है। यह इकाई व्यक्त तत्वों के ऊपर पूरी तरह केन्द्रित है।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न तथ्यो से परिचित हो सकेंगें-

1. प्रकृति और पुरूष संयोग का प्रयोजन,
2. सृष्टि क्रम,
3. महत् अहंकार 11 इन्द्रियों पाँच तन्मात्राओं 5 महाभूतों का स्वरूप व व्यापार,
4. अन्तःकरण एवं उनका वाह्य करण के साथ ज्ञानोपलब्धि मे यौगपद्य एवं क्रमादि।

5.3 साख्यकारिका 21-30 मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या-

अवतरणिका-चतुर्थ इकाई में 20वीं कारिका मे प्रकृति एवं पुरूष के संयोग का संकेत किया गया है। प्रकृति पुरूष का संयोग किस प्रयोजन से होता है ? कैसे होता है ? उस संयोग का फल क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है-

पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य1

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत् कृतः सर्ग।ः। का0-21

अन्वय- पुरूषस्य दर्शनार्थं तथा प्रधानस्य कैवल्यार्थं पङ्ग्वन्धवद् उभयोअपिसंयोगःभवति। तत्कृतःसर्गः।

अर्थ- पुरूष द्वारा प्रधान को देखने के लिए और प्रधान द्वारा पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराने के लिए लंगड़े व अन्धे की तरह दोनो का संयोग होता है। उन दोनो के संयोग का फल सृष्टि है।

शारदाव्याख्या- पुरूषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थम्- पुरूष का प्रधान के साथ जो संयोग है वह दर्शन के लिए होता है। प्रकृति, महद् से भूतपर्यन्त जो सृष्टि है उसे पुरूष देखता है।

प्रधानस्य पुरूषेण सह संयोगः कैवल्यार्थम्- प्रकृति का पुरूष के साथ जो संयोग है वह पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराना है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार संयोग का अर्थ सन्निधि है। प्रकृति और पुरूष दोनों का संयोग पंगु और अंधे की तरह से है। पुरूष पंगु है और प्रकृति अंधी है। जिस प्रकार गमन क्रिया में असमर्थ पंगु एवं देखने में असमर्थ अन्धे अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए संयुक्त होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर दोनांे अलग हो जाते हैं ठीक वैसे ही क्रिया रहित शक्ति वाले पुरूष और क्रियावती किन्तु दर्शन शक्ति रहित प्रकृति भी अपने-अपने दर्शन और कैवल्य प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए एक दूसरे से संयुक्त होते हैं और प्रयोजन पूरा करके दोनों वियुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार पुरूष का प्रधान से संयोग का प्रयोजन प्रकृति को विकारों सहित देखना है और प्रकृति का पुरूष से संयोग का प्रयोजन पुरूष का कैवल्य सम्पन्न करना है। प्रकृति पुरूष का कैवल्य सम्पन्न करती है इसे आगे बताया जायेगा।

तत्कृतः सर्गः ताभ्यां कृतः सर्गः –

उन दोनों के संयोग का फल सृष्टि है। जैसे स्त्री-पुरूष मिलकर सन्तान उत्पन्न करते हैं और रमण करते हैं ठीक वैसे ही प्रकृति और पुरूष के संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति से पुरूष का संयोग होने पर शान्त रहने वाली (सदृश परिणाम वाली) प्रकृति में गुणक्षोभ होता है और वह विरूप परिणाम वाली होकर सृष्टि करती है। प्रकृति और पुरूष का संयोग होने पर सर्गावस्था होती है और दोनों का वियोग होने पर प्रलय होता है।

पूर्वापर सम्बन्ध- प्रकृति पुरूष संयोग का फल सृष्टि है। सृष्टि का क्रम क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्.कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पंञ्चभूतानि।। का0-22

1- पुरूषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य- युक्तिदीपिका

अन्वय- प्रकृतेः महान्, ततःअहड्.कारः, तस्माद् षोडशकः गणः च,तस्माद् षोडशकात् अपि पञ्चभ्यः पंञ्चभूतानि भवन्ति।

अर्थ-प्रकृति से महत् उत्पन्न होता है। उस महत् से अहंकार उत्पन्न होता है और उस अहंकार से 16 तत्वों का समूह उत्पन्न होता है ।उन 16 तत्वों के समूह में से पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।

शारदाव्याख्या- प्रकृतेः महान्- प्रकृति से महत् तत्व उत्पन्न होता है। प्रकृति प्रधान माया अव्यक्त ये पर्याय हैं। अन्य किसी कारण में लय को प्राप्त न होने वाली प्रकृति से महत् तत्व उत्पन्न होता है। महत् तत्व को बुद्धि, आसुरी मति, ख्याति, ज्ञान और प्रज्ञा भी कहते हैं।

ततः अहंकारः - उस महत् तत्व से अहंकार उत्पन्न होता हैै। भूतादि वैकृत तैजस् तथा अभिमान पर्याय हैं।

तस्मात् षोडशकः गणः च- और उस अहंकार से 16 तत्वों का समूह उत्पन्न होता है। ये 16 तत्व हैं- 5 ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रवण, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), 5 कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), 1 उभयेन्द्रिय मन, 5 तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

तस्मात् षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि- उन 16 पदार्थाें के समूह में से 5 तन्मात्राओं से 5 महाभूत उत्पन्न होते हैं। शब्द तन्मात्र से आकाश महाभूत होता है। इसमंे शब्द नामक गुण होता है। स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होता है जिसमें शब्द और स्पर्श दो गुण होते हैं। रूप तन्मात्र से अग्नि उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श और रूप गुण होते हैं। रस तन्मात्र से जल उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण होता है। गन्ध तन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होती है। जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण होते हैं। यह 23 तत्व हैं जिन्हंे व्यक्त कहा जाता है। इस में बुद्धि, अहंकार और 5 तन्मात्रायें प्रकृति और विकृति दोनों हैं। 11 इन्द्रियाँ और 5 महाभूत केवल विकार हैं। व्यक्त प्रकृति के सरूप धर्म वाला भी है और उससे विरूप धर्म वाला भी है। जैसे- प्रकृति त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और परिणामी है वैसे ही व्यक्त भी त्रिगुणात्मक अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, और परिणामी हैं। प्रकृति अहेतुमत्, नित्य, प्रवेश और निःसरणरहित व्यापक एक आश्रय, अंिलंग, निरवयव और स्वतन्त्र है। व्यक्त हेतुमत, अनित्य, सक्रिय, व्याप्य, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र हैं। प्रलय अवस्था में व्यक्त अव्यक्त में अवस्थित हो जाया करता है। **पूर्वापर सम्बन्ध**- प्रकृति से महत् तत्व उत्पन्न होता है उसका लक्षण क्या है ? और उसके धर्म कौन-कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहा गया है-

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मा ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। का0-23

अन्वय- अध्यवसायःबुद्धिः। धर्मः ज्ञानं विरागःऐश्वर्यम एतद् सात्त्विकं रूपम्।अस्मात् विपर्यस्तम् एतद् तामसं रूपम्।

अर्थ- निश्चय बुद्धि है अर्थात शरीर मे निश्चय करने वाला तत्व बुद्धि है।धर्म ज्ञान वेैराग्य और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्विक रूप हैं। इनसे विपरीत अधर्म अज्ञान राग तथा अनैश्वर्य इस बुद्धि के तामसिक रूप हैं।

शारदाव्याख्या- अध्यवसायः बुद्धिः- अध्यवस्यति इति अध्यवसायः जो निश्चय करती है वही बुद्धि है। निश्चय करने वाली तत्व को बुद्धि कहते हैं। इसे हम निम्न उदाहरण से भलीभाँति समझ सकते हैं। जब हमें पाँच सौ रूपये का नोट मिलता है तो मन संकल्प विकल्प करता है कि यह असली नोट है या नकली ? विभिन्न लक्षणों के आधार पर जो यह निश्चत होता है कि यह नोट असली ही है। ऐसा निश्चय करने वाली शक्ति ही बुद्धि है।

धर्मः ज्ञानं विरागः ऐश्वर्यं एतद् सात्विकं रूपम्- धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार इस बुद्धि के सात्विक रूप हैं। धर्म का लक्षण है जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस मिले वही धर्म है। यज्ञ आदि लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति के हेतु होने से धर्म हैं और अष्टांग योगानुष्ठान से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस का साधन है। धर्म विषयक यह मत तत्व कौमुदी का है। किन्तु गौडपाद कहते हैं- **तत्र धर्मो नामदयादानयमनियमलक्षणःतत्रयमाःनियमाःचपातंजलेऽभिहिताःअहिंसासत्याऽस्तेय्ब्रह्मच र्यापरिग्रहा यमाः, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।**

धर्म से उर्ध्वगमन होता है। ज्ञान, अवगम, प्रकाश, भान ये सब पर्याय हैं। गीता कहती है- न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ज्ञान से अपवर्ग होता है। ज्ञान के दो भेद हैं- वाह्य और आभ्यन्तर। अंगांे सहित वेद, पुराण, न्याय मीमांसा अन्य भी अपरा विद्यायें वाह्य ज्ञान हैं। आभ्यन्तर ज्ञान प्रकृति और पुरूष का विवेक है। देवी भागवत के अनुसार ज्ञान की तीन भार्या हैं- बुद्धि, मेधा और धैर्य (9.1.114) वाह्य ज्ञान लोकानुराग को बढ़ाता है। किन्तु आन्तरिक ज्ञान मोक्ष देता है। वैराग्य के दो भेद हैं- वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य वैराग्य वह है जो विरक्त पुरूष की प्रत्यक्ष विषयों के प्रति वितृष्णा है। मोक्ष के इच्छुक को जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह आन्तरिक वैराग्य होता है। तत्व ज्ञान रहित वैराग्य से प्रकृति लय होता है। देवी भागवत् के अनुसार वैराग्य की दो भार्यायें हैं- श्रद्धा और भक्ति (9.1.123)। ईश्वर भाव ही ऐश्वर्य है। ये आठ गुण हैं- अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, इशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। ऐश्वर्य से इच्छाओं का हनन नहीं होता है। ये चारों धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्विक बुद्धि के धर्म हैं। इस तरह बुद्धि के आठ अंग हैं। वे हैं धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान,

राग, वैराग्य, ऐश्वर्य अनैश्वर्य।

अस्मात् विपर्यस्तं तामसं- इस सात्विक बुद्धि के विपरीत तामसिक बुद्धि के रूप हैं। ये हैं- अधर्म, अज्ञान, राग तथा अनैश्वर्य। अधर्म से अधोगति होती है, अज्ञान से बन्धन होता है, राग से संसरण होता है तथा अनैश्वर्य से इच्छाओं का हनन् होता है। 23

पूर्वापर सम्बन्ध- महत् तत्व का निरूपण किया गया अब उसके विकार अहंकार का लक्षण क्या है ? उससे होने वाली दो प्रकार की सृष्टि कौन-कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होेने पर कहा गया है-

कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रप´चकश्चैव1।। का0 24

अन्वय- अभिमानः अहंकारः। तस्मात् द्विविधिः सर्ग प्रवर्धते। एकादशकः च गणः। तन्मात्र पंचकः एव च।

अर्थ- अभिमान अहंकार है। उस अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है- 11 इन्द्रियों का समूह और पाँच तन्मात्राओं का समूह।

शारदाव्याख्या- अभिमानः अहंकार- अहंकार अभिमान को कहते हैं। जो यह ग्रहण किया हुआ और विचार किया हुआ विषय है इसमें मैं ही अधिकृत हूँ। इसे करने में मैं ही समर्थ हूँ। ये विषय मेरे लिए ही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है। इस प्रकार का अभिमान अहंकार का असाधारण धर्म होने से अहंकार है।तस्मात् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते। उस अहंकार से दो तरह की सृष्टि होती है। एकादशकः गणः - 11 इन्द्रियों का समूह ही एकादशक गण है। 11 इन्द्रियों में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ और एक उभयेन्द्रिय मन है। 24

पूर्वापर सम्बन्ध- एक अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि कैसे होती है ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।। का0 25।।

अन्वय- वैकृतात् अहंकारात एकादशकः सात्विकः प्रवर्तते। भूतादेः तन्मात्रः प्रवर्तते, सः तामसः। तैजसात्उभयं प्रवर्तते।

अर्थ- वैकृत अहंकार से 11 इन्द्रियों का सात्विक समूह उत्पन्न होता है। भूतादि अहंकार से

पंचतन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है। वह भूतादि अहंकार तामसिक अहंकार है। राजसिक अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं।

शारदाव्याख्या- वैकृतात् अहंकारात एकादशकः सात्विकः प्रवर्तते- वैकृत अहंकार से 11 इन्द्रियों

का सात्विक समूह उत्पन्न होता है। वैकृत अहंकार को सात्विक अहंकार कहते हैं। यह अहंकार की वह अवस्था है जब उसमें सत्वगुण प्रबल होकर रजस् एवं तमस् को अभिभूत किये रहता है। 11 इन्द्रियाँ सात्विक हैं। सात्विक कहने का आशय यह है कि विशुद्ध इन्द्रियाँ ही अपने-अपने आलोचन आदि

1. ऐन्द्रिय एकादशकस्य तन्मात्र पंचकस्यैव युक्तिदीपिका।

क्रियाओं में समर्थ होती हैं।

भूतादेस्तन्मात्रः प्रवर्तते स तामसः - भूतादि अहंकार से 5 तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। भूतादि अहंकार को तामसिक अहंकार कहते हैं। यह अहंकार की वह अवस्था है जिसमें तमोगुण प्रबल होकर अन्य को अभिभूत किये रहता है। पाँच तन्मात्रायें हैं- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

तैजसादुभयम्- तैजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं। रजोगुण की प्रबलता वाले अहंकार को तैजस अहंकार कहते हैं। यह अहंकार की वह अवस्था है जिसमें रजोगुण अन्य को अभिभूत किये रहता है। इसे राजसिक अहंकार भी कहते हैं। यह सात्विक और तामसिक दोनों ही अहंकारों का सहयोगी है। 25

पूर्वापर सम्बन्ध- सात्विक अहंकार से उत्पन्न होने वाली ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ कौन-कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं-

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि1

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि2 कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।। का0 26।।

अन्वय- श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः।

अर्थ-श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाणी, दोनों हाथ, दोनों चरण पायु तथा उपस्थ को कर्मेन्द्रियाँ कहा गया है।

शारदाव्याख्या- श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि- श्रोत्रं च, त्वक् च, चक्षू च, रसनं

च, नासिका च ते आख्यानि इति तानि अर्थात् श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धन् बुद्ध्यन्त इति बुद्धीन्द्रियाणि अर्थात् जो क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान करती हैं वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति माठर में किया है- इन् इति विषयाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि- इन का अर्थ है विषय और उन विषयों में

जो द्रवित होती हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण के विषय क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध हैं। उन्हीं में ये द्रवीभूत होती हैं अर्थात् केवल उन्हीं का आलोचन करती हैं।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः - वाक् च पाणी च पादौ च पायुः च उपस्थं च इति तानि कर्मेन्द्रियाणि कर्म कुर्वन्ति कार्यन्ति च इति कर्मेन्द्रियाणि। वाणी, दोनों हाथ, दोनों पैर, पायु और उपस्थ ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। वचन, आहरण, विहरण, विसर्जन, आनन्द इनके कार्य हैं। वात्सायनभाष्य में

1. चक्षुःश्रोत्रघाणरसनत्वगाख्यानि- तत्वकौमुदी। कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि युक्तिदीपिका

2. वाक्पाणिपादपायूपस्थान्- माठरवृत्तिः, वाक्पाणिपादपायूपस्था युक्तिदीपिका।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय में निम्न विचार मिलता है- जिघ्रति अनेन इति घ्राणं, गन्धं गृहणाति। रस्यति अनेन इति रसनं गृहणाति। चष्टेऽनेनेति चक्षू रूपं पश्यतीति। त्वग्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचार स्थानादिति। श्रृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृहणातीति। एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति। 26

पूर्वापर सम्बन्ध- ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का नाम निर्देश किया गया किन्तु मन का स्वरूप क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।

गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च1 ।। का0 27 ।।

अन्वय- अत्र मनः उभयात्मकम्, मनः संकल्पकम्, साधर्म्यात् इन्द्रियं च, गुणपरिणामविशेषानानात्वम् वाह्यभेदाः च।

अर्थ- इनमें मन उभयात्मक है। संकल्प करने वाला मन है। समान धर्म वाला होने से यह इन्द्रिय है। गुणों के विशिष्ट परिणाम के कारण जैसे विभिन्न वाह्य वस्तुयें उत्पन्न होती हैं वैसे ही वाह्य विषयों से सम्बन्धित मन भी नानात्व को प्राप्त करता है।

शारदा व्याख्या- अत्र मनः उभयात्मकम्- 11 इन्द्रियों में मन उभयेन्द्रिय है। यह ज्ञानेन्द्रियों के साथ ज्ञानेन्द्रियवत् हो जाता है और कर्मेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियवत् हो जाता है।

मनः संकल्पकं- संकल्प और विकल्प करना मन का लक्षण है। संकल्प का अर्थ युक्तिदीपिका मंे अभिलाषा, इच्छा और तृष्णा कहा गया है। यह ज्ञानेन्द्रियों के प्रवृत्ति की कामना करता है अतः यह

संकल्पक है। पंचदशी में मन को विमर्श रूप कहा गया है- मनोविमर्शरूपं स्यात्। भगवान कृष्ण ने अपने को इन्द्रियों में मन बताया है- इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।

साधर्म्यात् इन्द्रियं च- 10 इन्द्रियों के समान धर्म वाला होने से मन भी इन्द्रिय है। जैसे- कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ सात्विक अहंकार से उत्पन्न हैं वैसे ही मन भी सात्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रिय है। मन के महत्व को बृहदारण्यक 1.5.3 में बताया गया है- अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति। अर्थात् मेरा मन दूसरी जगह था अतः मैंने नहीं देखा। मेरा मन दूसरी जगह था अतः मैं नहीं सुन सका। (ऐसा जो मनुष्य कहता है इससे निश्चय होता है कि) वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है।

गुणपरिणामविशेषानानात्वम् ग्राह्यभेदाच्च- गुणों के परिणाम विशेष से विभिन्न वाह्य वस्तुयें उत्पन्न होती हैं। वैसे ही मन भी अन्य इन्द्रियों के संग से अनेक रूपात्मक होता है। सांख्यप्रवचन भाष्य में कहा गया है- यथा एक एव नरः सङ्गवसान्नानात्वं भजते कामिनी संङ्गात कामुको विरक्तसङगाद्विरक्तोऽन्यसङ्गाच्चान्यः एवं मनोऽपि चक्षुरादि सङ्गाचक्षुराद्येकीभावेन

1. वाह्यभेदाश्च- तत्वकौमुदी

दर्शनादिवृत्तिविशिष्टतया नानाभवति। 27

पूर्वापर सम्बन्ध- 26वीं कारिका में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का नाम परिगणन किया गया किन्तु इनके विशेष व्यापार क्या हैं ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

शब्दादिषु1 पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च2 पंचानाम्।। का0 28 ।।

अन्वय- शब्दादिषु पंचानामालोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पं ्चानाम्।

अर्थ- शब्द आदि पांचों विषयों का केवल निर्विकल्पक ज्ञान करना ही पांचों ज्ञानेन्दियां के व्यापार कहे जाते हैं और बोलना, लेना, विहार, उत्सर्ग तथा रमण पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार कहे जाते हैं।

शारदाव्याख्या- शब्दादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः -शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का निर्विकल्पक ज्ञान क्रमशः श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण के द्वारा होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ केवल अपने-अपने विषयों का ही ज्ञान प्राप्त करती हैं। आलोचन का अर्थ श्लोकवार्तिक मं निर्विकल्पक किया गया है- अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पं´चानाम्- बोलना, आदान, विहार, उत्सर्ग तथा रमण करना क्रमशः वाक्, पाणि, पाग, पायु और उपस्थ के असाधारण व्यापार हैं। प्रश्न उपनिषद में इन्द्रियों की क्रियाओं का वर्णन मिलता है- चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च,

घ्राणं च, घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं, चोपस्थश्च चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च वोद्धव्यं च अहंकारश्चाहङ्कर्तव्यं च 4.8 । 28

पूर्वापर सम्बन्ध- बुद्धि, मन और अहंकार अन्तःकरण हैं तथा 10 इन्द्रियाँ वाह्यकरण हैं। अन्तःकरणों के विशिष्ट एवं सामान्य व्यापार क्या हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है-

स्वलक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच।। का0 29 ।।

अन्वय- त्रयस्य स्वालक्षण्यं वृत्तिः सा एषा असामान्या भवति। प्राणाद्याः पं´्चवायवः सामान्यकरणवृत्तिः भवन्ति।

अर्थ- तीनों (बुद्धि अहंकार और मन) के अपने लक्षण (अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प) ही व्यापार हैं और ये ही इनके विशेष व्यापार हैं। प्राण आदि पाँच वायु इनके साधारण व्यापार हैं।

1. रूपादिषु- तत्वकौमुदी।

2. ....नन्दास्तु- माठरवृत्ति। 3. स्वालक्षण्या माठरवृत्तिः

शारदाव्याखा- त्रयस्य स्वालक्षण्यां वृत्तिः सा एषा असामान्या अर्थात् तीनों बुद्धि अहंकार एवं मन के अपने-अपने लक्षण ही इनके व्यापार हैं। बुद्धि का लक्षण अध्यवसाय है। अहंकार का लक्षण अभिमान है और मन का लक्षण संकल्प है। निश्चय मैं हूँ और संकल्प विकल्प ये तीनों बुद्धि आदि के असाधारण व्यापार हैं।

प्राणाद्याः पंचवायवः सामान्यकरणवृत्तिः भवन्ति प्राणादि पंचवायु इनके साधारण व्यापार हैं। ये पांच वायुयें है- अपान, प्राण, समान, उदान, व्यान। प्राण वायु वाक् एवं मन से उत्पन्न हुआ है। (वृह्दारण्यक 1.5.12) वेदान्त सार में पंचप्राणों पर निम्नवत् प्रकाश डाला गया है-प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।अपानोनामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती।व्यानोनामविश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती।उदानो नाम् कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुउत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।सुवर्ण स्मृति शास्त्र में इसकी व्याख्या निम्नवत् है- यथा पंजरे शुकः शुकचलनात् पंजरं चलति तथा इन्द्रियाण्यपि। प्राणवायुचलनात् त्रयोदशेन्द्रियाणि चलन्ति।ठीक

ऐसी ही व्याख्या गौडपाद की भी है- प्राणोऽपि पंजरशकुनिवत् सर्वस्य चालनं करोति इति।तत्व कौमुदी एवं विद्वततोषिणी में करणों से पाँच वायुओं के व्यापार का होना बताया गया है। जबकि गौड पाद और सुवर्णसप्ततिकार ने पांच वायुवों को तेरह करणों के व्यापार का कारण मानते हैं।गौड पाद के मत का आधार कदाचित् प्रश्नोपनिषद का निम्न प्रसंग है-

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रम इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजनमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एवं प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति 2.4 । 29

पूर्वापर सम्बन्ध- अन्तःकरणों एवं वाह्यकरणों के व्यापार का क्रम क्या है ? ऐसी आशंका होे ने पर कहा गया है-

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।

दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः।। का0 30 ।।

अन्वय- दृष्टे तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः तु युगपत् क्रमशः च निर्दिष्टा तथा अदृष्टे त्रयस्य वृत्तिः तत्पूर्विका भवति।

अर्थ- प्रत्यक्ष के विषय में उन चारों का व्यापार कभी एक साथ एवं कभी क्रमशः भी होता है। किन्तु अप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में तीनों अन्तःकरणों का व्यापार एक साथ और क्रमशः प्रत्यक्ष पूर्वक होता है।

शारदाव्याख्या- दृष्टे तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः तु युगपत् क्रमशः च निर्दिष्टा- प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ के विषय में उन चारों (बुद्धि, अहंकार, मन का एक-एक इन्द्रिय से सम्बन्ध होने से चतुष्टय बनता है।) का व्यापार एक साथ और क्रमशः होता है। पाँच चतुष्टय हैं- बुद्धिअहंकारमनश्रोत्रचतुष्टय, बुद्धिअहंकारमनत्वकचतुष्टय्, बुद्धिअहंकारमनजिह्वाचतुष्टय, बुद्धिअहंकारमनघ्राणचतुष्टय। इन पाँचों चतुष्टयों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध का ज्ञान कभी-कभी क्रमशः भी होता है और कभी-कभी एक साथ भी होता है। युगपत ज्ञान भी वस्तुत क्रम पूर्वक ही होता है किन्तु उसमें नगण्य समय लगने से युगपद कहा जाता है। युगपद ज्ञान का उदाहरण है- सर्प को देखकर संकल्प विकल्प अहंकार और वहाँ से पलायन का निश्चय चारों का एक साथ ही हो जाना युगपद ज्ञान है।

तथा अदृष्टेऽपि त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः - अदृष्ट अर्थात् भूतकालिका एवं भविष्यतकालिक विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। प्रत्यक्ष की गयी वस्तु का ही बाद में अनुमान तथा स्मरण होता है। कभी भी न देखी गयी वस्तु का न तो अनुमान ही होता है और न प्रत्यक्ष ही। मन अहंकार तथा बुद्धि पहले प्रत्यक्ष की गयी वस्तु के विषय में ही अपना व्यापार करते हैं। बुद्धि, अहंकार और मन का भूतकाल और भविष्यतकालीन पदार्थ से सम्बन्धित ज्ञान प्रत्यक्ष पूर्वक और क्रमशः होता है

जबकि वर्तमान काल के विषय में युगपद और क्रमशः दोनों होता है। 30

अभ्यास प्रश्न-

प्रश्न-1. पुरूष का प्रधान के साथ संयोग का प्रयोजन प्रकृति को विकारों सहित देखना है ....यह कथन है-

(a). असत्य (b). सत्य

(c). दोनों (d). इनमें से कोई नहीं।

प्रश्न-2. प्रकृति का पुरूष के साथ संयोग का प्रयोजन है-

(a). प्रकृति को देखना (a). पुरूष का कैवल्य सम्पन्न कराना

(c). दोनों (d). इनमें से कोई नहीं।

प्रश्न-3. प्रकृति से कुल कितने तत्व उत्पन्न होते हैं-

(a). 23 (b). 22

(c). 20 (d). 24

प्रश्न-4. आठ अंग हैं-

(a). अहंकार के (b). बुद्धि के

(c). मन के (d). अव्यक्त के

प्रश्न-5. सात्विक अहंकार से उत्पन्न होता है-

(a). मन (b). पांच ज्ञानेन्द्रियां

(c). पांच कर्मेन्द्रियां (d). ये सभी

प्रश्न-6. धर्म ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य लक्षण हैं-

(a). सात्विक बुद्धि के (b). राजसिक बुद्धि के

(c). तामसिक बुद्धि के (d). इनमंे से कोई नहीं

प्रश्न-7. बुद्धि मेधा और धैर्य किसकी भार्या हैं-

(a). ज्ञान (b). अज्ञान

(c). धर्म (d). अधर्म

प्रश्न-8. वैराग्य की भार्या हैं-

(a). श्रद्धा (b). भक्ति

(c). दोनों (d). इनमंे से कोई नहीं

प्रश्न-9. अहंकार से सृष्टि होती है-

(a). दो प्रकार के (b). तीन प्रकार के

(c). चार प्रकार के (d). इनमंे से कोई नहीं

प्रश्न-10. तामसिक अहंकार से उत्पन्न हैं-

(a). मन (b). पंचमहाभूत

(c). पंचतन् मात्रायें (d). इनमंे से कोई नहीं

प्रश्न-11. आकाश महाभूत उत्पन्न होता है-

(a). गन्ध तन्मात्र से (a). शब्द तन्मात्र से

(c). रूप तन्मात्र से (d). इनमंे से कोई नहीं

प्रश्न-12. संकल्प विकल्प करने वाला है-

(a). मन (b). बुद्धि

(c). अहंकार (d). ये सभी

प्रश्न-13. श्रवण इन्द्रिय आलोचन करती है-

; (a). गन्ध का (b). रस का

(c). रूप का (d). शब्द का

प्रश्न-14. स्वालक्षण्यावृत्ति वाले हैं-

(a). मन (b). अहंकार

(c). बुद्धि (d). ये तीनों

प्रश्न-15. किस इकाई में कुल कारिकायें हैं-

(a). 6 (b). 8

(c). 10 (d). 12

प्रश्न-16. अभिमान लक्षण है-

(a). बुद्धि का (b). मन का

(c). दोनों का (d). इनमंसे कोई नहीं

5.4 सारांश-

प्रस्तुत इकाई मंे कुल 10 कारिकायें हैं। प्रकृति और पुरूष के मिलन से ही सृष्टि होती है। यह सांख्य की मान्यता है। सांख्य दर्शन ने सृष्टि की व्याख्या चेतन व अचेतन चेतन के संयोग से माना है। पुरूष का प्रकृति से संयोग का प्रयोजन प्रकृति को उसके विकारों के सहित देखना है और प्रकृति का पुरूष से संयोग का प्रयोजन पुरूष का कैवल्य सम्पन्न करना है। दोनों का संयोग लंगड़े व अन्धे की तरह से होता है। चेतन पुरूष के संयोग से प्रकृति में गुण क्षोभ होता है और वह विरूप परिणाम वाली होकर सृष्टि करती है। प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से द्विविध सृष्टि 1. 11 इन्द्रियों का समूह, व 2. 5 तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। 5 तन्मात्राओं से 5 महाभूत उत्पन्न होते हैं। महत् तत्व को बुद्धि भी कहते हैं। महत् तत्व विश्व का बीज है। बुद्धि का धर्म निश्चय करना है। इसके सात्विक और तामसिक दो स्वरूप हैं। सात्विक स्वरूप के चार अंग हैं- धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य और तामसिक बुद्धि के चार अंग हैं- अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य। मैं ज्ञानवान हूँ ऐसा अभिमान करने वाला तत्व अहंकार है। इसके सात्विक राजसिक व तामसिक 3 स्वरूप हैं। सात्विक अहंकार से 11 इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तामसिक अहंकार से 5 तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। मन 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां ये 11 इन्द्रियां हैं। मन विमर्श रूप है। यह उभयेन्द्रिय है। ग्राह्य विषयों के सम्पर्क से यह अनेक रूपतामक होता हैै। श्रोत्र त्वक नेत्र जिह्वा और नासिका ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। ये क्रमशः शब्द मात्र, स्पर्श मात्र रूप मात्र और गन्ध मात्र का आलोचन करती हैं। वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ ये कर्मेन्द्रियां हैं। बोलना, लेना विहार करना, विसर्जन करना और रमण करना इनके व्यापार हैं। अन्तःकरणों का उनका अपना व्यापार असाधारण व्यापार है। प्राणादि 5 वायु इनके साधारण व्यापार

हैं। पंच प्राण हैं- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। ज्ञानोत्पत्ति में चतुष्टयों का व्यापार युगपद और क्रमशः हुआ करता है।

5.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.b	2.b	3.a	4.b	5.d
6.a	7.a	8.c	9.a	10.c
11.b	12.a	13.c	14.d	15.c
16.d				

5.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1.सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0श्री ज्वाला प्रसाद गौड,प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2. सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3. सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कृष्णदास अकादमी वाराणसी,संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

5.सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवक

5.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

आप इस इकाई का अध्ययन के लिए अधोलिखित पाठ्य सामग्री का उपयोग कर सकते है-

1.सांख्यकारिका-गौडपादभाष्यसमन्विता लेखक ईश्वरकृष्ण-व्याख्याकार पं0श्री ज्वाला प्रसाद गौड,प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण 2004।

2.सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा-व्याख्याकार डा0 आद्या प्रसाद मिश्र,प्रकाशक- अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1994

3.सांख्यकारिका युक्तिदीपिका सहित-व्याख्या डा0 रमाशंकर त्रिपाठी प्रकाशक कष्णदास अकादमी वाराणसी,संस्करण -1999

4. सांख्यकारिका माठरवृत्ति व जयमंगला समन्वित-संशोधक सत्कारि शर्मा वंगीय प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी तृतीय संस्करण 1994

,5. सांख्यदर्शनम्-सांख्यप्रवचनभाष्यसहित सम्पादक डा0 पं0 गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. प्रकृति और पुरूष का सम्बन्ध व सृष्टिक्रम बताइये ?

प्रश्न 2. व्यक्त तत्वों को विस्तार पूर्वक समझाइये।

खण्ड 3- वेदान्तसार

इकाई 1. वेदान्त दर्शन का ऐतिहासिक स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 वेदान्त दर्शन की ऐतिहासिकता
1.3.1 अद्वैत वेदांत
1.3.2 विशिष्टाद्वैत वेदांत
1.3.3 द्वैत वैदांत
1.3.4 द्वैताद्वैत वेदांत
1.3.5 शुद्धाद्वैत वेदांत
1.3.6 अचिन्त्य भेदाभेद वेदांत
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
1.10निबन्धात्मक प्रश्न

1.1प्रस्तावना

वेदान्तसार नामक ग्रन्थ के विस्तृत अध्ययन हेतु निर्मित इस खण्ड की यह प्रथम इकाई है। वेदान्तसार नामक ग्रन्थ के गूढ अध्ययन हेतु इस इकाई में आप वेदान्त में वर्णित सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले आचार्यों का परिचय प्रा्रपत करते हुए सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन की ऐतिहासिकता को जानेगें।

गुरू एवं आचार्य के रूप में विश्रुत होंने के लिए उपनिषदों पर जिन आचार्यों नें टीका ग्रन्थ अथवा पुस्तकें लिखकर वेदान्त को अग्रसरित होने में योगदान दिया वे आज भी भारतीय मनीषा में स्मरणीय हैं। वैसे तो भारतीय दर्शन की परम्परा लगभग पॉच हजार वर्ष से कम पुरानी नहीं है। वेदान्त दर्शन के प्रारम्भिक आचार्यों से लेकर आज तक के सभी प्रणेताओं के संक्षिप्त परिचय इस इकाई के अन्तर्गत आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप वेदान्त दर्शन की सम्पूर्ण ऐतिहासिकता का संक्षेप किन्तु विस्तृत अवलोकन करते हुए इस दर्शन की अति प्राचीनता और चिरनवीनता का ज्ञान कराएंगे।

1.2 उद्देश्य

वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि –

गौडपादाचार्य के बारे में समझा सकेगें।

- वेदान्त दर्शन की ऐतिहासिकता को बता सकेगें।
- आदि शंकराचार्य का परिचय दे सकेगे।
- द्वैत वेदान्त के बारे में जान सकेगें।
- मध्ववेदान्त का परिचय दे सकेगें।
- चैतन्य महाप्रभु के बारे में बता सकेगें।

1.3 वेदान्त दर्शन की ऐतिहासिकता

वेदान्त ज्ञानयोग की एक शाखा है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उत्प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्त्रोत उपनिषद है जो वेद ग्रंथो और अरण्यक ग्रंथों का सार समझे जाते हैं। वेदान्त की तीन

शाखाएँ जो सबसे ज्यादा जानी जाती हैं वे हैं: अद्वैत वेदांत, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत। आदि शंकराचार्य, रामानुज और श्री मध्वाचार्य जिनको क्रमश: इन तीनो शाखाओं का प्रवर्तक माना जाता है, इनके अलावा भी ज्ञानयोग की अन्य शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ अपने प्रवर्तकों के नाम से जानी जाती हैं जिनमें भास्कर, वल्लभ, चैतन्य, निम्बारक, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, और विज्ञान भिक्षु. आधुनिक काल में जो प्रमुख वेदांती हुये हैं उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, अरविंद घोष, स्वामी शिवानंद और रमण महर्षि उल्लेखनीय हैं. ये आधुनिक विचारक अद्वैत वेदांत शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वेदांतो के प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों को भारत में भलिभाँति प्रचारित किया है परन्तु भारत के बाहर उन्हें बहुत कम जाना जाता है।

ऐतिहासिक रुप से किसी गुरु के लिये अचार्य बनने / समझे जाने के लिये वेदांत की पुस्तकों पर टीकाएँ या भाष्य लिखने पड़ते हैं। इन पुस्तकों में तीन महत्वपूर्ण पुस्तक शामिल हैं उपनिषद, भगवद गीता, और ब्रह्मसूत्र. तदनुसार आदि शंकराचार्य, रामानुज और मध्वाचार्य तीनों ने इन तीन महत्वपूर्ण पुस्तकों पर विशिष्ट रचनायें दी हैं।

आदिम मनुष्य प्रकृति के रूपों को देखकर आश्चर्य करता है, उनकी पूजा करने का विधान बनाता है। कर्मकांड का इस प्रकार विकास हो जाने पर सुस्थिर चित्त से मनुष्य उनके पीछे कार्य कर रहे नियमों का चिंतन करने लगता है और यहीं उसकी जिज्ञासा प्रारंभ होती है। स्व का पर के साथ संबंध होने पर स्व और पर के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध के बारे में स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है। यदि स्व जीव है तो पर को जगत् कहा जा सकता है। स्व और पर में विभिन्नता प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर होती है पर प्रत्यक्ष से आगे विचार करने पर मनुष्य स्व-पर में समान रूप से रहनेवाले तत्व विशेष (ब्रह्म) की कल्पना करता है। उपनिषदों में कर्मकांड को 'अवर' कहकर ज्ञान को इसलिए महत्व दिया गया कि ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है। ब्रह्म, जीव और जगत् का ज्ञान पाना उपनिषदों की मूल शिक्षा है। कालांतर में जिन ग्रंथों में उपनिषद् की परंपरा का पालन करते हुए इन विषयों पर विचार किया गया, उनको भी 'वेदांत' कहा जाने लगा। भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के साथ मिलकर वेदांत की 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं।
तीनों ग्रंथों में प्रगट विचारों का कई तरह से व्याख्यान किया जा सकता है। इसी कारण से ब्रह्म, जीव तथा जगत् के संबंध में अनेक मत उपस्थित किए गए और इस तरह वेदांत के अनेक रूपो का निर्माण हुआ।
वेदान्त दर्शन की आचार्य परम्परा वस्तुत: अत्यन्त प्राचीन है बादरायणकृत वेदान्त सूत्रों में आचार्य बादरायण् ने विभिन्न अन्य समकालीन आचार्यो के मत का संग्रह किया है वे विभिन्न मत कहीं तो आचार्य बादरायण के अपने मतों के समर्थक हैं और कही उनसे विरोध दर्शाते है। एवं विध कुछ

वेदान्ताचार्यो के नाम ज्ञात होते हैं तथा उनके मतो का भी संकेत मिलता है।

गौडपाद - यद्यपि अद्वेतवेदान्त की गुरू परम्परा अतिप्राचीन है, किन्तु गोडपाद आचार्य के समय से वह परम्परा ऐतिहासिक प्रामाणिकता को प्राप्त कर लेती है।

वास्तव मे अद्वैतवाद के प्रथम प्रवर्तक आचार्य गोडपाद ही सिद्व होते है । सर्वप्रथम अद्वैतवेदान्त के सिद्वान्तो का क्रमबद्व रूप में प्रतिपादन इन्ही के द्वारा हुआ है। विद्वानों का विचार है कि गौडपाद आचार्य का अद्वैतवाद बौद्ववाद पर आधारित है । डॉ0 दास गुप्ता का तो यह विश्वास है कि आचार्य गौडपाद सम्भवत: बौद्व ही थे , किन्तु डॉ0 शर्मा का कथन है कि गौडपादाचार्य के मायावाद का मुख्य प्रयोजन बौद्व-दर्शन का समर्थन न होकर उपनिषद् विचारधारा का स्पष्टीकरण है, इसलिए इनके मायावाद को बौद्व शून्यवाद अथवा विज्ञानवाद पर आधारित न मानकर उपनिषद् दर्शन पर ही प्रतिष्ठित मानना चाहिए ।
गौडपाद आचार्य की प्रसिद्व कृति माण्डूक्योपनिषद् पर आधारित माडूक्यकारिका है । यह ग्रन्थ चार प्रकरणों में विभक्त है- 1- आगम प्रकरण 2- नैतथ्य प्रकरण 3- अद्वैत प्रकरण और 4- अतीत शान्ति प्रकरण ।
माण्डूकय कारिका से गौडपाद के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । वह अनादि माया को ही द्वैत कारण मानते है । (सृष्टी के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह अनुभाविक रूप से ही सत्य है यथार्थ सत्ता नहीं, वह स्वप्न भ्रन्ति है और समस्त भेद प्रतीतिरूप है) मायिक जगत् के लिए उन्होंने स्वप्न , मरीचिका जल एवं गांधर्व नगर आदि के दृष्टान्त दिये हैं । यथार्थ सत्ता एकमा आत्मा हैं । यह सदैव अजन्मा , जागृत , स्वप्नरहित स्वप्रकाश है ।

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय माण्डूक्य कारिका के अतिरिक्त उत्तरगीता का भाष्य भी इन्हीं की कृति बताते हैं । इनका काल अधिकांशत: आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ अथवा सातवीं शताब्दी का अन्त निश्चित किया जाता है ।

गोविन्दपाद – गौडपादाचार्य के शिष्य तथा आचार्य शंकर के गुरू थे, किन्तु इनके विषय में अधिक प्रामाणिकता सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है । माधवाचार्य ने सवदर्शनसंग्रह में रसेश्वर दर्शन के अर्न्तगत रसहृदय नाम से कुछ श्लोक उद्रधृत किये है । श्रीयुत बलदेव उपाध्याय वहॉ उल्लिखत इस ग्रन्थ को गोविन्द की कृति बताते है ।

आचार्य शंकर – आचार्य शंकर बौद्विक जगत की वह महिमामय विभूति हैं,जिन्हें पाकर भारत भूमि धन्य हो गई । वे दार्शनिक नाभमण्डल का ऐसा तेजोमय सूर्य सिद्व हुए जिसके प्रकाश को देश , काल की सीमायें अवरूद्व न कर सकीं । तभी तो वह विश्वव्यापी ख्याती अर्जित कर सके । क्या पौर्वात्य , क्या पाश्चात्य सभी विद्वान उनके ज्ञान की महानता के समक्ष नामित हो गये । डॉ0 घाटे ने उन्हें

अद्वैतवाद का सर्वोच्च माना है और टोमलिन का कथन है- शंकर उन सअ दार्शनिकों में महान हैं , जिन्हें आज पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिकतर प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। भाष्य स्तोत्र और प्रकरण इनकी तीन प्रकार की कृतियॉं हैं।

आचार्य शंकर का सिद्वान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्व है। सत्ताओं के पृथक् महत्व को अस्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। आचार्य के अद्वैत का मूल- मन्त्र है, " ब्रहमा सत्यं जगन्मिथ्या।" ब्रहमा के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं को मिथ्या की सिद्वि हेतु उन्होंने मायावाद की स्थापना की। विद्वानों का कथन है कि शंकर का मायावाद गौड.पादाचार्य के मायावाद से प्रभावित है। आचार्य शंकर ने माया शब्द का प्रयोग अविद्या, अज्ञान, भ्रम, मृगतृष्णिका आदि अर्थो में किया है। मायावाद शंकर का वह अमोघ मन्त्र है जिसके द्वारा ब्रहमा और जगत् के सम्बन्ध की पहेली को सुलझा सके है। जगत् ब्रहमा का विवर्तमात्र है जैसे रज्जू में सर्प ।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे आचार्य का मत है कि वह तो स्वत: सिद्व है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को सदैव रहता है। आत्मा शंकर का दृष्टिकोण निराशावादी अथवा पलायनवादी नहीं है। मोक्षएक व्यवहारिक सत्य है। इसके लिए उन्होंने ज्ञान, कर्म और उपासना आदि सभी की उपादेयता स्वीकार की है। यही कारण है कि शंकर के सिद्वान्त केवल ज्ञानियों और योगिता को ही नही वरन् साधारण मानव को भी प्रभावित करते है।

आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त की जिस धारा को गति दी उसे और अधिक प्रगति की ओर उनके योग्य शिष्य प्रशिष्य ले गये। आचार्य शंकर से आगे चलने वाली वेदान्ताचार्यो की पंक्ति अत्यंन्त दीर्घ है। उनमें से कुछ ने वेदान्त साहित्य को अत्यन्त समृद्व किया।

वाचस्पति मिश्र- आचार्य शंकर के समान ही वाचस्पति मिश्र भी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा वाले आचार्य थे। इन्होंने प्राय: आचार्य थे । इन्होंने प्राय: सभी दर्शनों के साहित्य को समृद्व किया। वेदान्त के व्रहमशंकर शांकरभाष्य पर भामती टीका इनके वेदान्तसार की परिचायिका है। इनका काल नौवीं शताब्दी निश्चित है

विद्यारण्य - विद्यारण्य मुनि का नाम 'माधव ' बताया जाता है। अपने जीवन के प्रारम्भ में यह माधव नाम मन्त्री पद पर कार्य करते रहे। तदुपरान्त सन्यास की दीक्षा लेकर विद्यारण्य नाम से श्रृंगेरी मठ के अध्यक्ष बने। इनका स्थितिकाल 1296 ई0 से 1386 ई0 तक निश्चित किया जाता है। जीवन्मुक्ति , विवेक तथा पञ्चदशी विद्यारण्य तथा भारती तीर्थ की सम्मिलित रचना बताई जाती है।

आनन्दगिरी – आनन्दगिरी शंकर के प्रधान शिष्यों में से थे। शंकरभाष्य पर न्यायनिर्णय नामक टीका इनका प्रसिद्व ग्रन्थ है।

मधुसूदन सरस्वती – यह सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्व वेदान्ती हैं। इनकी प्रसिद्व कृति न्यायामृत की समीक्षा रूप में अद्वैत सिद्वी है। यह अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। संक्षेपशारीरिकटीका , गूढार्थदीपिका, सिद्वान्तबिन्दु , वेदान्तकल्पलतिका इत्यादि अन्य कृतिया हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्र - 16 वीं शताब्दी के अन्य आचार्य हैं – धर्मराजाध्वरीनद्र । इनकी उंत्कृष्ट प्रतिभा और विद्वता का परिचायक ग्रन्थ हैं - ' वेदान्तपरिभाषा ' । इसका अध्ययन वेदान्त के प्रमाण सम्बन्धी ज्ञान के लिए आवश्यक तथा उपयोगी है । बेदान्त –परिभाषा पर इनके पुत्ररचित ' शिलामणि ' नामक व्याख्या भी उपलब्ध है ।

सदानन्द – सदानन्द योगीन्द्र भी 16वीं शताब्दी के वेदान्ताचार्य हैं इनकी ख्यातिप्राप्त कृति वेदान्तसार है । यह सम्पूर्ण वेदान्त –सिद्वान्त का परिचायक ग्रन्थ वेदान्त का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपादेय है । वेदान्तसार पर नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी ,आपदेव ने बालबोधिनी तथा स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरन्जन टींकायें रचीं ।
इन महाविभूतियों के अतिरिक्त अद्वैव वेदान्त साहित्य को अन्य अनेक विद्वानों ने भी समृद्व किया । इनमें श्रीहर्ष , सर्वज्ञात्मुनि , अत्पदीक्षित , प्रकाशात्मा , ब्रहमानन्द सरस्वती , नारायणतीर्थ , सदानन्द यति प्रभृति का नाम विशेषोल्लेखनीय है ।

1.3.1 अद्वैत वेदांत

(300 ई.) तथा उनके अनुवर्ती आदि शंकराचार्य (700 ई.) ब्रह्म को प्रधान मानकर जीव और जगत् को उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तत्व को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिए। नाशवान् जगत तत्वशून्य है, जीव भी जैसा दिखाई देता है वैसा तत्वत: नहीं है। जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में जीव जगत् में रहता है परंतु सुषुप्ति में जीव प्रपंच ज्ञानशून्य चेतनावस्था में रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव का शुद्ध रूप सुषुप्ति जैसा होना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था अनित्य है अत: इससे परे तुरीयावस्था को जीव का शुद्ध रूप माना जाता है। इस अवस्था में नश्वर जगत् से कोई संबंध नहीं होता और जीव को पुन: नश्वर जगत् में प्रवेश भी नहीं करना पड़ता। यह तुरीयावस्था अभ्यास से प्राप्त होती है। ब्रह्म-जीव-जगत् में अभेद का ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् जीव में तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। तीनों में वास्तविक अभेद होने पर भी अज्ञान के कारण जीव जगत् को अपने से पृथक् समझता है। परंतु स्वप्नसंसार की तरह जाग्रत संसार भी जीव की कल्पना है। भेद इतना ही है कि स्वप्न व्यक्तिगत कल्पना का परिणाम है जबकि जाग्रत अनुभव-समष्टि-गत महाकल्पना का। स्वप्नजगत् का ज्ञान होने पर दोनों में मिथ्यात्व सिद्ध है। परंतु बौद्धों की तरह वेदांत में जीव को जगत् का अंग होने के कारण मिथ्या नहीं माना जाता। मिथ्यात्व का अनुभव करनेवाला जीव परम सत्य है, उसे मिथ्या मानने पर सभी ज्ञान को मिथ्या मानना होगा। परंतु जिस रूप में जीव संसार में व्यवहार करता है उसका वह रूप अवश्य मिथ्या है। जीव की तुरीयावस्था भेदज्ञान शून्य शुद्धावस्था है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का संबंध मिथ्या संबंध है। इनसे परे होकर जीव अपनी शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में भेद का लेश भी नहीं है क्योंकि भेद द्वैत में होता है। इसी अद्वैत अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। तत्व असीम होता है, यदि दूसरा तत्व भी हो तो पहले तत्व की सीमा हो जाएगी और

सीमित हो जाने से वह तत्व बुद्धिगम्य होगा जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद प्रतिभासित होने लगेगा। अनुभव साक्षी है कि सभी ज्ञेय वस्तुएँ नश्वर हैं। अत: यदि हम तत्व को अनश्वर मानते हैं तो हमें उसे अद्वय, अज्ञेय, शुद्ध चैतन्य मानना ही होगा। ऐसे तत्व को मानकर जगत् की अनुभूयमान स्थिति का हमें विवर्तवाद के सहार व्याख्यान करना होगा। रस्सी में प्रतिभासित होनेवाले सर्प की तरह यह जगत् न तो सत् है, असत् है। सत् होता तो इसका कभी नाशश् न होता, असत् होता तो सुख, दु:ख का अनुभव न होता। अत: सत् असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय अवस्था ही वास्तविक अवस्था हो सकती है। उपनिषदों में नेति कहकर इसी अज्ञातावस्था का प्रतिपादन किया गया है। अज्ञान भाव रूप है क्योंकि इससे वस्तु के अस्तित्व की उपलब्धि होती है, यह अभाव रूप है, क्योंकि इसका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है। इसी अज्ञान को जगत् का कारण माना जाता है। अज्ञान का ब्रह्म के साथ क्या संबंध है, इसका सही उत्तर कठिन है परंतु ब्रह्म अपने शुद्ध निर्गुण रूप में अज्ञान विरहित है, किसी तरह वह भावाभाव विलक्षण अज्ञान से आवृत्त होकर सगुण ईश्वर कहलाने लगता है और इस तरह सृष्टिक्रम चालू हो जाता है। ईश्वर को अपने शुद्ध रूप का ज्ञान होता है परंतु जीव को अपने ब्रह्मरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना के द्वारा ब्रह्मीभूत होना पड़ता है। गुरु के मुख से 'तत्वमसि' का उपदेश सुनकर जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है। उस अवस्था में संपूर्ण जगत् को आत्ममय तथा अपने में सम्पूर्ण जगत् को देखता है क्योंकि उस समय उसके (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं होता। इसी अवस्था को तुरीयावस्था या मोक्ष कहते हैं।

1.3.2 विशिष्टाद्वैत वेदांत

रामानुजाचार्य ने (11वीं शताब्दी) शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है। मोक्ष होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत् और जीव अलग अलग रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत् जड़ है, जीव अज्ञान और दु:ख से घिरा है। ये तीनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्व नहीं है, ये ब्रह्म की सेवा करने के लिए ही हैं। इस दर्शन में अद्वैत की जगह बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करनेवाला एक तत्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैत मत में भेदरहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिए शंकर का शुद्ध अद्वय ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें सभी सत् गुण विद्यामान हैं। अत: ब्रह्म वास्तव में शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर निर्मित है। ये ब्रह्म में, मोक्ष हाने पर, लीन नहीं होतीं; इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इस तरह

ब्रह्म अनेकता में एकता स्थापित करनेवाला सूत्र है। यही ब्रह्म प्रलय काल में सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है। यही कार्य ब्रह्म कहा जाता है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं जो लक्ष्मी (शक्ति) के साथ बैकुंठ में निवास करते हैं। भक्ति के द्वारा इस नारायण के समीप पहुँचा जा सकता है। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है और यह भगवद्ज्ञानमय है। भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण-गत भेद का स्थान नहीं है। सबके लिए भगवत्प्राप्ति का यह राजमार्ग है।

अभ्यास के प्रश्न

निम्नलिखित के सही विकल्प चुनकर लिखिए

1.वेदान्त का मुख्य स्रोत है

क. गीता ख. महाभारत
ख. पुराण घ. उपनिषद्

2. मध्वाचार्य प्रवर्तक हैं

क. अद्वैत दर्शन के ख. द्वैत दर्शन के

ग. चार्वाक के घ . बौद्ध के

3.मध्वाचार्य का समय क्या है

क. 11z97 ई. ख. 1208 ई.

ग. 1390ई. घ. 1550ई.

4. अद्वैत प्रकरण रचना -

क. शंकर की ख. रामानुज

ग. गौड पाद घ. वाचस्पति

5. श्रीमद भगवतगीता में वर्णित है

क. न्याय ख. कर्मकाण्ड

ग. निष्काम घ. परम्परा

निम्नलिखित के एक शब्द में उत्तर दिजिए

क. आन्नद गिरी कौन थे।

ख. वेदान्तसार किसने लिखा है।

ग. मधुसूदन सरस्वती का समय है।

घ. भामती तीका के लेखक कौन है।

ङ. विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक थे।

च. मायावाद का खंडन किसने किया था।

छ. वेदान्त का अर्थ क्या हैं।

3. 1.3.3 द्वैत वैदांत

मध्व (1197 ई.) ने द्वैत वेदांत का प्रचार किया जिसमें पाँच भेदों को आधार माना जाता है। जीव ईश्वर, जीव जीव, जीव जगत्, ईश्वर जगत्, जगत् जगत् इनमें भेद स्वत: सिद्ध है। भेद के बिना वस्तु की स्थिति असंभव है। जगत् और जीव ईश्वर से पृथक् हैं किंतु ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। सगुण ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक है। भक्ति से प्रसन्न होनेवाले ईश्वर के इशारे पर ही सृष्टि का खेल चलता है। यद्यपि जीव स्वभावत: ज्ञानमय और आनंदमय है परंतु शरीर, मन आदि के संसर्ग से इसे दु:ख भोगना पड़ता है। यह संसर्ग कर्मों के परिणामस्वरूप होता है। जीव ईश्वरनियंत्रित होने पर भी कर्ता और फलभोक्ता है। ईश्वर में नित्य प्रेम ही भक्ति है जिससे जीव मुक्त होकर, ईश्वर के समीप स्थित होकर, आनंदभोग करता है। भौतिक जगत् ईश्वर के अधीन है और ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय में यह क्रमश: स्थूल और सूक्ष्म अवस्था में स्थित होता है। रामानुज की तरह मध्य जीव और जगत् को ब्रह्म का शरीर नहीं मानते। ये स्वत:स्थित तत्व हैं। उनमें परस्पर भेद वास्तविक है। ईश्वर केवल इनका नियंत्रण करता है। इस दर्शन में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति (भौतिक तत्व) उपादान कारण है।

1.3.4 द्वैताद्वैत वेदांत

निंबार्क (11 वीं शताब्दी) का दर्शन रामानुज से अत्यधिक प्रभावित है। जीव ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञान का आधार है। जीव और ज्ञान में धर्मी-धर्म-भाव-संबध अथवा भेदाभेद संबंध माना गया है। यही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ईश्वरश् जीव का नियंता, भर्ता और साक्षी है। भक्ति से ज्ञान का उदय हो पर संसार के दु:ख से मुक्त जीव ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है। अप्राकृत भूत से ईश्वर का शरीर तथा प्राकृत भूत से जगत् का निर्माण हुआ है। काल तीसरा भूत माना गया है। ईश्वर को कृष्ण राधा के रूप में माना गया है। जीव और भूत इसी के अंग हैं। यही उपादान और निमित कारण है। जीव-जगत् तथा ईश्वर में भेद भी है अभेद भी है। यदि जीव-जगत् तथा ईश्वर एक होते तो ईश्वर को भी जीव की तरह कष्ट भोगना पड़ता। यदि भिन्न होते तो ईश्वर सर्वव्यापी सर्वांतरात्मा कैसे कहलाता ?

1.3.5 शुद्धाद्वैत वेदांत

वल्लभ (1479 ई.) के इस मत में ब्रह्म स्वतंत्र तत्व है। सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं और जीव

तथा जगत् उनके अंश हैं। वही अणोरणीयान् तथा महतो महीयान् है। वह एक भी है, नाना भी है। वही

अपनी इच्छा से अपने आप को जीव और जगत् के नाना रूपों में प्रगट करता है। माया उसकी शक्ति है जिसी सहायता से वह एक से अनेक होता है। परंतु अनेक मिथ्या नहीं है। श्रीकृष्ण से जीव-जगत् की स्वभावत: उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति से श्रीकृष्ण में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। जीव-जगत् तथा ईश्वर का संबंध चिनगारी आग का सबंध है। ईश्वर के प्रति स्नेह भक्ति है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य लेकर ईश्वर में राग लगाना जीव का कर्तव्य है। ईश्वर के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य है, भक्त होना जीव के अपने वश में नहीं है। ईश्वर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव को (अंश) अपने भीतर ले लेते हैं या अपने पास नित्यसुख का उपभोग करने के लिए रख लेते हैं। इस भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।

1.3.6 अचिन्त्य भेदाभेद वेदांत

महाप्रभु चैतन्य (1485-1533 ई.) के इस संप्रदाय में अनंत गुणनिधान, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण परब्रह्म माने गए हैं। ब्रह्म भेदातीत हैं। परंतु अपनी शक्ति से वह जीव और जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। ये ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अपने आपमें वह निमित्त कारण है परंतु शक्ति से संपर्क होने के कारण वह उपादान कारण भी है। उसकी तटस्थशक्ति से जीवों का तथा मायाशक्ति से जगत् का निर्माण होता है। जीव अनंत और अणु रूप हैं। यह सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर पर निर्भर हैं। संसार उसी का प्रकाश है अत: मिथ्या नहीं है। मोक्ष में जीव का अज्ञान नष्ट होता है पर संसार बना रहता है। सारी अभिलाषाओं को छोड़कर कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है। वेदशास्त्रानुमोदित मार्ग से ईश्वरभक्ति के अनंतर जब जीव ईश्वर के रग में रँग जाता है तब वास्तविक भक्ति होती है जिसे रुचि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। राधा की भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। वृंदावन धाम में सर्वदा कृष्ण का आनंदपूर्ण प्रेम प्राप्त करना ही मोक्ष है।

आराध्यो भगवान व्रजेश तनय: तद्धामवृन्दावनम्
रम्याकाचिदुपासना प्रजवधूवर्गेण या कल्पिता
शास्त्रं भागवतमपुराणममलं प्रेमापुमर्थो महान
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न: पर: ॥ इनका मानना था कि व्रजेश तनय भगवान कृष्ण ही एकमात्र आाध्य हैं। व्रजवधुओं द्वारा कल्पित रमणीय उपासना ही एकमात्र उपासना है। श्रीमद्भागवतमहापुराण ही शास्त्र है। प्रेमा नामक महानद पुरूषार्थ है।

1.5 सारांश

वेदान्त ज्ञानयोग की एक शाखा है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उत्प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्रोत उपनिषद है जो वेद ग्रंथो और अरण्यक ग्रंथों का सार समझे जाते हैं। वेदान्त की तीन

शाखाएँ जो सबसे ज्यादा जानी जाती हैं वे हैं: अद्वैत वेदांत, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत। आदि शंकराचार्य, रामानुज और श्री मध्वाचार्य जिनको क्रमश: इन तीनो शाखाओं का प्रवर्तक माना जाता है, इनके अलावा भी ज्ञानयोग की अन्य शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ अपने प्रवर्तकों के नाम से जानी जाती हैं जिनमें भास्कर, वल्लभ, चैतन्य, निम्बारक, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, और विज्ञान भिक्षु. आधुनिक काल में जो प्रमुख वेदांती हुये हैं उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, अरविंद घोष, स्वामी शिवानंद और रमण महर्षि उल्लेखनीय हैं. ये आधुनिक विचारक अद्वैत वेदांत शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वेदांतो के प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों को भारत में भलिभाँति प्रचारित किया है परन्तु भारत के बाहर उन्हें बहुत कम जाना जाता।

आचार्य शंकर का सिद्वान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्व है। सत्ताओं के पृथक् महत्व को अस्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। आचार्य के अद्वैत का मूल- मन्त्र है, " ब्रहमा सत्यं जगन्मिथ्या।" ब्रहमा के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं को मिथ्या की सिद्दि हेतु उन्होंने मायावाद की स्थापना की। विद्वानों का कथन है कि शंकर का मायावाद गौड.पादाचार्य के मायावाद से प्रभावित है। आचार्य शंकर ने माया शब्द का प्रयोग अविद्या, अज्ञान, भ्रम, मृगतृष्णिका आदि अर्थो में किया है। मायावाद शंकर का वह अमोघ मन्त्र है जिसके द्वारा ब्रहमा और जगत् के सम्बन्ध की पहेली को सुलझा सके है। जगत् ब्रहमा का विवर्तमात्र है जैसे रज्जू में सर्प ।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

आगम – शास्त्रों को आगम कहा जाता है

उपनिषद् – गति , विशरण और अवसादन

विवर्त – भ्रम

कारिका – श्लोक रूप

भौतिक – लोक संसार

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 घ.

2 ख.

3 क.

4 घ.

5 ग.

1.8 संदर्भ ग्रंथ

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;
- राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग 1-2;
- दासगुप्त : हिस्टरी ऑव इंडियन फिलासफी, भाग1

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

- वेदान्त दर्शन .स्वामी राधाकृष्णन
- संस्कृत शास्त्रों का इतिहास आचार्य बलदेव उपाध्याय

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- वेदान्त दर्शन की संक्षेपिका निर्मित कीजिए
- शंकराचार्य का परिचय प्रस्तुत कीजिए
- वेदान्त दर्शन की आचार्य परम्परा पर एक निबन्ध लिखिए

इकाई -2 वेदान्तसार के प्रमुख सिद्धान्तों का समीक्षण

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 वेदान्तसार के प्रमुख सिद्धान्त
    2.3.1 ब्रह्म का स्वरूप
    2.3.2 अनुबन्ध
        2.3.2.1 अधिकारी
        2.3.2.2. विषय
        2.3.2.3 सम्बन्ध
        2.3.2.4 प्रयोजन
2.4 अध्यारोप एवं आवरण, विक्षेप शक्तियॉ
2.5 सूक्ष्म शरीर
2.6 पंचीकरण
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
2.11 सहायक /ग्रन्थ उपयोगी पाठ्यसामग्री
2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वेदान्तसार जो सदानन्द योगीन्द्र द्वारा रचित है, उसके सिद्धान्तों एवं भूत तथ्यों के सम्यक् अध्ययन हेतु निर्मित इस खण्ड की यह दूसरी इकाई है। इस इकाई में वेदान्त एवं वेदान्तसार के सैद्धान्तिक तुलनात्मक समीक्षण का अध्ययन कराया जायेगा।

वस्तुतः भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन प्राणस्वरूप् है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म, माया, जीव जगत ईश्वर और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मो की विवेचना नियम-निषेध पूर्वक की गयी है। पूर्व में भी इसकी आचार्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है जिकका अध्ययन आपने इसके पूर्व की इकाई में किया है। इसके अन्तर्गत वेदान्तसार में प्रतिपादित सैद्धान्तिक समीक्षण आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत इकाई में आप वेदान्त के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात काम्य, निषिद्ध आदि कर्मो को समझाते हुए ज्ञानयोग से ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को बता सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात, आप यह बतायेगे कि-

1. ब्रह्ाम का स्वरूप क्या है।
2. ईश्वर को किस प्रकार परिभाषित किया गया है।
3. यज्ञों को किस प्रकार परिभाषित किया गया है।
4. ज्ञानमार्ग की विशेषताएं क्या है।
5. अनुवन्ध चतुस्टय का महत्व क्या है।
6. वेदान्तसार की उपयोगिता क्या है।

2.3 वेदान्तसार के प्रमुख सिद्धान्तः

ज्ञान की एक अबाध सरिता जिसका प्रवाह सनातन है उसे दर्शन कहते है। वेदों में जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश को बताया गया है। इसके बाद जो दार्शनिक सत्यान्वेषण है वह है उपनिषद। इन्ही में ब्रह्म माया, जीव जगत ईश्वर की अन्वेषणपूर्ण सत्य साबित होते हैं। सभी दर्शनों के प्रतिपा? विषयों में ब्रह्म, माया, जीव, जगत, ईश्वर ये सब प्रकारान्तर से वर्णित हैं। सदानन्द योगीन्द्र रचित वेदान्तसार में अनुबन्ध चतुष्टया-विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन को बताकर अध्यारोप, अपवाद, अनुमान, काम्य निषिद्ध कर्म, यज्ञादि तथा ज्ञान एवं अज्ञान के स्वरूप की विवेचन की गयी है। आवरण तथा विशेष शक्ति के माध्यम से योगीन्द्र ने समस्त गुत्थियों की सुलझाने का प्रयास किया

है। इस पाठ के अन्तर्गत आप वेदान्त में जितने सैद्धान्तिक स्वरूप है। उनकी सारभूत बातों को वेदान्तसार के माध्यम से जानेगे।

2.3.1 ब्रह्म-

यहॉ पर केवल वेदान्तसार में वर्णित तथ्यों के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या नहीं की जायेगी। ब्रह्म के बारे में वेदान्त दर्शन की जो मान्यता है उसका संक्षिप्त निदर्शन किया जा रहा है।- सामान्यतः ब्रह्म शब्द को बृह् धातु से उत्पन्न माना गया है। इसका अर्थ है विशाल, अतः जो इतना विशाल हो कि सबकुछ व्याप्त परिण्याप्त कर ले उसी को ब्रह्म कहते है। प्रारम्भ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग वैदिक सूत्रों तथा स्तुतियों में किया जात था। इसी क्रय में ब्रह्म शब्द वेद के लिए प्रयुक्त हो गया। तथा कर्मकाण्ड की प्रचुरता के कारण यज्ञों का महत्व बढ़ जाने से यज्ञ को ही सृष्टि उत्पन्न करने वाली सबसे बड़ी शक्ति समझा जाने लगा। किन्तु यज्ञ का आधार तो ब्रह्म अथवा वेद ही था अतः ब्रह्म या वेद को प्रथमजम् कही जाने लगा। ठसके अलावा ब्रह्म शब्द का तात्पर्य है-एकमात्र नित्य चेतनासत्ता जो जगत् का कारण और सत् चित् आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म शब्द का प्रमुख प्रयोग एक ही संख्या के लिए भी किया गया है। अतः ब्रह्म् शब्द के चाहे जितने भी अर्थ किये गये हो उनके तात्पर्य तो सर्वव्यापी ही निकलते है।

श्रुतियों में ब्रह्म के लिए स्थान-स्थान पर आनन्द एवं आनन्दमय शब्द का निर्माण ''तत्प्रकृतवचने'' प्रचुरता के अर्थ में मयत् प्रत्यय के योग से हुआ है। अतः इसका अर्थ है ''आनन्द की प्रचुरता'' गुणहीन होने के नाते आनन्द की प्रचुरता ब्रह्म में ही समाहित है। ब्रह्म के विषय में सदाननद योगीन्द्र ने वेदान्तसार के मंगलाचरण के प्रारम्भिक दो पद्यों में ही ब्रह्म के स्वरूप को उद्घाटित कर दिया है जिसमें उन्होने अपने गुरू की भी वन्दना की है। मंगलाचरण के पद्य में उन्होनं ब्रह्म को सर्वदा वर्तमान, चेतन और आनन्द स्वरूप, वाणी तथा मन की पहुॅच से परे, अखिल जगत का आधार और अखण्ड कहा है। वेदान्तसार केमत में ब्रह्म सत् चित ओर आनन्द स्वरूप है।

अखण्डं सच्चिदानन्दवांगमनसगोचरम्

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेभीष्टसिद्धये।

अर्थतोप्यद्वयानन्दतीतद्वैतभानतः

गुस्नाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामतिः।।

सत् का अर्थ है त्रिकालवाधित पदार्थ जो कभी विकृत न हो ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं है वह प्रत्येक

अवस्था में विकारहीन तथा नित्य है, वह पूर्ण है, प्रबुद्ध है तथा ज्ञान वर्द्धक भी है। वेदान्त के अन्दर व्यवहारिक और परमार्थिक दो दृृष्टियों से ब्रह्म पर विचार किया जाता है।

मुण्डक उपनिषद में एक कथा आती है- एक बार सुनक के पुत्र अंगिरस ऋषि के पास पहुॅचकर पूछे कि वह कौन सी वस्तु है जिसको जान लेने से सबकुद ज्ञात हो जायेगा। उन्होंने उत्तर दिया कि -ब्रह्म। द्वैतभावना का दूर होना अर्थात् आत्मा का दर्शन होना है। इस प्रकार सदानन्द योगीन्द्र ने ब्रह्म के विषय में अतिसूक्षम शब्दावली के माध्यम से असीमित अनुभूति और भावना को व्यक्त किया है।

2.3.2. अनुबन्ध-

थ्कसी भी ग्रन्थ को पढ़ने ओर जानने के लिए निम्न बाते महत्वपूर्ण होती है।

1. उस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है।

2.उस ग्रन्थ का विषय क्या है जो लिखा हुआ।

3. उसमें लिखित विषय एवं पुस्तक का क्या सम्बन्ध है।

4. इसके अध्ययन का प्रयोजन क्या है।

उपर्युक्त इन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर को अनुबन्ध कहा जाता है तथा इन चारों के उत्तर को अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है। बात भी सही है कोई भी ग्रन्थ को मैं पढ़ रहा हूॅ उसका विषय क्या है, इसमें क्या लिखा है, इसका सम्बन्ध किससे है और मैं पढ़ूगा तो क्या प्राप्त होगा, तब तक कोई उसमें प्रवृत नहीं हो सकता है। वाचस्पत्यम् में एक स्थान पर कहा गया है-

ज्ञातार्थ ज्ञात सम्बन्धं श्रोतंु श्रोता प्रवर्त्तते।

ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।अतः वह अनुबन्ध चार प्रकार का है-

क-अधिकारी स्वः विषय ग-सम्बन्ध घ-प्रयोजन। यहॉ पर क्रमशः वर्णन प्रस्तुत है।

2.3.2.1 अधिकारी-

वेदान्त नामक विषय का अधिकारी वही हो सकेगा जो विधिवत वेद वेदाड्गों का अध्ययन करके वेदार्थ ज्ञान में पारंगत हो। काम्य एवं शास्त्र ज्ञान करके निषिद्ध कर्मो का त्याग किया हो। इसके बाद जिस व्यक्ति का अन्तःकरण नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित् एवं उपासना कर्मो के द्वारा समस्त पापों से मुक्त हो गया हो। ऐसेचार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी कहलाता है। अधिकारी को इस जन्म या पूर्व जन्म में वेदार्थ ज्ञान परमाश्यक है। स्र्का प्राप्ति की कामना से किये जाने वाले ज्योतिष्तोम यज्ञादि काम्य कर्म है। नरकादि प्राप्ति कराने कराने वाले ब्रह्मतत्या आदि कर्मो को निषिद्ध कर्म कहते है। जिनके न करने से हानि होती है उन्हें नित्य कर्म कहा जाता है। पुत्रोपत्ति आदि के अवसर पर जो जातेष्टि आदि यज्ञ किये जाते है उन्हें नैमित्तिक कहा जाता है। मनुष्य अपने जीवन में जितने आपकर्मो

को करता है उनके शमन हेतु किये जाने वाले चान्द्रायाण व्रत आदि प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं। मानसिक वृत्ति पूर्णतः स्थिर हो इसके लिए सगुण ब्रह्म के विषय में जो कर्म किये जाते है वे उपासना कर्म होते हैं। इसप्रकार के सम्पन्न होने से व्यक्ति अधिकारी कहलाता है।

2.3.2.2 विषय-

यह अनुबन्ध चतुष्टय का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके अन्तर्गत यह बताया जाता है कि जिस ग्रन्थ में जो भी वर्णित है वह सैद्धान्तिक रूप में किस विषय से सम्बिन्धत है। अथवा वेदान्तसार का विषय जीव और ब्रह्म का एक होना बताया जाता है। वह विरूद्ध धर्मो से मुक्त होकर शद्ध चैतन्य का ज्ञान है। यही वेदान्त वाक्यों का चरम लक्ष्य भी है। जीव तथा ब्रह्म का आत्यन्तिक भेद निरूपण ही अद्वैतवाद का सारभूत है। जीवों की ब्रह्म से भिन्न अपनी अलग सत्ता ही विशिष्तवाद का सार है। जीव और ब्रह्म का स्वरूप शुद्ध चैतन्य की शुद्धता है। प्रमाणों से जाना जाने वाला विषय प्रमेय कहलाता है। कपिल तथा कणाद आदि दार्शनिकों ने वदान्त का तात्पर्य प्रधान के अस्तित्व को सिद्ध कराना माना गया है।

2.3.2.3 सम्बन्ध-

जीव तथा ब्रह्म दोनों के ऐक्य और उनके प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव हो जाना वदोन्तसार में सम्बन्ध कहलाता है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही विषय है तथा प्रतिवादक श्रुतिवाक्यों के जो बोध्यबोधक प्रभाव है वही सम्बन्ध है। यद्यपि
शुद्ध चैतन्य के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता और कोई प्रत्यक्ष व्याख्या भी नहीं की जा सकती है किन्तु अनुमान प्रमाण के सहारे से उसकी व्याख्या हो सकती है।

2.3.2.4. प्रयोजन-

ज्ीव और ब्रह्म की जो एकता है उसकी जानकारी के बीच में अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। आत्मज्ञाता ही हमेशा शोक से तर जाता है। ''तरति शोकम् आत्मवित्'' और ब्रह्मविद्य ब्रह्मैव भवति'' आदि वाक्य ही वेदान्तसार के प्रयोजन है वैसे तो वेदान्तसार का प्रमुख प्रयोजन केवल अज्ञान का निवारण ही यदि किसी तत्वेत्ता को अच्छा गुरू प्राप्त हो जाय तो ''तत्वमसि'' आदि वाक्यों के कृपापूर्ण उपदेश से उसके अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। आनन्द का असीमित सभुद्र साधक की झोली में लेता है। अतः इसी आनन्द की उपलब्धि करना ही वेदान्तसार का प्रमुख प्रयोजन है।

2.4 अध्यारोप एवं आवरण, विक्षेप शक्तियॉ

वेदान्तसार के सिद्धान्तों में अध्यारोप तथा अज्ञान की दो शक्तियों का वर्णन किया गया है जिन्हें आवरण तथा विक्षेप कहते है।

अध्यारोप-रस्सी में सर्प का आभास होने के समान किसी वस्तु में अन्य वस्तु के आरोप को

अध्यारोप कहते है। यहॉ वस्तु का तात्पर्य अविनाशी ब्रहम या आत्मा से है और अन्य वस्तु जो अवस्तु कहलाती है उसकी किसी भी रूप में सत्ता नहीं होती है। वस्तु सच्चिदानन्दताद्वयं ब्रहम। अज्ञानादिसकलजड़समूहोऽवस्तुः अज्ञान सत्व और असत्व दोनों से रहित होने के कारण अवर्णनीय होता है। यह त्रिगुणात्मक है और ज्ञान का विरोधी है मै अज्ञानी हूॅ इसका तात्पर्य ही ज्ञान की भावरूपात्मकता है। समष्टि और व्यष्टि दो अभिप्रायों के कारण अज्ञान कहीं एकरूपता में और कहीं बहुवचन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। वेदान्तसार में कहा गया है कि-आानस्य आवरणविक्षेप दो शक्तियॉ होती है।

आवरणशक्ति-

जिस प्रकार एक लघु मेघखण्ड अखण्ड विस्तृत सूर्य की आभा को दर्शकों की दृष्टि से विच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित तथा असांसारिक आत्मा का आवृत् कर देता है। ऐसी शक्ति आवरण शक्ति कहलाती है। वेदान्तसार का एक उदाहरण है-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नचर्कं यथा मन्यतेनिष्पभ चातिमूढ़ः।

तथा बद्धवद्धाति या मूढ़ दृष्टेः स नितयोपलब्धिस्वरूपोंऽहमात्मा।।

अर्थात् जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाशरहित समझता है। उसी तरह साधारण दृष्टि वाला मूढ़ लोगों को जन्म मरण वाला बन्धनों से बाधित प्रतीत होता है।

विक्षेपशक्ति- विक्षेप शक्ति तो उसे कहते हैं जो रस्सी निषयक अनाच्छादितं रस्सी में अपनी शक्ति से सर्पादिकी उद्धावना के समान अज्ञानावृत आत्मा में ही आकाशादि प्रपन्च की उद्धावना कराता है। विक्षेप शक्ति ही लिंग शरीर से लेखक ब्रहमाण्ड की रचना तक करती है। विक्षेप शक्ति की यहीं विशेषता है।

जिस प्रकार एक ही मकड़ी अपने तन्तु रूपी कार्य के प्रति चेतन प्रधानता के नाते निमित्त कारण होती है और अपने शरीर की प्रधानता के नाते निमित्त कारण होती है और अपने शरीर की प्रधानता के नाते उपादान कारण भी होती है। उसी प्रकार यह संसार है। अगर मकड़ी चेतन न हो तो केवल उसके शरीर से तन्तु नहीं बन सकता। किन्तु यदि शरीर न हो तो भी केवल चैतन्य से ही तन्तु नहीं बन सकता।अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाल को बनाती हैं और उसे निगल लेती है, जिस प्रकार जीवित मनुष्य से रोम या केश उत्पन्न होते है वैसे ही अक्षर अविनाशी ब्रहम से यह जगत उत्पन्न होता है।

2.5 सूक्ष्म शरीर-लिंग

शरीर ही सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसके सत्रह(17) अवयव होते है-पॉच ज्ञानोन्द्रियॉ, बुद्धि एवं मन पॉच कर्मेन्द्रियॉ तथा पॉच वायु। श्रोत्र, त्वक, चक्षु जिहन्वा, घ्राण ये पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ है। ये पॉच

आकाशादि के सात्विक अंशों से अलग-अलग उत्पन्न होती है। निश्चत करने वाली अन्तः करण की वृत्ति को बुद्धि कहा जाता है। अन्तःकरण वृत्ति के दो रूप होते हैं-1-निश्चयात्मिका 2-संशयात्मिका।

संकल्प और विकल्प करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को मन अन्तर्भाव हो जाता है। चिन्त की वृत्ति अनुसन्धान कर्ता है। अभिमान का कार्य करने वाली अन्तकरण की वृत्ति को अहंकार करते है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि का संयुक्त रूप विज्ञानमय कोश कहलाता है। इसी संयुक्त होकर व्यवहार करने की अवस्था वाला कर्ता, उपभोक्ता, जीव कहलाता है।

मन और ज्ञानेन्द्रिय का संयुक्त रूप मनोमय कोश कहलाता है।

वाणी, हाथ, पैर, पायु और उपसथ ये सभी कर्मेन्दियॉ है। ये सभी आकाशादि के रजोगणांशों से अलग-अलग उत्पन्न होती है। प्राण, अपान व्यान उदान तथा समान ये पॉच वायु हैं।

नाक के अग्रभाग में रहने वाली वाणु प्राण है। निम्नगमन वाली गुदादि स्थल की वायु अपान है तथा सभी ओर जाने वाली सम्पूर्ण शरीर की वायु व्यान है। अपन की ओर जाने वाली वायलु उदान है और परिपाक करने वाली वायु समान वायु होती है।

वेदान्तसार में वर्णित इन्हीं तथ्यों के सम्पूर्ण सम्पृक्त होने से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। इसके मौलिक और विस्तृत वर्णन आगे की इकाइयों में दिये गये है।

इस प्रकार विज्ञानमय कोश, प्राणमय कोश तथा मनोमय कोष को मिलाने से सूक्ष्म शरीर बन जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियोॅं 5 कार्मेन्द्रियॉ 5 वायुएं 5 तथा बुद्धि ओर मनस्।

2.6 पन्चीकरण

सृष्टि के विकासार्थ पॉच महानुतों का सम्मिश्रण ही पन्चीकरण कहलाता है। इस प्रक्रिया में पॉच भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके अनके आधे-आधे भागों में अन्य-अन्य भूतो के आठवे भाग को मिला देने से पन्चीकृत महाभूत बनते है। अर्थात् पृथ्वी में केवल आधा भाग पृथ्वी का और अवशेष आधे में आकाश वायु तेज तथा जल का 1/8 भाग साधारणतः लिया जाता है। वेदान्तसार का कथन है-**द्विधा विधाय चैकैकं तचुर्धा प्रथमं पुनः।**

स्वस्वेतरद्वितीयां शैर्योजनात्र्च पन्च ते।।

पन्चीकरण की इस प्रक्रिया की इस प्रकार व्यक्त किया गया है- आकाशादि पॉच महाभूतों में से प्रत्येक को समान दो भागों को पुनः चार बराबर भागों में बॉटकर 5ग2 प्रत्येक को उन दस भागों में से प्राधमिक पॉच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनके 1/8 भागों को

द्वितीयार्ध भाग को छोड़कर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पंचीकरण होती है। अतः पृथ्वी=1/2 पृथ्वी $1/8 जल$1/8 तेज$1/8 वायु $ 1/8 आकाश=पन्चीकरण ।।

शंकराचार्य का कथन है कि-पंचममहाभूतानामेकैकम् द्विधाविभज्य चतुर्धा कृत्वा स्वर्धभागं विहाय इतरेषु पन्चधा पन्चीकृतेषु पन्चीकरण भवति।।

अभ्यास प्रश्न-

निम्नलिखित के सही उत्तर चुनकर लिखिए

1. ब्रह्म शब्द के प्रयोग में वृह्धातु का क्या अर्ध है-

क. विशाल ख. विस्तृत ग. सीमित घ. वृद्धि

2. अनुबन्ध है-

क. ग्रन्थ ख. विषय ग. साधन घ. प्रत्याहार

3. निश्चयाम्मिका है-

क. अन्तःकरण की वृत्ति

ख. ब्राह्य प्रयत्न

ग. बुद्धि

घ. दिमाग की वृत्ति।।

4. अज्ञान की शक्ति है-

क. ज्ञान ख. अन्धकार ग. आवरण घ. अनावरण

5. शुद्ध शब्द है-

क. मन ख. मनम् ग. मनस् घ. मना

2. एक शब्द में उत्तर दीजिए-

1. रस्सी में सर्प के अभ्यास को क्या कहते है।

2. सूक्ष्म शरीर के कितने अवयव है।

3. लिंग शरीर को कहा जाता है।

4. पन्चीकरण की प्रक्रिया किस दर्शन में है।

5. मन और ज्ञानेन्द्रिय को मिलाने से बनता है? मनो0

6. अनुसन्धानात्मिक बृत्ति किसे कहते है। (चि0)

7. बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय को मिलाने से क्या बनता है। वि0 का0

8. संकल्प और विकल्प किसकी वृत्ति है।

2.7 सारांश-

वेदान्त दर्शन में ब्रहम, माया, जीव, जगत, तथा ईश्वर के बारे में प्रचुरता से वर्णन किये गये है। प्रत्येक ग्रन्थ में इन सभी के वर्णनों में यही आभास है। सदानन्द योगिन्द्र ने वेदान्तसार में अखण्ड ब्रहम की स्तुति कर जगत की उत्पत्ति में कारण क्या क्या है इसे अच्छी तरह बताया है तथा ज्ञान और अज्ञान को विल्कुल अलग करके परिभाषित कर दिया है।

उन्होंने सूक्ष्म शरीर के निर्माण में सहायक तत्वों को अलग से बताते हुए कोशों के निर्माण में किसका योगदान है, यह भी स्पष्ट किया है। भूतोत्पत्ति प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कर भूतों के निर्माण में सहायक तत्वों की संख्या और उनके विभागों को भी बताया है। यदि दृष्टि पूर्वक विचार करें तो प्रतीत होता है कि वेदान्तसार वेदान्त के सैद्धान्तिक प्रश्नों की सरल और अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या करता है। इतना ही नहीं इसमें कुछ नवीन समावेश भी दिखयी पड़ता हैं।

2.8 परिभाषिक शब्दावली-

1. अनुबन्ध-वेदान्त दर्शन में इसे चार प्रकार से बताया जाता है-

अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन।।

2. सूक्ष्मशरीर-लिंग शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते है।

3. पन्चमहाभूत-छिति, जल पावक, गगन, समीर।

4. ज्ञान्द्रियॅा-ज्ञानोन्द्रिय, कर्मोन्द्रिय और उभयात्मक

5. कोश-इन्द्रियों को मन तथा बुद्धि से मिलाकर बनता है।

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क 2. ख 3. क 4. ग 5. ग

एक शब्द में उत्तर-

1. अध्यारोप 2. सत्रह 3. सूक्ष्मशरीर 4. वेदान्त में 5 मनोमयकोश 6. चित्त

7. विज्ञानमय कोश 8. मन

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रीमदभगवद्गीता-हिन्दी अनुवाद सहित-गी◌ाप्रेस

2. वेदान्त दर्शन- स्वामी राधाकृष्णन

3. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास-आचार्य बल देव उपाध्याय चौखम्भा प्रकाशन

2.11 सहायक ग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन-दत्त एवं चटर्जी -चौखम्भा0 प्रका0

2. भारतीय दर्शन-सी0डी0 शर्मा-चौखम्भा0 प्रकाशन

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वेदान्त दर्शन को विस्तृत रूप से व्याख्यापित करें।

2. अनुबन्ध चतुष्टय को समझाइये।

3. अज्ञान की शक्तियों पर प्रकाश डालिए।

4. पन्चीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।

इकाई -3 मंगलाचरण से अनुबन्ध चतुष्टय तक

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मंगलाचरण से लेकर अनुबन्ध चतुष्टय तक
3.3.1 अधिकारी
3.3.2 विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन
3.4 सारांश
3. 5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है,इस इकाई के अन्तर्गत आप ब्रह्म के स्वरूप को जानते हुए विषय,सम्बन्ध अधिकारी एवं प्रयोजन आदि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

अखण्ड परमात्मा को वेदान्तसार में सच्चिदानन्द कहकर स्वरूपाभिव्यक्ति की गयी है ।अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत प्रथमतः अधिकारी तथा उसके बाद क्रमशःविषय सम्बन्ध और प्रयोजनों की व्याख्या की गयी है ।इन वर्णनों में अनुबन्ध चतुष्टय की सविधि व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप ब्रह्म के स्वरूप को जानते हुए अनुबन्ध का अर्थ बताकर अधिकारी ,विषय,सम्बन्ध एवं प्रयोजनों की व्याख्या विस्तार से बता सकेगे।

3.2 उद्देश्य

वेदान्तसार से सम्बन्धित इस इकाई केअध्ययन से आप व्याख्यायित कर सकेगे और बता सकेंगे कि-

- सत्,चित्,और आनन्द का स्वरूप क्या है।
- अखण्ड परमात्मा को सच्चिदानन्द क्यों कहा जाता है।
- अधिकारी का लक्षण एवं महत्व क्या है।
- विषय किसे कहते हैं,उसकी सम्यक विशेषता क्या है।
- सम्बन्ध एवं प्रयोजन को वेदान्तसार में किस प्रकार परिभाषित किया गया है।

3.3 मंगलाचरण से लेकर अनुबन्धचतुष्टय तक

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।

आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।।

अन्वय- अखण्डं, सच्चिदानन्दम् तथा विजातीय और अपनेपन के भेदभाव से रहित अर्थात् केवल एक सम्पूर्ण , अद्वितीय। ''अवाङ्मनसगोचरम्-वाणी तथा मन से परे, अर्थात् वाणी तथा मन से न जाने जा सकने वाला। अखिलाधारम्=आकाशादि पॉच महाभूत का आधार, अर्थात सृष्टि, पालन, विनाश का कारण। अभीष्टसिद्धये=निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये।

अनुवाद-(मैं सदानन्द) आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए अथवा ग्रन्थ की समाप्ति

के लिये सर्वदा वर्तमान, चेतन एवं आनन्दस्वरूप, वाणी और मन की पहुँच से परे, सम्पूर्ण स्थावर-जड्गमरूप प्रपञ्च के आधारभूत, अखण्ड परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

व्याख्या -1. आत्मा- यहाँ पर आत्मा परमात्मा के अर्थ में आया है आत्मा का योग वेदान्तसार में जीव-आत्मन् के लिये भी आया है, जो वस्तुतः ब्रहा्र के साथ तदात्म्य रखता है।

2. **अखिलाधारम्**- 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्तिरीय उपनिषद्) वह जिससे यह सभी पदार्थ (प्राणी आदि) विकसित हुए हैं, उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण है। ब्रहा्रसूत्र का 'जनमाद्यस्य यतः' सूत्र इसी अर्थ का बोधक है।

3. **अभीष्टसिद्धये-** लेखक की विशिष्ट कामना की पूर्ति के लिये अर्थात् शास्त्रसम्मत वेदान्तविषय के निरूपण के लिये। रामतीर्थ ने अभीष्ट से तीन प्रकार की अर्थ निवृत्ति मानी है। (1) शास्त्रीय अर्थ का बोध न होना, (2) अन्यथा बोध होना तथा (3) विरूद्ध बोध होना।

4. **ब्रह्म (आत्मा)**- मुण्डक उपनिषद् में यह कथा है-सुनक के पुत्र अड्गिरम ऋषि के पास पहु ॅचे और उनसे नम्रता से पूछा वह कौन सी वस्तु है जिसके जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जायेगा। ऋषि अड्गिरस ने उत्तर दिया- 'ब्रहा्र'। वेदान्त दर्शन और उपनिषद् कहते है कि यही भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य है। आगे के दार्शनिकों ने प्राचीनों के इस तथ्य को लेकर अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धान्त प्रस्तुत किये और वेदान्त दर्शन में पॉच सम्प्रदाय विकसित हुए हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू आस्तिक मस्तिष्क एवं जीवन को प्रभावित किया है।

5. **सत्**-वेदान्त दर्शन में तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार की गयी हैं-

(क) पारमार्थिक, (ख) व्यावहारिक तथा (ग) प्रतिभासिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है, व्यावहारिक सत्ता में ईश्वर, जीवात्मा, स्वर्ग, नरक और सम्पूर्ण सृष्टि आती है। ये सब अज्ञान से कल्पित हैं और स्वप्न से अधिक स्थायित्व नहीं रखते किन्तु मनुष्य व्यवहार में उन्हें वास्तविक अस्तित्व वाला मानकर चलता है, अतः वह परम्परया एवं व्यवहारेण अस्तित्व वाले माने जाते हैं। प्रतिभासित सत्ता का आभासमात्र होती है जैसे सीपों में रजत का आभास और रस्सी में सर्प का। यह आभास अज्ञान के कारण होता है। यह सारा सत्ताओं का सिद्धान्त जगत् का निराकरण और ब्रहा्र की व्याख्या करने के लिये प्रस्तुत हुआ है। इसे कहॉ तक सफलता मिली है, हम कह नहीं सकते।

6. **चित् अथवा चैतन्य**- यह ब्रहा्र का प्रचलित प्रतीक है पर 'चित्' शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में ज्ञान के लिये भी आया है, किन्तु शड्कर के अनुसार चित् बुद्धि का अर्थ नहीं रखता। निरपेक्षता और सत्यता से सम्बद्ध है।

7. **आनन्द**-सांख्य प्रवचनभाष्य में पूछा गया है कि क्या आत्मा आनन्द है? उत्तर में कहा गया कि

आत्मा को किसी प्रकार आनन्द कह सकते है।

8. **अखण्डम्**- नृसिंह सरस्वती ने अखण्डम् को समझाने में उदाहरण दिया है- जैसे- एक वृक्ष है उसमें स्वगत विविधतायें है जैसे, पत्तियॅा, फूल, फल। साथ ही वह कुछ ऐसी भी वस्तुयें रखता है जो दूसरे वृक्षों में भी हैं, साथ ही वह कुछ ऐसी भी वस्तुयें रखता है जो अन्य पदार्थो जैसे पाषण आदि में हैं, किन्तु ब्रहा्र ऐसा नहीं है वह निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील है, वह यथार्थ सत् है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया है 'सदेवसोम्य इदमग्र आसीद एकमेवाद्वितीयम्' विद्यारण्य ने भी पन्चदशी में वृक्ष के उदाहरण से ब्रहा्र को अखण्ड अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य कहा है। अनेक स्थानों पर वेदान्त के ग्रन्थों में ब्रहा्र की अखण्डता की बोधक उक्तियर्या आई है। जिनमें ऐक्य, अवधारण तथा द्वैतनिषेध से त्रिविध भेद का निराकरण किया गया है। कहीं भी श्रुतियों में सत् वस्तु के अवयवों का वर्णन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सत् का विजातीय असत् होता है अर्थात् जिसकी सत्ता न हो तथा जिसमें सत्ता न हुई उसमें भेद भी न होगा। सत् का सजातीय कोई सत् ही हो सकता है, किन्तु श्रुति स्पष्ट रूप से सत् से विलक्षण वस्तु का निषेध करती है। रामतीर्थ आदि कुछ टीकाकारों ने अखण्ड शब्द का पर्याप्त अन्तर कहा है। जैसे कि विद्यारण्य भी कहते है-

न व्यापित्वात्, देशातोऽन्तो नित्यत्वान्नपि कालतः।

न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्य ब्रहर्ा्रण त्रिधा।। (पन्चदशी)

उपनिषत् में उस अखण्ड की लौकिक शब्दों से अभिव्यक्ति की गयी हैजो वस्तुतः अनिर्वचनीय है-

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवादशिष्यते।।

9. **सच्चिदानन्द**- अनेक शंकाओं का निराकरण करने के लिये ब्रहा्र को सत् चित् और आनन्द कहा गया है, क्योंकि अखण्ड, अनृत् और शून्य भी हो सकता है, इसलिये ब्रहा्र का सत् विशेषण दिया गया है, क्योंकि जगत् की सृष्टि निराधार नहीं हो सकती है। अतवए ब्रहा्र को सत् कहा गया है, वह अनृत् एवं शून्य नहीं है। इससे बौद्धों का शून्यवाद खण्डित हो जाता है। चित् कहने से ब्रहा्र को अन्धकार के समान जड़ता का निराकरण होता है अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है चैतन्य उसका गुण नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषत् कहता है-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रहा्र।' ज्ञान और ब्रहा्र का समानाधिकरण है,। वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रहा्र के सर्वगुणराहित्य का विस्तार के साथ प्रतिपादन हुआ है, वहॅा कहा गया है ज्ञान नित्य होता है और त्रिकालाबाधित सत्य होता है, साथ ही, ब्रह्म आनन्द हे यही सुखरूप है, वह सुखरूप न होता तो विचारशील लोगों की प्रवृत्ति भी उस ओर न होती। ब्रहा्र की आननदरूपता को सिद्ध करने वाली श्रुतियों में अनेक उक्तियॅा है-जैसे बृहदारण्यक कहता है-

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।' तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है-'आनन्दो ब्रह्मेति। मूण्डक उपनिषद् कहता है- आनन्दरूपं अमृतं युदिभाति।

10. **आवड्मनसगोचरम्**-अनेक श्रुतियों में आत्मा के वाणी और मन का तथा इन्द्रियों का विषय न होने का प्रतिपादन किया गया है जैसे तैत्तिरीय 2/9 , केन 1/3 माण्डूक्य 7, कठ ''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यों न चक्षुषा।'' इसी प्रकार केन 1/4, 5 और 2/2/15, मुण्डक 2/2/10 मे आत्मा को बुद्धि, मन प्राण और इन्द्रियों से अगम्य प्रतिपादित किया है।

2. **अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीयद्वैतभानतः।**

गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्यों यथामतिः।।

अन्वयः-अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपि, अद्वयानन्दान् गुरून् आराध्य यथामति वेदान्तसारं वक्ष्ये।।

शब्दार्थ- अतीतद्वैतभानतः=द्वैत भावना से दूर हो जाने से अर्थात् आत्मा का दर्शन हो जाने से। अर्थतः =अर्थ की दृष्टि से। अद्वयानन्दान्=अद्वयानन्द नामक। आराध्य=आराधना करके। यथामति=अपनी बुद्धि के अनुसार। वक्ष्ये=वर्णन करूगा ।

अनुवाद-(मैं)समस्त भेदभाव से शून्य होने के कारण यथार्थतः अभेदानन्द युक्त अद्वयानन्द नामक गुरू की आराधना करके यथाबुद्धि देदान्तसार को कहूँगा।

व्याख्या -1. अद्वयानन्द-सदानन्द योगीन्द्र अपने गुरू अद्वयानन्द तथा ब्रहा्र दोनों को प्रस्तुत पद्य में प्रमाण करता है। इसके गुरू यथार्थनामा अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्व में आनन्द पाने वाले थे उनका द्वैतभाव निरस्त हो चुका है और वे परम सत्ता का साक्षातकार करके सार्थक नाम हो गये है। अद्वयानन्द शब्द गुरू और ब्रहा्र दोनों का संकेत करता है।

2. **अतीतद्वैतभानतः**-विद्वन्मनोरन्जनीकार ने व्याख्या की है-दूर हो गया है द्वैत जिससे वह हुआ अतीतद्वैत (प्रत्यागात्मा)। उसका भान अर्थात् साक्षात्कार, 'अतीत' द्वैत यस्मात तत् अतीतद्वैत प्रत्यात्मतत्वं, तस्य भानम् साक्षात्कारः तस्मात् अतीतद्वैतभानतः। किन्तु सुबोधिनीकार ने इस प्रकार की व्याख्या की है-अतीत गतं द्वैतभान यतः तस्मात् निरस्तसमस्तभेदज्ञानत्वात् इत्यर्थः। अर्थात् समस्त भेद ज्ञान से परे होने से। वस्तुतः द्वैतप्रतीति से छुटकारा पा जाना ही आनन्द प्राप्त करना है। श्रुति कहती हे- 'तत्र कः मोहः कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः।'

सदानन्द के गुरू जीवमुक्त हो गये है- जीवन्मुक्त की दो दशायें होती है-

(1) जहॉ सांसारिक द्वैतप्रतीति-ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान-अद्वैत में विलीन हो जाते है। (2) जहॉ बाह्य भेद इन्द्रियों से प्रतीत तो होते हैं, पर उनसे अद्वैत में बाधा नहीं पड़ती।

3. यथामति-वेदोपनिषत् से प्रमाणित एवं निःसृत वेदान्तशास्त्र का जो अत्यन्त गम्भीर विषय है, उसे सीमित शक्ति रखने वाले मनुष्य के द्वारा विवेचित होना असम्भव है, अतः ग्रन्थकार कहता है कि मैं अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या में प्रवृत्त होऊँगा। जैसे-'अपि महति जलार्णवे निमग्नाः, सलिलमुपादयते मितं हि मीनाः।'

3. **वेदान्तो नामोत्पनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।।**

अनुवाद-उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाले शास्त्र वेदान्त हैं तथा तदनुसारी (उपनिषदों का अनुसरण करने वाले) शारीरिक (ब्रह्र्) सूत्र भी वेदान्त हैं।

व्याख्या 1. वेदान्त-'वेदान्त' शब्द की 'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्त' इस वृत्ति के अनुसार वेदो का अन्त (अन्तिम भाग उपनिषत्) है। वेदान्त कई अर्थो में उपयुक्त है-

(क) वेदशब्वाच्य संहिता-ब्रह्र्ण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इसकी रचना सबसे अनत में (उपनिषदों से) हुई है।

(ख) इस काल तक वेदशब्दवाच्य सम्पूर्ण ग्रन्थ मौखिक रूप में ही थे उनका ज्ञान केवल गुरू से प्राप्त किया जा सकता था और गुरूजन भी वैदिक शिक्षाक्रम में इन्हें (वेदान्त) सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि यज्ञादि के रहस्यों तथा दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये अधिक जटिल एवं कठिन थे।

(ग) वेदों के स्वाध्याय क्रमानुसार उपनिषदों का अन्त में पाठ करना पुण्य समझा ा जाता था।

(घ) आचार्यो के मतानुसार वेद (ज्ञान) उपनिषद् ग्रन्थों में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया है। इनमें ज्ञान की चरम सीमा है।

2.**उपनिषत्**-'उपनिषत्' शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य को बोधित करता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ। लेकिन इस शब्द के मूल अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है। यह उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार सार सद् धातु के विशरण (नष्ट होना), गति (जाना) तथा अवसादन (शिथिल करना) तीन अर्थ हैं। शड्कराचार्य अपने कठोपनिषद् भाष्य में इन तीनों अर्थो का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते है-

'अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनार्शनाद्...............पर ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्र्गमयितृत्वेन योगाद्...........गर्भवासजन्मजराद्योपनिषत्' (विशरण) इसके पढ़ने से मोक्षेच्छुकों की संसारबीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है। (गति) वह ब्रह्म की प्राप्ति कराती हैं। (अवसादन) तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, मृत्यु आदि दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं।

शङ्कराचार्य जी के कथनानुसार तो उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या और अप्रधान अर्थ है। ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थविशेष-

तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्या उपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या........।

नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ बैठना भी होता है। 'उप' अपसर्ग समीप का सूचक है। इस भाँति उपनिषद् शब्द से समीप में बैठने का भाव ध्वनित होता है। विभिन्न विद्वानों ने 'समीप में बैठने' के कारण की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। वस्तुतः उपनिषत् का मूल और प्राचीनतम भाव था- किसी गुप्त ज्ञान की उपलब्धि के लिये शिष्य का गुरू के समीप बैठना। विकास की दूसरी अवस्था में इसका अर्थ हुआ-वह गोपनीय सिद्धान्त या ज्ञान जो ऐसी गुप्त स्थिति में दिया जाय। इसी से उपनिषदों के लिये 'रहस्यम्' पर्याय शब्द प्रयुक्त होता है।

3.**शारीरकसूत्रादीनि**-विद्वन्मनोरन्जिनी में शारीरकसूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है- 'शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः से सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि।' अर्थात् कुत्सार्थक का प्रत्यय शरीर शब्द से लगकर शरीरक बनकर- 'तत्र भवः' से अण् प्रत्यय जुड़कर शारीरक शब्द व्युत्पन्न होकर अर्थ होगा-कुत्सित शरीर में रहने वाला जीवात्मा। उसे जीवात्मा का यथार्थ रूवरूप (ब्रह्मत्व का विचार) का निरूपण जिनसूत्रों द्वारा होता है, वे शारीरक सूत्र कहलाते है। शारीरक सूत्रों के रचयिता व्यास महर्षि हैं। आदि षब्द श्रीमद्भगवद्गीता तथा इसी भाँति के अन्य ग्रन्थों का ग्राहक है। इन में से शारीरक सूत्र ही ग्रन्थ का मूल नाम प्रतीत होता है।

4. अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः यद्वत्तासिद्धेः, न ते पृथगालोचनीयाः।।

अनुवाद-यह वेदान्तसार वेदान्त का ही अड़ग है अतः उसी वेदान्त के अनुबन्धों से ही अनुबन्धवत्ता सिद्ध होने के कारण उनका पृथक् निर्देश करने की अपेक्षा नहीं।

व्याख्या -1. प्रकरण-पुराण आदि के वचनानुसार 'प्रकरण' शब्द की परिभाषा इस प्रकार है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

विद्वान् लोग एक शास्त्र के एक भाग के प्रतिपादक तथा प्रयोजनवश अन्य शास्त्रों के भी उपयुक्त अंशों को ग्रहण करने वाले (विषय प्रतिपादन की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले) ग्रन्थान्तर भी प्रकरण कहे जाते है। यथा प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदान्तसार' वेदान्त दर्शन का प्रकरण है।

2. **अनुबन्ध-**किसी भी ग्रन्थ का पठनारम्भ करते समय-

(क) इसे पढ़ने का अधिकारी कौन है? (ख) इसमें कौन सा विषय निबद्ध है? (ग) इसमें लिखित विषय तथा पुस्तक का क्या सम्बन्ध है? तथा (घ) इसे पढ़ने का क्या प्रयोजन है? इन चार प्रश्नों के प्रत्येक उत्तर को अनुबन्ध तथा चारों को मिलाकर अनुबन्धचतुष्टय कहा जाता है। जब तक कोई यह नहीं जानेगा कि यह ग्रन्थ किस विषय का है, मैं इसे समझ सकता हूॅ कि नहीं, इसके पढ़ने से मुझे लाभ होगा अथवा नहीं, तब पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं हो सकता। इसी से 'वाचस्पत्यम्' में कहा गया हे-

ज्ञातार्थ ज्ञातसम्बन्धं श्रोता प्रवर्तते।

ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।

5. तत्र अनुबन्धों नाम अधिकारिविषय सम्बन्धप्रयोजनानि।।

अनुवाद-उनमें अधिकारी, वर्ण्य-विषय, प्रस्तुत पुस्तक तथा मूल ग्रन्थ का परस्पर सम्बन्ध तथा (अध्ययन का) प्रयोजन। ये अनुबन्ध कहे जाते हैं।

व्याख्या -1. तत्र-इस 'तत्र' का संकेत विद्वन्मनोरन्जिनी में वेदान्तशास्त्र अर्थ किया गया हैं, लेकिन सभी संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में अनुबन्धों का वर्णन (पूर्व में) होने से वेदान्तशास्त्र अर्थ अधिक उचित नहीं हो सका। यहॉ 'अनुबन्धों में' यह शब्दार्थ अधिक उचित हैं। अब वेदान्तसार के रचयिता सदानन्दयोगीन्द्र क्रमशः अनुबन्धचतुष्टय का विशद विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम वे अधिकारी को लेते हैं।

3.3.1 अधिकारी

6. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदाड़गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

अनुवाद-अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने इस जन्म या पूर्व जन्म में पहले विधिपूर्वक वेद-वेदाड़गो का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान उपलब्ध करके काम्य कर्म तथा शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध कर्मो का त्याग किया हो, तत्पश्चात् सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अत्यधिक स्वच्छ हो गया हो, ऐसा चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही (अधिकारी है)।

व्याख्या -1. विधिवदवधीतवेदाड़गत्वेनापाततोऽधिगताखीलवेदार्थः-नित्यादि कर्मो का अनुष्ठान शास्त्रीय विधि के अनुसार किया जाने के कारण इन कर्मो को करने की योग्यता उपलब्ध करने के लिये वेद वेदाड़्ग (शिक्षा, कल्प निरूक्त, छन्द; व्याकरण और ज्योतिष) का अध्ययन करके उनके अर्थ को समझना जरूरी है। इसी को यहॉ उपर्यूक्त वाक्य के द्वारा बताया गया है। क्योंकि इस प्रकार भली-भॉति अध्ययन करने से स्वयं ही वेदों तथा वेदाड़्गों का अर्थज्ञान हो जाता है।

2. **अस्मिन् जन्मनि जन्मानतरे वा**-कुछ लोग वेदादि का स्वाध्याय तथा नित्यादि कर्मो के अनुष्ठान के बिना ही शुद्धचित वाले (तत्वदर्शी) हो जाते हैं तो सवाध्याय और कर्मानुष्ठान का आवश्यक होना क्यों बताया गया है? इस शंका का समाधान करने के लिये ग्रन्थकर्ता ने प्रस्तुत वाक्य सम्मिलित किया है। महात्मा विदुर तो शूद्र दासी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण वेदादि के स्वाध्याय तथा नितयादि कर्मो के अनुष्ठान के अधिकारी न थे, तथापि महाभारतादि ग्रन्थों में तत्वदर्शी ज्ञानी महापुरूष के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। तब वहॉ वेदस्वाध्याय तथा नितयादिकर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है, इसका निराकरण प्रसतुत वाक्य के द्वारा ही होता है। अन्तःकरण के निर्मल होने के लिये केवल एक ही जन्म की साधना पर्याप्त नहीं अपितु अनादि जन्मों की कल्मषतारूपी पत्तों को अन्तःकरण रूपी दर्पण से दूर करने के लिये सहाध्यवसाय, प्रयत्न तथा धैर्य की आवश्यकता है। गीता भी इसी का समर्थन करती है-

’तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पोर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुयनन्दन।।

प्रयत्नात्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।

अनेकजनमसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।’ (गीता)

अतः महात्मा विदुर के तत्त्वज्ञान की हेतुरूपा साधना पूर्वजन्मों में निष्पादित हुई होगी।

3. **काम्यनिषिद्धवर्जनपुरः सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन**-प्रसतुत अंश के द्वारा समस्त काल्मषों को दूर करने का हेतु बताया गया है। कामवासना से किये जाने वाले (कामवासना शक्ति की साक्षात् बाधिका है) काम्य कर्म तथा अन्तःकरण की शुद्धिबाधक अभक्ष्य भक्षण आदि निषिद्ध कर्मो का परित्याग किये बिना रागादि धासनाओं की कल्मषता का निवारण नहीं हो सकता तथा नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मो का अनुष्ठान इन कल्मषों की निवृत्तयर्थ आवश्यक है,। अतः काम्य एवं निषिद्ध कर्मो को छोड़कर नित्यादि कर्मो को करना चाहिये।

4. **नीर्गतनिखिलकल्मषतया-निर्गतानि निखिलानि कल्मषानि यस्य सः निर्गतनिखिलकल्मषः तस्य भावः (तल् प्रत्यय) निर्गतनिखिलकल्मषता तथा।’** इस वृत्ति के अनुसार इस शब्द के द्वारा यह बताया गया है कि अन्तःकरण स समस्त रागद्वेष आदि वासनात्मक कल्मषों के निकल जाने पर अन्तःकरण शुद्ध होता हे।

5. **साधनचतुष्टयसम्पन्नः**- साधनानो चतुष्टयं इति साधनचतुष्टयं, तेन सम्पन्नः’ इस वृत्यानुसार आगे कहे जाने वाले नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादि छः सम्पत्तियॉ, तथा मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न होना ब्रह्म विद्या (वेदान्त) में अधिकार प्राप्त करने के लिये

आवश्यक होने से इनके बिना (साधनचतुष्टय के बिना) वेदान्त का अधिकारी होना असम्भव है।

6. **प्रमाता**-प्रमाणों के द्वारा जो लौकिक तथा वैदिक दोनों ही प्रकार के युक्त होकर वेदान्त का 'प्रमाता' अधिकारी हो सकता है ।

7. **विधिवत** -ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित छात्र शास्त्रानुसार जो अध्ययन करता है, वह विधिवत् अध्ययन कहलाता है।

8.वेदांड्ग ये छः है-

शिक्षा कल्पो व्याकरण निरूक्तं ज्योतिषां गतिः।

छन्दसां लक्षणं चैव षडड़गों वेद उच्यते।। (बृहत्संहिता)

9. आचार्य शड्कर विशेष रूप से यह आवश्यक समझते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के लिये गुरू अत्यन्त आवश्यक है। वे कहते हैं-'सर्वज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्ज्ञानान्शेषणं न कुर्यात्।' पन्चदशी ....4/39-41 भी स्पष्ट रूप से गुरू को आवश्यकता को प्रतिपादित करती है।

10 . **जन्मजन्मान्त**र-पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त भारत, सीलोन, बर्मा तिब्बत एवं चीन में स्वीकृत रहा है। इससे हम कह सकते हैं कि मानव जाति का अधिकांश इसे स्वीकार करता है। यदि हम इसकी उत्पत्ति एवं विकास को ठीक से खोज पाते तो अत्यन्त सन्तोष का विषय होता। प्रारम्भ में आर्य जाति और भारत में प्रारम्भिक बसने वाले आर्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे। वे तो आत्म के सातत्य को स्वीकार करते थे। । सर्वप्रथम इस पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का ज्ञान द्वान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद् से होता है। गौतम बुद्ध ने कर्म के स्थानान्तरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

अभ्यास प्रश्न-1

1-तैतिरीय उपनिषद् में चित् शब्द प्रयुक्त है-

क- ज्ञान के लिए ख- चेतन के लिए

ग- अनन्त के लिए घ-शुद्ध के लिए

2-अनृत शब्द से तात्पर्य है-

क- असत्य ख-सत्यासत्य

ग-परम सत्य घ- लोक सत्य

3-वेदान्त से तात्पर्य है-

क-वैदिक ख- वेद

ग-वेद का अन्तिम घ- वेदशून्य

4-वेदान्तसार के रचयिता हैं-

क-शंकराचार्य ख-रामानुज

ग-सदानन्द योगीन्द्र घ-दिवाकर

5- विधिवत कहलाता है -
क. ब्रहमचर्य में स्थित होकर शास्त्रानुसार अध्ययन

ख . ब्रहमचर्य का पालन

ग . केवल अध्ययन

घ . विधान से

6- जन्मान्तर का अर्थ होता है -
क . इस जन्म में

ख . जन्म के बाद
ग . जन्म से पहले

घ . अगले जन्म में

7- विज्ञानमानन्दं ब्रह्म यह कथन किस उपनिषद् का है
क . बृहदारण्यक

ख . कठ्

ग . मुण्डक

घ . तैत्तिरीय

8- आनन्दों ब्रह्मेति यह कथन है -
क . मुण्डक

ख . माण्डुक्य

ग . ऐतरेय

घ . तैत्तिरीय

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिज्ञात्वेयत्तामिहायुषः

मुहूर्त्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्।

7**. काम्यानि-स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।**

अनुवाद-स्वर्गप्रपप्त्यादि कामनाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टीम यज्ञादि काम्य कर्म है।

व्याख्या -1. काम्य- जो कर्म किसी फल के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे काम्य कर्म कहलाते हैं। कहा भी गया है-

’फलाद्देशेन विधियमाननानि कर्माणि काम्यानि’

स्वर्ग आदि की उपलब्धि इनका (काम्य कर्म का) फल है।

2. **ज्योतिष्टोम**-शब्दार्थ है अग्निसतुति में कथित मन्त्र किनतु यहाँ (प्रस्तुत अंश में) अग्निष्टोम योग से तात्पर्य है। ’’ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामों यजेत’ इसी श्रुति पर जौ वैदिक आदेश आधारित है, वह अग्निष्टोम यहाँ अभिप्रेत है। यद्यपि ज्योतिष्टोमादि धर्म के साधन एवं पुण्य देने वाले अच्छे कर्म होते हुए भी जन्म-मरण का हेतु है, क्योंकि अच्छे कर्म करने से भी उनका फल भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ेगा, चाहे वह किसी सम्पन्न घर के हों इस भाँति अच्छे कर्म भी उनका बन्धन होने से वेदान्ताधिकारी होने में वर्ण्य हैं। डॉ0 हॉग के अनुसार अनेक स्थानों में ज्योतिष्टोम तथा अग्निष्टोम एक ही अर्थ में आये हैं। ज्योतिष्टोम एक दिन का होता था, अग्निष्टोम पाँच दिन का होता था, पाँचवे दिन सोमदान किया जाता था। ये सभी सोमयज्ञ थे।

8. **निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्रणहननादीनि**।।

अनुवाद- नरक जैसी अनिष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले ब्रह्रहत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं।

व्याख्या 1.निषिद्ध-मनुष्य भ्रमवश जिन अनिष्टकारक कर्मो को अपने अभीष्ट का साधन मानकर करता है तथा वेदों में ’ब्राह्रणों ने हन्तव्यः’ इत्यादि श्रुतियों द्वारा जिनका निषेध किया है वे निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं। विद्वन्मनोरन्जिनी के अनुसार निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं। -

’’**भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनन्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि’’।**

2**. ब्राह्रणहनन**- 'ब्राह्रणों न हन्तव्यः' आदि श्रुति निषेधद्वारा ब्रह्रहत्या (ब्राह्रण की हत्या) निषिद्ध की गई है। इस भॉति गोहत्या का भी शास्त्रों में निषेध किया गया है। धमशास्त्रों में महापातक निम्नलिखित कहे गये है-

''ब्रह्रहत्यासुरापानं''

मनुस्मृति 4/1/165,166,7/380,381, 11/72 आदि में ब्रह्रहत्या को महान् पाप कहा गया है।

9**. नित्यानि-अकरणे प्रत्यवायसाध्नानि सन्ध्यावन्दनादीनि**।।

अनुवाद- जिनके न करने से हानि हो, वे नित्य कर्म कहलाते हैं उदाहरणार्थ सन्ध्यावन्दन आदि।

व्याख्या - 1. नित्य- जिन कर्मो को रोकने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता किन्तु न करने से पाप बढ़ जाता है, नित्य कर्म कहे जाते हैं।

2. **सन्ध्यावन्दनादि**- जैसे प्रतिदिन स्नान तथा दन्तमार्जन से कोई पुण्य नहीं होता लेकिन यदि किया जाय तो शरीर में मल इकठ्टा हो जाने से स्वस्थ्य विकृत हो जाता है, उसी भॉति जाने अनजाने ही जो छोटे-मोटे पाप उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें एकत्रित होने से बचने के लिये सन्ध्यावन्दन आदि कार्य किये जाते हैं तथा नित्य कर्म कहे जाते है। कोलब्रुक कहते हैं-प्रातः, दोपहर और सायंकालीन सन्ध्यास्नान की विशिष्ट प्रतिभा आज भी माध, फाल्गुन और कार्तिक स्नानों में प्राप्त होती है। प्रायः पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। स्नान के साथ गायत्री का जप सन्ध्या की विशेषता है।-'तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' पन्चमहायज्ञ भी नित्यकर्मो में स्वीकार किये जाते हैं- ब्रह्रयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ। (क) वेदान्तियों के अनुसार सन्ध्यादि न करने पर कोई नया पातक नहीं होता किन्तु करने पर नये पाप का अवरोध होता है, (ख) मीमांसकों के अनुसार सन्ध्यादि का न करना नया पाप उत्पन्न करता है। अतः वेदान्ती सन्ध्या को अनिवार्य नहीं मानते हैं।

10 नैमित्तिकानि-पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्यादीनि।।

अनुवाद-पुत्रोत्पत्ति आदि के अवसर पर (शास्त्रों में निर्दिष्ट) ज्ञातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं-

व्याख्या -1**. नैमित्तिक**- किसी निमित्त को उपलब्ध कर अवश्य कर्त्तव्यता होने के कारण से जो श्रुतियों द्वारा अभिहित किये गये हैं, वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। विद्वन्मनोरन्जिनी भी कहती है-

'निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्त्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि''

2. जातेष्टि-पुत्र उत्पन्न होते ही शास्त्रों द्वारा विहित विधि के अनुसार पिता जो यज्ञादि के द्वारा

जातकर्म संस्कार करता है उसे ही 'जातेष्टि' कहा जाता है। श्रुतिवाक्य इस प्रकार है-
''वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते।''

11. प्रायश्चित्तानि-पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।।

अनुवाद-पापक्षालनार्थ किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।

व्याख्या - 1. प्रायश्चित-शास्त्रों में विहित कर्म को न करने से तथा षास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मो को न रोकने से जो पाप उत्पनन होता है उसके निवारणार्थ जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें प्रायश्चित कर्म कहते हैं।

'विहिताकरणप्रतिनिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चिातानि।'

2.चन्द्रायण-मनुस्मृति में चान्द्रायण चार प्रकार का कहा गया है- पिपीलिकामध्य, यवमध्य, गति और शिशु एक प्रकार का लोकविख्यात प्रायश्चित व्रत है। इसमें चन्द्रमा के बढ़ने और घटने के अनुसार ही आहार (ग्रास) बढ़ाया और घटाया जाता है। मनुस्वमृति इसके अनुष्ठान की विधि निम्न प्रकार से कहती है-

''एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
डपसपृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।''

अर्थात् पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खकर कृष्णपक्ष में क्रमशः एक-एक ग्रास घटाते-घटाते चतुदर्शी को एक ग्रास खाकर अमावसया को पूर्ण व्रत समय में प्रतिदिन तीन बार प्रातः मध्याह्न तथा सायं सवन (स्नान) करना चाहिये।

12. उपासनानि-सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।।

अनुवाद- सगुण ब्रह्मविषयक मनोवृत्ति के स्थिरीकरण के लिये किये जाने वाले कर्म उपासना कहे जाते है। जैसे-शाण्डिल्यविद्या आदि।

व्याख्या - 1**. उपासनानि**- चराचर जगत् को ब्रह्म का रूप जानकर उसमें आदरपूर्वक चिरकाल पर्यन्त अपनी मोनवृत्ति को स्थिर करने के लिये जिन कर्मो को किया जाता है, उपासना कर्म कहते है। उपासना और ज्ञान दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं । ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय एक-एक हो जाते है तथा आराध्य और आराधक पृथक-पृथक हो जाते हैं।

2. **शाण्डिलयविद्यादि**- शाण्डिल्य ऋषि ने सर्व खल्विदं ब्रह्म' से लेकर 'स क्रतुं कुवीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः' यहॅा छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि संसार और आत्मा की ब्रह्मरूप में उपासना करनी चाहिये इसीलिये इसे शाण्डिल्य विद्या कहा गया है; 'आदि' शब्द से शतपथ ब्राह्मण मे कथित 'सेआत्मनमुपासीत, मनोमयम्' आदि विद्याये अभिप्रेत हैं।

3. **सगुण ब्रह्म**- ब्रह्म जो कि उत्पत्ति पालन एवं विनाशादि युक्त है, सगुण कहलाता है। उपासना पद्धति में परम सत्ता की जिस रूप में साधना की जाती है वह सगुण रूप में साधना की जाती है वह सगुण रूप में ही होती है।

13. **एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्रयम्। ''तमेतमात्मानं**

वेदानुवचनेन ब्राह्मण विविदिषन्ति यज्ञेन'', इत्यादिश्रुतेः ''तपसा कल्मषं हनित'' इत्यांदिस्मृतेश्च।।

अनुवाद- इनमें (इन कर्मो में) से नित्य कर्मो के अनुष्ठान का परम प्रयोजन बुद्धि कि शुद्धि तथा उनासनकर्मो का चित्त को एकाग्र करना है।

व्याख्या -1 परंप्रयोजनम्- इसे यहॉ परम कहना अन्य सांसारिक प्रयोजनों की अपेक्षा इसे अधिक महत्व देना ही है। वस्तुतः बन्धन से मोक्ष ही परम प्रयोजन है। मुक्ति का विचार वेदों और ब्राह्मणों में नहीं पाया जाता है, सर्वप्रथम यह श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूर्ण विकसित रूप से उपलब्ध होता है।

2. **उपासनानं तु चित्तैकाग्रयम्**- पितृलोकप्राप्ति तथा सत्यलोकोपलब्धि चित्त को एकाग्र करने के साधनों का अवानतर फल है। मुख्य फल चित्त को एकाग्र करना ही है।

3. **विविदिषन्ति-** शड्कराचार्य के कथनानुसार कर्मकाण्ड मुक्ति का साधन साक्षात् रूप से नहीं। वेदान्त के पाठकों के लिये ऋतेः ज्ञानान्न मुक्तिः यह सदाचार प्रक्रिया मोक्ष न होकर (मोक्ष के) साधन ज्ञान तक पहुॅचाने वाली है। इसलिये ज्ञान कर्म का एकत्रीकरण का सिद्धान्त यहॉ माना नहीं है।

4**. नित्यादीनाम्**-नैमित्तिक और प्रायश्चित्तादि कर्म इसमें सम्मिलित हैं। स्मृति कहती है- **''नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितच्क्षयम्।''**

गीता भी कहती है-

''**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**।(18/45)

नैष्कर्म्य सिद्धि में भी नित्य कर्म को सर्वोच्च ाान के साधन के रूप् में स्वीकार किया है। वस्तुतः निर्मल म नही ब्रहा्र का अनुभव कर सकता है। नित्यादि कर्मो से बुद्धि में निर्मलता आती है।

14. **नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः'' इत्यादिश्रुते।।**

अनुवाद-नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित एवं उपासना कर्मो का गौण फल तो उनसे पितृलोक तथा सत्यलोक की उपलब्धि है। कर्म के द्वारा पितृलोक तथा वि के द्वारा सत्यलोक (देवलोक) की प्राप्ति होती है।' श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है।

व्याख्या -1. अवान्तरफलम्-जिस भॉति वृक्षारोपण का प्रधान फल, फलों को प्राप्त करना है तथा आनुषड्गिके फल छाया तथा गन्धादि प्राप्त करना है, उसी भॉति नित्य नैमित्तिक कर्मो का प्रधान फल चित्त की शुद्धि तथा समाधि तथा अवान्तर फल सत्यलोक की उपलब्धि है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र

आम्रवृक्ष का रूपक प्रस्तुत करता है-

'आम्रेफलार्थे निमित्ते छायागन्धावुत्पद्येते।'

2. **सत्यलोक**-ऊपर के सात लोकों में सबसे ऊपर स्थित समझा जाने वाले ब्रह्ा्रलोक ही सत्यलोक है। सत्यलोक से यहॅा मोक्ष अभिप्रेत नहीं है।

3. **विद्यया**-विद्या शब्द का तात्पर्य यहॅा उपासना से है न कि मोक्ष के साधनरूप यथार्थ ज्ञान का फल मोक्ष है किसी भी लोक की प्राप्ति नहीं। यहॅा तो विद्या से देवलोक की प्राप्ति बताई गई है अतः यहॅा विद्या से तात्पर्य उपासना है।

4. **नित्यनैमित्तिक**-इसमें प्रायश्चित कर्मो को छोड़ दिया गया है क्योकि वे मृत्यु के बाद कोई परिणाम उत्पन्न नहीं करते है।

5.**पितृलोक**-यह भुवः लोक से सम्बन्ध रखता है।

6. ब्रह्म सूत्रभाष्य में शड्कराचार्य ने लिखा है-'तत्र कानिच्त् ब्रह्मणः उपासनानि अभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्धयर्थानि।'

छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य में उनका मत है ''उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किन्चिदालम्बनमुपादाय तसिमन् समानचित्तवृत्ति सन्तानकरणं तद् विलक्षणप्रत्यानन्तरितमिति।''

आचार्य शड्कर तथा सदानन्द योगीन्द्र के उपासना सम्बन्धी विचारों में कुछ थोड़ा अन्तर है। नैष्कर्म्यसिद्धि 1/52 में जिस प्रकार विशद् विवेचन किया गया है उससे सभी विचारों का समन्वय हो जाता है।

15.साधनानिनित्यानितयवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षत्वानि।

अनुवाद-नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवके, ऐहलौकि तथा पारलौकि फल के भोग से अनासक्ति, शमादि छः सम्पत्तियॅा तथा मोक्षप्राप्ति की कामना-ये (चार) साधन है।

व्याख्या - साधनानि-प्रतिपादित साधनों में से क्रमशः पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर की उपलब्धि का साधन है। प्रथम नित्यानितय वस्तु के विवके के बिना फलभोगों से विराग नहीं उत्पन्न हो सकता तथा वैराग्य के बिना शम, दम, उपरति, तितिक्षा श्रद्धा, समाधानादि छः सम्पत्तियॅा नहीं प्राप्त हो सकती और इन छः सम्पत्तियों को उपलब्ध किये गये बिना मोक्ष की इच्छा नहीं होती, अतः क्रमशः पूर्व-पूर्व साधन

उत्तरोत्तर को प्राप्त करने में साधनभूत हैं।

16. नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्रवै नित्य वस्तुतोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।।

अनुवाद-केवल ब्रह्र ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है ऐसा विवेचन नित्यवस्तुविवेक है।

व्याख्या -1. नित्यानित्यस्तुविवेक-काल, स्थान आदि की सीमा जिस वस्तु को बद्ध नहीं कर सकती वह वस्तु नित्य है, इसके विपरीत काल की सीमा से बँधने वाली वस्तु अनित्य है। संसार की सभी वस्तुएं काल सीमा से बद्ध हैं अतः अनित्य हैं और ब्रह्र तीनों कालों से बाधित न होने के कारण नित्य है। ब्रह्र का नित्य होना श्रुतियों के वचनों द्वारा निम्न रूपों से सिद्ध है-

(क) **नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।**

(ख) **अजो नित्यः शाश्वतः।**

(ग) **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्र।**

(घ) **आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः।**

ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है, इसमें निम्न श्रुतिवाक्य प्रमाण है-

(अ) **यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम्।**

(आ) **नेह नानास्ति किन्चन।**

(इ) **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किन्चनामिषत्।**

2. **नित्यानित्यवस्तुविवेक- यह प्रथम साधना है।**

17. ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यतववदामुमिष्काणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः- इहामुत्रार्थफलभोगविरागः।।

अनुवाद-इस लोक के माला, चन्दन, स्त्री आदि विषयों के भोग तो कर्मजन्य होने के कारण अनित्य हैं, उसी प्रकार उस लोक (परलोक) के अमृतादि विषयों के भोग भी (कर्मजन्य होने के कारण) अनित्य होंगे ऐसा निश्चय करके ऐहलौकि और पारलौकिक उन वस्तुओ से उदासीन होने को इहामुत्रार्थफलभोगविराग कहते है।

व्याख्या -कर्मजन्यतया- 'यत्-यत् कर्मजन्यम् तत् तत् कार्यम्' और यत् यत् कार्य तत्-तत्

अनित्यम्' अर्थात् जो कर्म से उत्पन्न होता है वह कार्य है और जो कार्य है वह अनित्य होता है।

2. **इहामुत्रार्थफलभोगविरागः**-'इह अमुत्र अर्था एव फलं तस्य भोगः तस्मात् विरागः' इस वृत्ति के अनुसार इस लोक में तथा परलोक में प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ ही कर्म से उत्पन्न होने के कारण फल हैं, उन फलों का भोग करने के प्रति विरक्तियुक्त बुद्धि का न होना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। विरागोत्पत्ति के लिये यहॉ पर जो युक्ति बताई गयी हैं, वह निम्न श्रुतिवचन का अनुवाद स्वरूप है-

''तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।''

3. **अमृतादि**-अमृतादि विषय स्वर्ग से प्राप्त होते हैं जिनका उपभोग जब तक पुण्य रहते हैं होता है तथा पुण्य क्षीण होने पर जीवात्मा को पुन: मर्त्यलोक में आना पड़ता है और नया जन्म ग्रहण करना होता है।

4. **अनित्यता**-छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट करता है'' यत् तथा इह कर्मजितः लोक क्षीयते एवमेव अमुत्रपुण्यजितः लोकः **क्षीयते।''**

5. विराग-यह साधना का द्वितीय पग है।

6. **ऐहिकानां**-पन्चभौतिक शरीर से सम्बन्धित।

18. शमादयस्तु-शमदमोपरतितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः।।

अनुवाद-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि शमादि षट्य सम्पत्ति है।

व्याख्या -1. शमादि-जिस प्रकार भूख प्यास शान्त करने के लिये जल-अन्न है,और भूखे तथा प्यासे प्राणी का चित्त बार-बार पानी की ओर दौड़ा करता है, उसी भॉति तत्वज्ञान के साधन श्रवण, मनन इत्यादि हैं यहॉ 'आदि' शब्द से 'शम' की भॉति दम, उपरति आदि अभिप्रेत हैं।

इन गुणों के अभाव में मुमुक्षु मोक्ष की अत्यन्त अपेक्षा की अनुभूति नही करता है। बिना व्रती मुमुक्ष् के मोक्ष की प्राप्ति दुस्तर ही रहती ।

19. **शमस्तावत्-श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।।**

अनुवाद-उनमें से श्रवण आदि के अतिरिक्त सांसारिक विषयों से (उस ओर अप्रवृत्ति होने वाले) मन को रोकनेवाली वृत्ति शम कहलाती है।

व्याख्या -1. शम-श्रवण-मनन आदि को छोड़कर अन्य सांसारिक विषयों में बार-बार दौड़कर जाते हुए मन को एक विशिष्ट प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है। इसी मनोनियन्त्रणकर्त्री वृत्ति को शम कहते हैं।

2. **निग्रह**- शम मन का वह विशिष्ट वृत्ति अथवा व्यापार है, जो मन को भौतिक विषयसुखों के पीछे

भागने से रोकता है।

3. **श्रवणादि**- वेदशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण, चिन्तन और आचारण।

4. भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'शम' को ब्रह्ा्रज्ञान के लिये अत्यावश्यक कहा है। यथा-''योगारूढ़स्य शमः कारणमुच्यते।'' (गीता 6/3)

20. दमः-बाहा्रेन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।।

अनुवाद-उन (वेदाध्ययनादि विषयों) से अतिरिक्त विषयों बहिरिन्द्रियों को रोकने को दम कहते है।

व्याख्या -1 दमः-ब्रहा्र के साक्षात्कार के साधन रूप श्रवण मनन आदि से अतिरिक्त विषयों से नेत्र, कर्ण आदि बाहिरिन्द्रियों को हटा लेना ही दम कहा जाता है। दम को श्रीकृष्ण ने गीता में ब्रहा्रज्ञान का हेतु कहा है-

यथा संहरते चायं कूर्मोऽड्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

2.**बाह्येन्द्रिय**-ये दो प्रकार की होती है-कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।

पॉच कर्मेन्द्रिय- पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा मुख एवं-

पॉच ज्ञानेन्द्रिय- चक्षु, श्रोत्र,त्वक् घ्राण एवं रसना अन्तरिन्द्रिय हैं, दम का अर्थ है मन का वह कार्य जो बाह्येन्द्रिय को उनके विषयों से लौटाता है।

21. निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो उपरमणमुपरतिस्थवाविहितानांकर्मणां विधिना परित्यागः।।

अनुवाद-इन (बाहा्र विषयों) से नियन्त्रित की गई इन्द्रियों को (बहा्रतिरिक्त) विषयों से निरोध उपरति है अथवा शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मो का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार त्याग उपरति कहलाता है।

व्याख्या -1. **विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः**-वेदविहित कर्मो को संन्यास लेते समय अश्रद्धा के कारण मनमाने ढंग से त्याग नहीं किया जाता, अपितु शास्त्रोक्त विधि से परित्याग किया जाता है। इसका कारण है कि कर्मो के परित्याग की विधि श्रुतियों तथा स्मृतियों में कही गई है। मनुस्मृति कहती है-

प्रजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीय् समारोप्य ब्राहा्रणो प्रवजेद् गृहात्।।

उपरति-शमादिकों की भॉति सन्यास भी आत्मज्ञान का अन्तरड्ग साधन होने से सुमुक्षु के लिये यह भी आवश्यक है। इस विषय में 'नैष्कर्म्यसिद्धि परमा सन्यासेनाधिगच्छति' गीता वाक्य तथा 'न कर्मणा न प्रजया घनेन त्यागेनैके अमृत्वमानशुः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। यज्ञादि कर्मो में विक्षिप्त मन रहने से तथा ब्राहा्रणतव, क्षात्रियत्व इत्यादि विपरीत भावनाओं के बने रहने तक भली प्रकार वेदान्त के अर्थ का विचार न हो पाने से श्रुतिस्मृति के वचनानुसार कर्त्तव्यरूप आत्मज्ञान के अड्गभूत संन्यास को उपरति कहते हैं।

वस्तुतः उपरति मन का वह कार्य है, जो दमित इन्द्रियों को उनके विषयों में पुनः जाने से रोकता है। वस्तुतः उपरति शम का दम से उत्यल्प अन्तर रखती है।

3. **परित्याग**-श्रुतियों तथा स्मृतियों में सन्यास का समर्थन है-

(1) **सन्याससंयोगात् यत् यः शुद्धसत्वः ।** **(मुण्डकोपनिषद्)।**

(2) त्वम्पदार्थविचाराय सन्यासः सर्वकर्मणाम्।
(उपदंशसाहस्री)।

(3) प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं सन्यासलक्षणम्।

तस्माज्ज्ञांन पुरस्कृत्य सन्यसेदिह बुद्धिमान्।।

(4) **यत् अहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।** (जाबाल0)।

22. तितिक्षा-शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।।

अनुवाद-सर्दी-गर्मी आदि को (शरीर धर्म समझकर) सहना तितिक्षा है।

व्याख्या -1. तितिक्षा-सर्दी-गर्मी, मान-अपमान तथा सुख-दःख आदि और इसी भॉति अन्य द्वन्द सबको यह समझ कर कि यह तो शरीर के धर्म है, आत्मा को यह सर्दी-गर्मी कुछ नहीं। इस प्रकार के ज्ञान से सबको सहन कर लेना तितिक्षा कहलाती है।

क्योंकि शीतोष्णादि शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा से नहीं आत्मा इन सबसे स्वतन्त्र है। विवेकचूड़ामणि कहती है

''सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वक।

चिन्ताविलापर हितं सा तितिक्षा नगद्यते।।''

गीता 2/14 कहती है-

''मात्रा स्पर्शस्तु कौन्तेयः शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तान् तितक्षिस्व भारत।।''

वस्तुतः विवेकरूपी दीपक से मिथ्या होने पर भी भासित होने वाले द्वन्दों का मर्षण ही तितिक्षा है।

23. निगृहीतस्य मनः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।।

अनुवाद-वशीभूत मन को श्रवणादि एवं उसके अनुरूप विषयों में लगाने को समाधि कहते हैं।

व्याख्या -1. **तदनुगुणविषये**-उसके अनुरूप बताये गये विषय में अर्थात् गुयभक्ति अथवा विनय के आचरण में सदा चिन्तन करना समाधान है।

2. **समाधान**-मन के वश में हो जाने पर उसे श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन से एकाग्र कर देना अर्थात् अनवरत रूप से नित्य इन्हीं का चिन्तन करना समाधान है। गीता में श्रीकृष्ण कहते भी हैं-

'मय्येव मन आध्त्स्व मयि बुद्धि निवेशय।'

3**. श्रवणादौ**- गुरू-सेवा, वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका रक्षण। नृसिंहसरस्वती ने 'अभिमान का 'अभाव' आदि को ग्रहण किया है। गीता में सात्विक सम्पत्ति का ग्यारहवें अध्याय में बड़ा सुन्दर वर्णन है। समाधन के लिये अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है। श्रुति कहती है-

''दण्डं आच्छादनं कोपीनं परिगृहेत् शेषं विसृजेत।''

24. गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः-श्रद्धा।।

अनुवाद-आचार्य के द्वारा उपदेश में दिये गये वेदान्त के वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है।

व्याख्या -श्रद्धा- गुरू द्वारा कहे हुये वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है। इसके बिना तत्वज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। गीता भी कहती है-

''श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।''

श्रद्धा सारे पाप से छुड़ाने वाली है-

''अश्रद्धया परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।'' **(महाभारत)**

वस्तुतः श्रद्धा के विषय में महाभारत तथा गीता में अनेक स्थलों पर कहा गया है, बिना श्रद्धा के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यनत कठिनाई है-

''श्रद्धामयोऽयं पुरूषः यो यत् श्रद्धः स एव सः।'' **(गीता 17/3)**

श्रद्धा के बिना या, दान, तप आदि भी असत् कहलाते हैं। यथा-

''अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् असदित्युच्यते पार्थ0।'' **(गीता 17/28)**

25. मुमुक्षुत्वं-मोक्षेच्छा।।

अनुवाद-मोक्ष की कामना ही मुमुक्षुत्व है।

व्याख्या - मुमुक्षुत्वम्- जब मुमुखु उपरिलिखित तीन साधनों से मुक्त हो जाता है त बवह मोक्ष की अत्यन्त प्रचल इच्छा रखता है तथा वह आपने आध्याम्मिक गुरू से निरपेक्ष सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। वृहदारण्यक उपनिषद् कहता है-

''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदिस्थिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्वत्र ब्रह्र् समश्नुते।।''

आगे बृहदारण्यक पुनः कहता है-

''अथाकामयमानों योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः।''

वस्तुतः आत्मकाम पूर्ण निष्काम होने से सभी कामनाओं से विमुक्त ही माना जायेगा।

26. एवम्भूतः प्रमाताधिकारी ''शान्तो दान्त'' इत्यादि श्रुतेः। उक्तन्च- ''प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षुवे ।।इति।

अन्वय-प्रशानतचित्तय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्तकारिणे, गुणान्विताय, अनुगताय, च मुमुक्षुवे एतत् सकलं सर्वदा प्रदेयम्।

शब्दार्थ-प्रशान्तचित्ताय-शान्त चित्त वाले के लिये। **जितेन्द्रियाय**-ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को अपने वंश में करने वाले के लिये अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत (जीतने)करने के लिए। प्रहीणदोषाय-जनम जन्मान्तरों में किये हुए पापों से रहित व्यक्ति के लिये, अर्थात् जिसके पाप-समूह नष्ट हो गये हों, उसके लिये अतः निर्मल अन्तःकरण वाले के लिये। **यथोक्तकारिणे**-वेद तथा शास्त्रों में कथित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले के लिये। यथोक्तकारिणे-वेद तथा शास्त्रों में कथित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले के लिये। **गुणान्विताय**-दया दाक्षिण्य, विवके, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा आदि गुणों से युक्त व्यक्ति के लिये अनुगताय-श्रद्धायुक्त के लिये। **मुमुक्षुवे**- मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले के लिए। **एतत् सकलम्**-यह समसत आत्म सम्बन्धी ज्ञान। प्रदेयम्-देना चाहिये अथवा देने योग्य हैं।

अनुवाद-इस प्रकार का प्रमाता ही अधिकारी है। श्रुति के अनुसार 'शान्त दान्त हो।' जैसा कि कहा गया है-

प्रशान्त चित्त वाले, वशी, निर्दोष, (काव्यादि) निदिष्ट कर्मो को करने वाले विवेकादिगुणसम्पन्न,

आचार्यानुगामी, मोक्षप्राप्ति की कामना वाले व्यक्ति की यह (आत्मज्ञान) सदा ही देना चाहिये।

व्याख्या -1. **एवम्भूतः**-इस प्रकार का शम-दम आदि गुणों और नित्या नित्यविवके, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, षटक सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व आदि चार साधनों से सम्पन्न व्यक्ति (इस वेदान्तसार को पढ़ने का अधिकारी है)।

2**. शान्तो दान्त**-ये श्रुति शमादि षटक सम्पत्ति को शास्त्रसम्मत प्रमाणित करने के लिए उद्धृत की गई है तथा काण्व माध्यन्दिन शाखाओं में अलग-अलग रूप में प्राप्त होती है। काण्व शाखा वृह0 उप0 में इस प्रकार का पाठ है- 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षः समाहितो भूत्वस' के स्थान पर माध्यन्दिन शाखा में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' यह पाठ प्राप्त होता है। वेदान्तसार कर्ता ने दोनों का समन्वय कर दिया है और शमादिषट्कसम्पत्ति कहा है।

3**. प्रशान्तचित्ताय**-जिसका चित्तलौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में सर्वथा भ्रमरहित होकर शान्त हो गया हो, वह प्रशान्तचित्त जीव (वेदान्तसार का अधिकारी है)।

4**. यथोक्तकारणे**-शास्त्रों द्वारा विहिन कर्मो को शास्त्रों के कथानानुसार ही करने वाला तथा शास्त्रों में वर्ज्य कहे गये (काम्य एवं निषिद्ध) कर्मो को शास्त्र निषेध होने से उन्हें न करने वाला जीव यथोक्तकारी है (उसे ही यह आत्मज्ञान देना चाहिये)।

5. **अधिकार**-वेदान्तसार के एक व्याख्याकार के अनुसार केवल सन्यासी ही वेदान्त ज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं क्योंकि गृहस्थ का जीवन विविध-कर्त्तव्य कर्मो में व्याप्त रहने से उसके पास वेदान्त-ज्ञान के लिये आवश्यक पर्याप्त समय नहीं रहता है क्योंकि मुमुक्षु के लिये एक दीर्घ साधना का विस्तृत वर्णन सर्वत्र किया गया है।

6**. गुणान्विताय**-सद्सद् विवके, त्याग और क्षमा।

7. **प्रशान्तचित्ताय-** यह पद उपदेशसहस्री से उद्धृत है जो आचार्य शंड्कर द्वारा लिखित कही जाती है।

3.3.2 विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन

विषयः-जीवब्रह्रैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेय तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात्।।

अनुवाद-(इस वेदान्तसार का) विषय-जीव और ब्रह्र का एक होना (सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वादि) विरूद्ध धर्मो से विमुक्त शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है। वही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है।

व्याख्या 1. **जीवब्रह्मैक्यम** -जीव और ब्रह्र का आत्यन्तिक भेद ही अदैतवाद का सार है।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार माया द्वारा आरोपित है, वास्तविक नहीं है। उपाधियों के कारण प्रतिभासित होने वाले मिथ्या अभिन्नत्व को हटा देने पर केवल चैतन्यांश शेष रहता है, वही पारमार्थिक है तथा ईश्वर और जीव में अभिन्नत्व (ऐक्य) है इसीलिए दोनों में अभेद है।

2.**शुद्ध चैतन्यम्**-जीव और ब्रहा्र का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। चैतन्य की शुद्धता सब धर्मो से अतीत होना और एक रूप होना है। प्रतीत होने वाले धर्म आरोपित होने से मिथ्या है। दूध और पानी मिल जाने पर भी यान्त्रिक उपायों से दोनों को अलग-अलग किया जा सकता है लेकिन ब्रहा्र तथा जीव में शुद्ध चैतन्यरूप होने के कारण तत्वतः एक्य है। उनमें प्रतीयमान भेद औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है, वह ब्रहा्र ही हो जाता है-'ब्रहा्रविद् ब्रहैव भवति।'

3.**प्रमेय**-प्रमा का आधार प्रमाणों से जाना जाने वला विषय प्रमेय है; किन्तु प्रमाण केवल भौतिक विषय के ही साधन हैं। ब्रहा्र अभौतिक होने से प्रमाण साध्य नहीं हो सकता तथा प्रमाणसाध्य नहोन से वह प्रमेय भी नहीं हो सकता। अतः स्वामी रामतीर्थ ब्रहा्र को ज्ञातव्य कहकर ज्ञान का विषय मानते है जो वेदान्त परिभाषा के अनुसार उचित है। 'अज्ञातं ब्रहा्रविषयः ज्ञातं ब्रहा्रप्रयोजनम्। प्रस्तुत वेदान्त परिभाषा में कहा गया है।

4. **विषय**-ये दूसरा अनुबन्ध है।

5. **वेदान्ततात्पर्य**-कपिल और कणाद आदि दार्शनिकों ने वेदानत का तात्पर्य प्रधान के अस्तित्व को सिद्ध करना स्वीकार किया है, किन्तु वेदान्त स्पष्ट रूप से सर्वाड्गण विचार करने पर प्रतीत होता है कि वह ब्रहा्र को पारमार्थिक सत् सिद्ध करता है। कठोपनिषद् कहता है-

''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।''

6.वस्तुतः समस्त वेदान्तवाक्यों में 'ग्रीवास्थग्रैवेयक' न्याय से जीव और ब्रह्म की आत्यन्तिक एकता ही प्रतिपाद्य है। गीता भी कहती है-

''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।''

7.वृहदारण्यकोपनिषद् कहता है-

''आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।।''

सम्बन्धस्तु-तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः।।

अनुवाद-उन दोनों (जीव और ब्रह्म) का ऐक्य और उनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्य का

बोध्यबोधकभाव है।

व्याख्या -सम्बन्ध -जीव तथा ब्रह्म का अभेद (ऐक्य) ही यहॉ विषय है तथा उन दोनों के प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का जो बोध्यबोधकप्रभाव है, वह सम्बन्ध है । जीवब्रह्म का अभेद यहॉ बोध्य है तथा ’तत्वमसि ’ आदि बोधक वाक्य हैं।

2**. तदैक्यप्रमेयस्य**- यद्यपि शुद्ध चैतन्य के अस्तित्व को प्रत्यक्ष प्रमाणित नहीं किया जा सकता है और उसकी व्याख्या की जा सकती है, केवल अप्रत्यक्ष रीति से उसे प्रमाणित किया जा सकता है और उसकी व्याख्या भी की जा सकती है अर्थात् अनुमान प्रमाण का आधार लेना होता है।

प्रयोजनंतु -तदक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, स्वरूपानन्दावाप्तिश्च ’’तरति शोकम् आत्मवित्’’ इत्यादि श्रुतेः ’’ब्रह्रविद् ब्रह्रैव भवति’’ इत्यादि श्रुतेश्च।।

अनुवाद-प्रयोजन तो उस (जीव ब्रह्र) के ऐक्य के ज्ञान के मध्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है। ’’आत्मज्ञाता शोक से तर जाता है’’ इत्यादि तथा ’ब्रह्मज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है’ इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं।

व्याख्या -1**. प्रयोजन**- आत्मगत अज्ञान तथा उस अज्ञानजन्य सम्पूर्णप्रपन्च का निवृत्तिपूर्वक स्वरूप ज्ञान हो जाने पर जो अखण्डानन्द ब्रह्र की उपलब्धि होती है उसे प्राप्त करना ही इस वेदान्तसार (आत्मज्ञान) को पढ़ने का प्रयोजन है।

2**. स्वरूपानन्दावाप्ति** -वेदानतसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु अपने स्वरूपानन्द की उपलब्धि भी इसका मुख्य प्रयोजन है। यदि सौभाग्य से कोई तत्ववेत्ता अच्छा गुरू प्राप्त हो जाता है तथा कृपापूर्वक ’तत्वमसि’ आदि वाक्यों के द्वारा उपदेश देते हैं तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तथा आनन्द का असीम सागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है इसलिये नित्य प्राप्त होने पर भी उसी अखण्डानन्द के स्वरूप की उपलब्धि करना वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन है।

एक लौकिक उदाहरण में इसे समझा जा सकता है जैसे एक मनुष्य, अपने गले में पहने हुए आभूषण को विस्मृत कर बैठता है, और दुखित एवं व्यथित होता है कि आभूषण खो गया है, किन्तु ज बवह किसी के द्वारा निर्देशित यह ज्ञान करता है कि वह तो उसके कण्ठ में हैं, इसी प्रकार का मानव अज्ञान होता है।

अयमधिकारी जन्ममरणादिवंसारानलतप्तोदीप्तशिराजलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्रनिष्ठं गुरूमुपसृत्य तमनुसरति ’समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्रनिष्ठम्’ इत्यादि श्रुतेः।

अनुवाद- भीषण गर्मी से अत्यन्त सन्तप्त मनुष्य जिस प्रकार अपनी (तपनरूप) व्याकुलता को दूर

करने के लिये सरोवर के समीप जाता है उसी प्रकार यह (वेदाड्ग ब्रह्मज्ञान ज्ञान का) अधिकरी जन्म, अवसान, बृद्धावस्था तथा रोगादि सांसारिक कष्टों से पीड़ित होकर, हाथ में भेंट लेकर ब्रह्र में निष्ठावान् वेद अध्येता आचार्य के सामीप्य को प्राप्त कर उनका अनुयायी बनता है, जैसा कि 'समिधा हाथ में लेकर ब्रह्र में निष्ठायुक्त वेदाध्यायी (के समीप जाता है)' इत्यादि श्रुतिवचन से स्पष्ट है।

व्याख्या 1. वेदों तथा वेदाड्गो में में पारड्गत व्यक्ति को श्रोत्रिय कहते है। '**श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते**' (अष्ठाध्यायी) सूत्र से 'छन्दस् शब्द से 'अध्येता' अर्थ में घन् (घ=इय) प्रत्यय होकर तथा 'छन्दस' को 'श्रोत्र' आदेश निपातन से होकर श्रोत्रिय शब्द निष्पन्न होता है। वृहदारण्यक के निम्न वचनानुसार श्रोत्रिय पापहीन तथा निष्काम होना भी ईप्सित है-'**यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत**'। छान्दोग्य उपनिषद् भी कहता हैः- 'आचार्यवान् पुरूषों वेद। श्रोत्रिय के विषय में स्मृति कहती है-

''जन्मना जायेते शूदः संस्काराद्विज उच्यते।

विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभि: श्रोत्रिय उच्यते।।''

2. **उपहारपाणि**-राजा, देवता और गुरू के पास कभी रिक्त हाथ नहीं जाना चाहिये, जैसा कि कहा भी है-

''रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरूम्''

गुरू के समक्ष यथाशक्ति फल-फूल आदि कोई न कोई भेंट लेकर ही जाना चाहिये। महाभारत में भी उपहार सहित गुरू के पास जाने का निर्देश है- रिक्त पाणिनं सेवेत राजानं ब्राह्रणं गुरूम्।

3. **समित्पाणि**- समित् पाणौ यस्य सः अर्थात् पाणि में समिधा लेकर जाना चाहिये। यहॉ समिधा शब्द भेंट के लिये उपलक्षणमात्र है। अत्यधिक अर्थाभाव होने पर कुछ देने की सामर्थ्य न होने से केवल समिधायेंही ले जा सकते है।

4**. ब्रह्मनिष्ठ** – ब्रह्मणि निष्ठा यस्य तम्=ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले (गुरू के पास अधिकारी को जाना चाहिये)। उपनिषद् ग्रन्थों में जिसका वर्णन किया गया है उस ब्रह्रात्मैक्यविज्ञान से जो अन्तः बाह्र सर्वत्र संयुक्त है, वह ब्रह्रनिष्ठ है-जैसे कि विद्वन्मनोरन्जिनी टीमा भी कहती है- 'औपनिषद्ब्रह्रात्मविज्ञानपूर्णम्।' आचार्य शड्कर ने ब्रह्रनिष्ठ को जपनिष्ठ और तपोनिष्ठ की भॉति व्याख्यात किया है। उनका कथन है कि ब्रह्रनिष्ठ वह है जिसने सभी प्रकार के कर्म का परित्याग कर दिया है और सभी समय ब्रह्म में स्थित रहता है ।

5. **अनुसरति**- यहॉ अनुसरण से तात्पर्य केवल पश्चात् गमन ही नहीं है अपितु मन से, वाणी से तथा कर्म से गुरू की सेवा करना और प्रगढ़ श्रद्धाभक्ति से गुरू के उपदिष्ट साधन को यथोचित रीति से कार्यान्वित करना है।

6. **अयमधिकारी**-पूर्वकथित चार प्रकार के साधन चतुष्टय सम्पत्ति से सम्पन्न।

7**. जन्ममरणादि**-रोग तथा अन्य भौतिक कष्ट आदि भी गणित है।

सः गुरू परमकृप्या 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति 'तस्मै सः विद्वानुपसन्नाय प्राह'' इत्यादि श्रुतेः।

अनुवाद-यह (आचार्य) परम दयालु होकर 'अध्यारो' और 'अपवाद' न्याय से उसे (ब्रहा्ररूप रहस्य का) उपदेश देता है जैसा कि 'उस आये हुए ब्रहा्ज्ञान के इच्छुक को विद्वान उपदेश देता है' श्रुतिवचन भी है।

व्याख्या -1. **अध्यारोपापवादन्यायेन**- सीपो में भ्रमण जैसे चॉदी भासित होने लगी है अथवा रस्सी में सॉप की प्रतीति होने लगती है, उसी भॉति अद्वैत आत्मतत्व पर अज्ञान के कारण संसार भ्रमात्मक प्रतीति हो रही है, वही अध्यारोप लक्षण दिया है। दीपक के द्वारा प्रकाश न होने पर रस्सी में मिथ्या सर्प का' निश्चय हो जाने के समान तथा केवल आधाररूप रस्सी शेष रह जाने के समान श्रवणमननादि का लम्बे अरसे तक निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्ञानोदय होने पर समस्त मिथ्या सांसारिक सृष्टि का निश्चय हो जाता है और सबका आश्रयभूत सच्चिदानन्द ब्रहा् ही शेष रह जाता है यही अपवाद कहलाता है। इसी अध्यारोप तथा-अपवाद की क्रमयुक्त प्रक्रिया से आचार्य अपने शिष्य को आत्मज्ञान का उपदेश देता है। इसलिये कहा भी है-

अध्यारापापवादाभ्यं निष्प्रपन्चं प्रपन्चयते।

शिष्याणां बोधसिद्धयर्थ तत्वज्ञैः कल्पितः क्रमः।।

विवेकचूड़ामणि में अध्यारोप और अभ्यास का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है7

''अतस्मिस्तद् बुद्धिः प्रभवति विमूढ़स्य तमसा।

विवेकाभावाद् वै स्फुरित भुज्ड़्गे रज्जुधिष्णा।।

ततोऽनर्थवातो निपतति समादातुरधिकस्ततो।।

योऽसद्गाहः स हि भवति बन्धः श्रुणु सखे।।''

2. **प्ररमकृपया** - अतिशय रहस्यमयी आत्माज्ञान की विद्या को उपदिष्ट करने में संकोच भाव न होने के कारण करूणा है। शरणागत जन के क्लेशों का अवलोकन कर ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य का कोमल चित्त द्रवीभूत हो उनका निवारण करने के लिये से आच्छादित बुद्धि को ज्ञानरूपप्रकाश से शनैः-शनैः प्रकाशित करके विकसित करता है। संक्षेपशारीरक में आया है कि गुरू कृपालुता से शिष्य को

शिक्षित करता है-

''एतदेव हि दयालुलक्षणं यत् विनेयजनबुद्धिविवर्धनम्।''

3. एनमुपदिशति-गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं-

''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवाया।

डपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।''

अर्थात् ज्ञान तत्वदर्शी से सीखना चाहिये, विनम्रता से, सेवा और निश्छल होकर अत्यन्त सरलता से पूछने पर दयालु ज्ञानी सत्य का उपदेश करते हैं।

3.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने तत्व ज्ञान के मार्ग में कितने तथ्यों की जानकारी आवश्यक है इसका अध्ययन करते हुए गुरू की ज्ञानदायिनी शक्ति का अवलोकन कर यज्ञादि के विषय में अध्ययन किया है। किसी भी ग्रन्थ के पढने से क्या लाभ होता है इसका अध्ययन आपने अनुबन्ध चतुष्टय के अर्न्तगत किया है। अधिकारी ब्रहमचर्य का पालन करते हुए शास्त्रोपदेश के अनुसार गुरू के समीप बैठकर अध्ययन करते हैं। जिसे वेदान्त सार में विधिवत कहा गया है। काम्य एवं निषिद्व कर्मो के वर्गीकृत ज्ञान से भी आप परिचित हो गये हैं। साधन चतुस्य को बताकर वेदान्सार में वेदान्त के प्रयोजन को पूरी तरह सिद्व किया गया है तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञो एवं प्रायश्चित कर्मो की विधियॉ इस इकाई के अर्न्तगत प्रख्यापित की गयी है। अत : आप इनका ज्ञान प्राप्त कर अध्यारोपापवाद न्याय को जानते हुए सम्पूर्ण अनुबन्ध चतुष्य को समझा सकेंगे।

3. 5 शब्दावली

शरणागत – रक्षा हेतु आये हुए को शरणागत कहते हैं।

ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा – ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश करने वाला

आश्रयभूत – आश्रय में ही रहने वाला

अध्येता – अध्ययन करने वाला

बोध्यबोधकप्रभाव – बोध और बोधक का प्रभाव

आत्यन्तिक – विल्कुल सटीक

अज्ञानान्धकार – अज्ञान से प्राप्त अन्धकार

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.ख 2.क 3.ग 4.ग 5.क 6.घ 7.क 8.घ

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;
- राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग 1-2;
- दासगुप्त : हिस्टरी ऑव इंडियन फिलासफी, भाग1
- वेदान्तसार – सदानन्द योगीन्द्र चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

- वेदान्तसार के मंगलाचरण की व्यख्या कीजिए
- अधिकारी के स्वरूप की विवेचना कीजिए
- प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए
- अनुबन्ध चतुष्टय पर एक निबन्ध लिखिए

इकाई 4 - आवरण एवं विक्षेप शक्ति

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अज्ञान का स्वरूप
4.4 आवरण एवं विक्षेप शक्ति
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यासप्रश्नोंकेउत्तर
4.8 सन्दर्भग्रन्थसूची
4.9 निबन्धात्मकप्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वेदान्तसार के अध्ययन से सम्बन्धित यह चौथी इकाई है इसके पूर्व की इकाईयो मे आपको वेदान्त दर्शन की ऐतिहासिकता तथा आचार्य परम्परा एवं सैद्धान्तिक पक्षो का अध्ययन कराया गया है। इसके अतिरिक्त इसके पूर्व की इकाई अनुबन्ध चतुष्टय की है। प्रस्तुत इकाई में आपको अज्ञान के विषय में बताते हुए इसकी शक्तियो का अध्ययन कराया जायेगा।

वेदान्त दर्शन की परम्परा आचार्य शंकर से पूर्व भी थी और आज भी प्रचलित है। विभिन्न ग्रन्थो मे ब्र ह्म ,माया ,जीव,जगत, ईश्वर और मनुष्य के करणिय तथा अकरणीय कर्मो एवं यज्ञादि के बारे में बताया गया है। उपनिषदो पर आधारित दर्शन वेदान्त कहलाता है। आवरण तथा विक्षेप शक्ति का ज्ञान इस इकाई में प्रस्तुत है
इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह बता सकेंगे कि जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा जीव माया से आक्षादित जगत् को किस तरह समझता है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि –

- अज्ञान की परिभाषा क्या हैं।
- आवरण शक्ति किसे कहते है।
- आवरण शक्ति के कार्य क्या हैं।
- विक्षेप शक्ति की परिभाषा क्या है।
- विक्षेप शक्ति के कार्य क्या हैं।
- इन शक्तियो की व्याख्याये किस प्रकार की जा सकती हैं।

4.3 अज्ञान का स्वरूप

34. **अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीय त्रिगुणत्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किन्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् ''देवात्मशक्ति स्वगुणे र्निगूढ़ाम इत्यादि श्रुतेश्च।।**

अनुवाद-अज्ञान तो सत्व और असत्व दोनों के रहित होने के कारण अवर्णनीय है, (यह) (सत्वरजस्तम) त्रिगुणात्मक है, ज्ञान का विरोधी तथा भावरूप है ('यह ऐसा है' इत्यादि निश्चित सीमा के द्वारा अज्ञापक होने के कारण) यत्किन्चित् है-यह वेदान्तियों का कथन है। 'मै आ (अज्ञानी) हू॑'

इत्यादि अनुभवों का प्रत्यक्ष आभास ही अज्ञान के भाव रूप होने में प्रमाण है-श्रुतिवाक्य भी है- ’वेदात्मा की शक्ति अपने गुणों से आवृत्त है।’

व्याख्या 1. **त्रिगुणात्मकम्**- यदि अज्ञान अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसका अस्तित्व ही नहीं होगा। इस संशय का निवारण करने के लिये उसका ’त्रिगुणात्मक’ विशेषण प्रयुक्त हुआ है। अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णं बह्वीः प्रजा सृजनानां सरूपाः। इस श्रतिवचन से ही प्रमाणित है कि वह सत्व रजस् तमस् त्रिगुणात्मक है। जब कार्य लोहित शुक्ल तथा कृष्ण तीन गुणों वाला है तो उसका कारण से अपृथक् अज्ञान भी त्रिगुणात्मक होगा । सांख्य दर्शन में तीनों गुणों का सिद्धान्त पूर्णतया विकसित किया गया है और प्रकृति की व्याख्या में उसका उपयोग किया है।

2. **सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्**-यदि अज्ञान को सत् कहा जाता है तो उसे चिदात्मा (ब्रह्र) के समान त्रिकालाबाधित होना चाहिये लेकिन उसे तत्वज्ञान से बाधित देखा जाता है, उसे असत् कहे तो बन्ध्या के पुत्र (अस$भव) के समान प्रतीयमान नहीं होना चाहिए, लेकिन वह संसार के बन्धन में जटिलबद्ध प्राणी को मैं अज्ञान हूँ इस भॉति प्रतीत होती है, अतः उसे सद्रूप तथा असद्रूप दोनों ही नहीं कहा जा सकता है। इसलिये वह सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीय है। कि शड्कराचार्य का भी कथन है-

’सन्नाप्यसन्नात्युभयात्मिका नो’ भिन्नाप्यभित्राप्युभयातिमका नो। साड्गाप्यनड्गाप्युभ्यातिमका नो’ महदाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।।’

3. **ज्ञानविरोधी**- ज्ञाननिवत्यं ही अज्ञान का लक्षण है।अज्ञान का ज्ञान के द्वारा बाधित होना वेद तथा लोक में सर्वविख्यात है। प्रपन्च अज्ञानजन्य होने के कारण अज्ञान से अभिन्न है अतः ब्रह्रात्मैकत्व विज्ञान से निवृत्त होन वाले संसाररूप चिदात्मा का अज्ञान से सम्बन्ध होना पूर्णरूपेण अज्ञानाधीन है अतः अज्ञानात्मा का सम्बन्ध भी अज्ञानरूप ही सिद्ध हो जाता है। अज्ञानाधनी है अतः अज्ञाननिवर्त्यभूत लक्षण का सम्बन्ध भी अज्ञानरूप ही सिद्ध हो जात है। अज्ञान के इस ज्ञाननिवर्त्यभूत लक्षण में अव्याति, और असम्भव दोष की तो शड्का ही उत्पन्न नहीं होती । इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव तीनों ही दोषों से युक्त है। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, आत्मसाक्षात्कार (ज्ञान) होने पर विनष्ट हो जात है।

4. **यत्किन्चित्**- अज्ञान की सद्रूपता, असद्रूपता से निरूपित नहीं की सकती, अतः उसे यत्किन्चित् कहा गया है। अन्धे पुरूष के द्वारा सूर्य में अन्धकार-कल्पना के सदृश ही अज्ञान है। अज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानना, असम्भव होने पर भी उसकी सत्ता में अनुभूति तथा श्रुतिवचन दोनों प्रमाण हैं। सत्य को खोजने का प्रयत्न करने से हमस त्य के विषय में अज्ञान को मानते हैं यह अज्ञान हमारी अनुभूति है, इसी से शास्त्रों में ये साक्षिभाष्य कहे गये हैं। बृहदारण्यक वार्तिक में आया है।

''अविद्याया अविद्यात्वं इदमेव तु लक्षणम् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथावस्तु सा भवेत्।।

5. **भावरूपम्**- अज्ञान को यदि भावरूप कहा जाये तो इसकी निवृत्ति न हो सकने के कारण अभावरूप मानना होगा अतः उसको तभी तक भावरूप माना जाय, जब तक आत्मा का ज्ञान (साक्षात्कार) न हो- ज्ञान रूप साक्षात्कार होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है।

6. **अहमज्ञः**- सत्य वस्तु के विषय में, जो स्वयं प्रतीत होने में जड़ा होने से अशक्त है, अतः 'अहम्' आदि के साक्ष्य से चैतन्य भासित हो सकता है।

7. **देवात्मशक्तिम्**-इस श्रुति से तथा उस पर शाङ्करभाष्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञान परमात्मा की शक्ति है, इसलिये द्वैत (भेद) की सम्भावना का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि शक्ति और शक्तिशाली में एंक्य (अभेद) माना जाता है (होता है)।

8.वेदान्त दर्शन में वस्तुतः अज्ञान का विवेचन अत्यन्त कठिन है। न्यायदर्शन कहता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है इसलिये यह भावरूप नहीं हो सकता है किन्तु वेदान्त दर्शन का कथन है कि यह भावरूप भी होता है। वेदान्त प्रश्न करता है कि वह ज्ञान कैसा है- जिसका अभाव कहा जा सकता है? हम ज्ञान को तीन रूपों में समझते हैं-(1)साक्षिचेता (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। ज्ञान शाश्वत होता है अतः उसे अभाव की स्थिति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। (2) विज्ञानेन व ऋग्वेदं विजानाति (छान्दोग्य उपनिषद्) इससे ज्ञात होता है कि मस्तिष्क (मन) का विशिष्ट व्यापार ज्ञान है। यहॉ पर ज्ञान का प्रयोग अप्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में है। जब तक आत्मा साथ में न हो तब तक मस्तिष्क (मन) का कोई व्यापार किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं सकात। नेत्र ,कान इत्यादि अपने व्यापारों को तभी कर पाते हैं जब आत्मा से चेतना पाते हैं, जैसे कि ऐतरेयोपनिषद् भी कहता है-

सर्व तत्वप्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रों लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।''

किसी स्थिति में ज्ञान अभाव की दशा वाला नहीं हो सकता है(3) अज्ञान को किसी भी व्याख्या के ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता चाहे सामान्य रूप से अथवा विशिष्ट रूप से विचार किया जाये। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ ' मैं कुछ नहीं जानता हॅू। इस स्थिति में वह अनुभव को पूर्णतया नहीं खो देता है यद्यपि वह विशिष्ट वस्तु को नहीं जान पाता फिर भी वह जानता है।

नैष्कर्म्यसिद्धि में लिखा है-

''सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।

स्हते न विचारं सा तमेदयवत् दिवाकरम्''

9. देवात्मशक्तिम्-श्वेताश्वतर उषनिषद्' के श्रुति के समर्थन में और भी श्रुतियॉ मिलती है जैसे गीता 5/15-

''अज्ञाने ना वृतं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'' तथा

''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'' गीता 3/25

वस्तुतः देखने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक उपनिषदों में परिणामवाद् का सिद्धान्त स्वीकृत रहा है, मायावाद और विवतवाद का नहीं। तब प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण संसार की असत्यता का सिद्धान्त वेदान्त में कहॉ से आया? इसका उत्तर जैकब के अनुसार है बौद्धों से। इस तथ्य को सांख्य दर्शन के व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने प्रसतुत किया है। पद्यपुराण तथा विष्णुपुराण भी विज्ञानभिक्षु का समर्थन करते है।

3.5 इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यंभिप्रायेणैकमनेकमित्ति च व्यवह्रियते।।

अनुवाद-'यह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि दो अभिप्रायों के कारण कही एक रूप में, कहीं बहुवचन में पुयुक्त किया जाता है।

व्याख्या - 1. समष्टि- 'अजामेकाम्, आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान का एकत्व सिद्ध होता है, यही समष्टि रूप से एक है। सम् उपसर्गपूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ सबको व्याप्त करने वाली। यहॉ पर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ सबको व्याप्त करने वाली। यहॉ पर समष्टि शब्द का प्रयोग समुदाय, समूह, सामान्य अथवा संघात के अर्थ में हुआ है। निखिलानन्द स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि तथा समष्टि को क्रमशः विशेष और सामान्य का वाचक माना है। वस्तुतः दोनों में अभेद है केवल व्यवहार के लिये ही भेद कल्पना है। अज्ञान का श्रुतियों में इसी प्रकार उल्लेख है। वेदान्त में अज्ञान की समष्टि के लिये माया तथा व्यष्टि के लिए अविद्या शब्द आया है (पन्चदशी 1/16)

2. **व्यष्टि**- 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान की अनेकता भी सिद्ध होती है यही व्यष्टि रूप से अनेक है। विपूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर व्यक्ति शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाला। यहॉ पर व्यष्टि शब्द एक व्यक्ति अथवा विशेष का वाचक है।

3**. एकमनेकमिति**- यह वेद एवं उपनिषद् वचनों में प्रयुक्त माया (अज्ञान) परक उदाहरणों से कभी एकत्व सूचक तथा कभी बहुवचनान्त होने के कारण कहा गया है-

''अज्ञामेकां लोकहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सुजमानां सरूपाः।

अजोह्योकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।''

यह श्रुतिवचन अज्ञान से एकत्व का सूचक है तथा 'इन्दो मायाभिः पुरूरूप ईयते' यह वाक्य अज्ञान (माता) के अनेकत्व का बोधक है। इसी से अज्ञान शब्द का एक तथा अनेक के अभिप्राय से समष्अि तथा व्यष्टि से व्यापार होता है।

36. तथाहि यथा वृक्षाणां समष्टयभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्टयभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभाासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्टयभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः अजामेकाम् इत्यादिश्रुतेः।

अनुवाद- जिस प्रकार वृक्षों को समष्टि (समुदाय) के दृष्किोण से 'वन' इस प्रकार एकसंख्यासुचक व्यवहार होता हे अथवा जिस प्रकार जलों के (जलकणों के)समूह को समष्टि की विवक्षा से 'जलाशय' इस प्रकार कहा जाता है, उसी भॉति अनेक संख्या में प्रतीमान जीवस्थित अज्ञानों के समूह को समष्टि की आकाड्क्षा से उन सबके एक होने का सूचक प्रयोग होता है 'अजन्मा एक' यह श्रुतिकथन भी समष्टि से एकत्वसूचक है।

व्याख्या -1. समष्टि- समष्टि शब्द की विवृत्ति पूर्वलिखित है वहीं पर देखें।

2.**नानात्वेन**- प्रत्येक जीव के अज्ञान की सत्ता पृथक-पृथक है। जो जीव के द्वारा भाषित होती है। जीव अनेक हैं अतः अज्ञान भी अनेकत्व (नानात्व) से सम्पन्न है।

3. **अजामेकाम्**-यहा अज्ञान का एक होना 'एकाम्' पद से विवक्षित हैं श्रुतियों में इसी अज्ञान को प्रकृति, अविद्याा, तम, माया, अजा तथा अव्याकृत आदि प्रदों द्वारा व्यवहृत किया गया है।

4. वेदान्त दर्शन में अज्ञान की उपाधि से युक्त आत्मा की तीन अवस्थायें कही गई हैं- 1. सुषुप्ति इसमें कारण शरीर उपाधि होता है (आनन्दमय कोष)।

2. **स्वप्न**- इसमें कारण शरीर सूक्ष्म उपाधि होता है (विज्ञानमय कोष मनोमय कोप। प्राणमय कोष =सूक्ष्म शरीर)। 3. जागरण- इस अवस्था में कारण शरीरसूक्ष्म शरीर=स्थूल शरीर उपाधि होता है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोष भी कहते है।

5. ईश्वर और जीव दोनों ही अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं अतः दोनों की उपर्युक्त तीनों अवस्थायें होती है। ईश्वर स्वप्नावस्था में हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा तथा ब्रह्रा कहलाता है तथा जागरणवस्था में विराट् एवं वैश्वानर कहलाता है। जीव सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ, स्वप्न में तैजस् तथा जागरण में विश्व कहलाता है। माण्डूक्य0 में इसका विवेचन है।

37. इयं समष्टिरूत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्वप्रधाना।।

अनुवाद-यह समष्टि (व्यष्टि की अपेक्षा) उन्नत उपाधि वाली होने के कारण रागादिदोषशून्य शुद्ध सत्व गुण प्रधान हैं।

व्याख्या . 1. उत्कृष्टोपाधितया- जब कोई वस्तु से भिन्न रूप में प्रकाशित हो, तो भासित होने का जो प्रयोजक हेतु होता है, वह उपाधि कहलाती है। वाचस्पत्यम् में उपाधि का लक्षण है-

'अन्यथास्थितस्य वस्तुनः अन्यथाप्रकाशनरूपे'। तर्कभाषा में उपाधि की परिभाषा है- 'प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते ' प्रस्तुत पूरे पद का अर्थ है उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। प्रथम-समष्टिगत अज्ञान व्यष्टिगत अज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है, सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से इसमें आधारभूत अज्ञान की एकता पर आवरण नहीं पड़ने पाता, किन्तु व्यष्टिगत अज्ञान में आधारस्वरूप एकता तिरोहित हो जाती है। द्वितीय अर्थ-आगे वर्णित किये जाने वाले (प्राज्ञ) जीव की अपेक्षा ईश्वर के उत्कृष्ट होने के कारण है-वह समष्टिगत अज्ञान का स्वामी होता है और वह अप्रतिहत ज्ञानवान् होता है लेकिन जीव व्यष्टिगत अज्ञान की आधीन तथा अल्पज्ञ होता है।

2.**विशुद्धसत्वप्रधाना**-यहाॅ विशुद्धसत्वप्रधान से तात्पर्य है- ईश्वर स्थित माया(अज्ञान) में सत्व गुण की प्रधानता होती है, उस विशुद्ध सत्व का समक्ष रजस् तथा तमस् गुण बिल्कुल नहीं रहता। प्रसतुत पद का अर्थ है सत्वगुण समष्टि (ईश्वर) में स्थित अज्ञान में रजस् तथा तमस् को अभिभूत किये रहता है स्वयं पराभूत नहीं होता। जैस विद्वन्मनोरन्जिनी टीका भी कहती है-

'विशुद्ध रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्वं प्रधानं यस्याः सा।'

38. एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानीवभासकत्वात्'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः।।

अनुवाद-इस (उत्कृष्ट) उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञाता, सबका ईश्वर तथा सर्वनियन्ता आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्यामी, संसार का कारणरूप तथा ईश्वर आदि (नामों से) व्यवहृत किया जाता है। जो सर्वज्ञाता, सर्ववित् है' इत्यादि श्रुत्यनुसार यह सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशयिता है।

व्याख्या -1. उपहितम्-(त्वरूप प्रकाशित होने में प्रयोजक हेतु) उपाधि से आरोपित प्रस्तुत पद का वाच्यर्थ है। यहाॅ समष्टिगत अज्ञान के उत्कृष्ट उपाधि युक्त परमात्मा (सर्वज्ञ) के लिये यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

2. सर्वनियन्तृ तथा अन्तर्यामी-ईश्वर के सर्वनियन्तृत्व (सबको नियनित्रत करने वाला) प्रमाणित करने के लिये निम्न श्रुति ग्राहा्र है-

'एष सेतुर्विधरणः।

''एष त आत्मान्र्याम्यगृतः'' श्रुतिवचन परमात्मा के अन्तर्यामी (भीतर नियमन करने वाला) होने को प्रमाणित करती है।

3 . ईश्वर के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन मुण्डक0 करता है-

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद् ब्रह्रनाम रूपमन्नं च जायेते।।

39. ईष्वस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रयुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव सथूलसूक्ष्मप्रपन्चयस्थानमिति चोच्यते।।

अनुवाद-ईश्वर की यह समष्टि (समूहोपाधि) सबका मूलभूत कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्द का प्राचुर्य होने के कारण समष्टिभूत अज्ञानात्मा को कोश के तुल्य आवश्यक होने के कारण 'आनन्दमय कोश' तथा सूक्ष्म व स्थूल जगत्प्रपन्च के लयस्थान होन के कारण 'सुषुप्ति' कहलाती है।

व्याख्या -1. कारणशरीरम्-सांख्यादि दार्शनिक विचारानुसार केवल सु्ूक्ष्म व स्थूल दो शरीर माने गये हैं, सांख्यमतानुसार यह प्रकृति की त्रिगुणात्मक साम्यावस्था मानी गई है।

2. **आनन्दमयकोशः**-आनन्दमय, मनोमय, विाानमय, प्राणमय तथा अन्नमय ये पॉच कोश वेदान्ती मानते हैं। इस अज्ञान (माया) के प्रथम अवतरण में ईश्वर ही आनन्द प्रचुर कहा गया है, जो ब्रह्र के अज्ञानोपाधि से आरोपित स्वरूप को स्पष्ट अभिव्यक्त करता हे। उपाधिविहीन निर्गुण ब्रह्र तो आनन्द ही है। समष्टि अज्ञान को सुषुप्ति तथा प्रलय भी कहते है।

3. **सर्वोपरमत्वात् तथा आनन्दप्रचुरत्वात्**-सर्वोपरमत्वात् का अर्थ है व्यष्टिगत सम्पूर्ण सृष्टि के विलीन हो जाने का कारण । आनन्दप्रचुरत्वात् का अर्थ है जाग्रद् अवस्था की अपेक्षा अधिक आनन्द होने के कारण।

40. **यथा वनस्य व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वहदेशो यथा वा जलाश्यस्य व्यष्टयभिप्रायेण जलानीति, तथाज्ञानस्य व्यष्टयभिप्रयेण तदनेकत्वव्यपदेशः**

अनुवाद-जैसे वन के वृक्षों का व्यष्टि (पार्थक्य की विवक्षा की 'वृक्ष' यह अनेकत्वज्ञापक व्यवहार होता है अथवा जैसे जलाशय स्थित जल को व्यक्तिगत (पृथकता के) अभिप्राय से उसे 'अनेक जल' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार अज्ञान को व्यष्टिरूप में 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार होता है। यही बात (आत्मा) इन्द्र अज्ञानों के कारण बहुयपवान् प्रतीत होता है' इत्यादि श्रुति में कही गई है।

व्याख्या 1. यथा वनस्य व्यष्टियभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाश्यस्य वयष्टयभिप्रायेण 'जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्टयभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः- यहॉ वन और वृक्ष का तथा जलाश्य और जल का समष्टि और व्यष्टि का अभिप्राय समझने के लिये दो दृष्टान्तों को देने का प्रयोजन इस प्रकार है-चिदात्मा द्वारा अज्ञानाज्ञान कार्योपाधियुक्त होकर जीवभाव तथा ईश्वरभाव की

प्राप्ति होने पर उसका इन उपाधियों से सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध का स्वरूप जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। इसकी कल्पना दो रूपो में की जा सकती है। पहली-चिदात्मा अज्ञान तथा उसके कार्यो से अवच्छेदपूर्ण है। दूसरी-उनमें प्रतिबिम्बित है। अवच्छिन्न मानने पर 'बन वृक्ष' का ताि ा प्रतिविम्बित मानते परे 'जलाशय-जल' का दृष्टान्त है। इसी कारण से इस प्रकार में सर्वत्र दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

2.**इन्द्रोमायाभिः**-'तमिन्द्रं मित्रं वरूणं अग्निमाहुरथो सुपर्णा' आदि वचन से सभी ईश्वरवाचक शब्द होने से इन्द्र भी ईश्वरवाचक हैं। माया उसकी शक्ति है, जिसे वेदान्ती अज्ञान कहते हैं, पुरू अर्थात् बहुत रूपों वाली प्रतीत होती है। ईश्वर एक ही है किन्तु संसार के बहुत से जीवों में स्थित अज्ञान के रूप में अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है।

4.**1 अत्र वयस्तसमसतव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः**।।

अनुवाद-ऐसे स्थल पर व्यक्तिगत तथा समुदायगत व्यापकभाव के कारण ही व्यष्टि (अनेकता) तथा समष्टि (एकता) का व्याहार किया जाता है।

व्याख्या -1. **समष्टिरूप अज्ञान**- संसार के समस्त जीवों के अज्ञान को एक ज्ञान का विषय मानकर समष्टि रूप में देखना।

2. **व्यष्टिरूप अज्ञान**- समस्त अज्ञान के भिन्न-अभिन्न रूप को भिन्न-भिन्न ज्ञान का विषय मानकर, भिन्न-भिन्न रूप में देखना।

42. इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्वप्रधाना।।

अनुवाद-(अज्ञान की) यह व्यष्टि (समष्टि की अपेक्षा) निकृष्ट उपाधिभूत होने के कारण मलिन सत्वगुण प्रधान है।

व्याख्या -1. मलिनसत्वप्रधान-निकृष्ट जीव की उपाधि व्यष्टि रूप अज्ञान है, इसलिये उसमें स्थित सत्वगुण रजस् तथा तमस् से पराभूत होने के कारण मलिन होता है, जैसे स्वच्छ शीशे पर धूलि आदि पड़ जाने पर प्रतिबिम्बग्रहण की शक्ति घट जाती है वैसे ही सत्वगुण रजस् और तमस् के द्वारा पराभूत कर मलिन कर देने पर उसमें चिदात्मा का सुव्यक्त प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित नहीं होता है। यही जीव के अल्पज्ञत्व का हेतु है।

2. **निकृष्टोपाधितया**-इसका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम व्यष्टि अज्ञान को समष्टि अज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट उपाधि से आरोपित कहने के तीन हेतु है-(अ) उसमें आधाररूप एकत्व अन्तर्हित हो जाता है। (आ) इसमें अहड्कार स्थित रहता है। (इ) साथ ही आत्मातिरिक्त वस्तुओं का अध्याय इसी कारण से होता है। द्वितीय अर्थ-जीव ईश्वर की अपेक्षा अधिक निकृष्ट है। जबकि ईश्वर

उपाधियुक्त अज्ञान का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न आदि कहा जाता है, किन्तु जीव अपनी उपाधिभूत (अज्ञान) माया के अधीन होने से अल्पज्ञ अल्पसामर्थिवान् आदि कहा जाता है। जीव के ज्ञान पर प्रतिबन्धकर्ता अविद्या का पर्दा डल जाने से जीव निकृष्ट होता है। जीव के ज्ञान पर प्रतिबन्धकर्ता अविद्या का पर्दा डल जाने से जीव निकृष्ट होता है अपनी निकृष्ट उपाधि के कारण। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार-

'ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तसयोपाधितया।'

ईश्वर और जीव के भेद को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुये विद्यारण्य स्वामी लिखते है-

मायाबिम्वो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद् वैचित्र्यादनेकधा।।

43. एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणयुक्तः प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्।।

अनुवाद-इस (निकृष्ट) उपाधि से उपहित चैतन्य को अल्पज्ञता, अनीश्वरत्व आदि गुणयुक्त होने के कारण तथा केवल (व्यकितगत)एक ही अज्ञान का प्रकाशयिता होने के कारण प्राज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या -1. एकाज्ञानायभासकत्यात्-समष्टिगत (एक) अज्ञान के एक अंश को (एक व्यष्टि रूप अज्ञान को) प्रकाशित करने के कारण।

2.प्राज्ञ-स्वामी रामतीर्थ के अनुसार प्रस्तुत शब्द का अर्थ है प्रयोग अज्ञः के अनुसार अज्ञानी। वैसे प्रकर्षेण जानाति इति प्रज्ञः=प्रज्ञः एवं प्राज्ञः व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है बहुत ज्ञानवान् अर्थात् प्रकृष्टं ज्ञान से युक्त। लेकिन यहॉ (प्रस्तुत प्रकरण में) उसके अल्पज्ञत्व के साथ प्राज्ञ शब्द की यह व्युत्पत्ति उचित नहीं मेल खाती, अतः अज्ञानी अर्थ ही ठीक है। शंकर ने वृहद0 और माण्डूकय0के भाष्य में प्राज्ञ की दो व्याख्यायें लिखी हैं-1. भूत भविष्यत ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञानत्वम् अस्यैव इति प्राज्ञः। 2. प्रा◌ाप्तिमात्रमस्येवासाधारणं रूपम् इति प्राज्ञः।

44. अस्य प्रा◌ात्वमस्पष्टोपाधितयाऽनप्रतिप्रकाशकत्वात्।।

अनुवाद- अस्पष्ट उपाधि से युक्त होने से एक से अधिक (अनेक) का प्रकाशक ने होने के कारण इसे प्राज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या -अस्पष्टोपाधितया अनतिप्रकाशकत्वात्-धुलादि से अस्वच्छ दर्पण के समान प्राज्ञ की उपधिरूपा अज्ञानव्यष्टि, रजस् तमस् के द्वारा सत्वगुण के पराभूत हो जाने से स्पष्ट है। उपाधि से मलिन

हो जाने में उसमें अस्पष्ट रूप से चिदात्मा रूपी सूर्य का बिम्ब सांसारिक विषयों का प्रकाशित नहीं करत, अतः प्राज्ञः कहलाता है। उपाधिभूत अज्ञान के मलिन हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित होन वाला चिदात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट हो ही नहीं सकता। यही वेदान्त में चिदाभास कहलाता है। यही सांसारिक वस्तुओं का प्रकाशक है। चिदाभास के अस्पष्ट होने पर संसार की चीजों को अधिक प्रकाशित न कर सकने के कारण यत्किन्चित ही प्रकाश प्रदान कर पाता हे। यही प्राज्ञ के अल्पज्ञत्व का रहस्य है। यथा-उपाधिभूत अज्ञान दर्पण है, सत्वगुण स्वच्छता है, रजस् धूलि आदि है, चिदात्मा सूर्य है। स्वच्छ दर्पण में सूर्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य-प्रतिबिम्बित दर्पण अन्धेरे में स्थित पदार्थो को भी प्रकाशित करता हे किन्तु यदि दर्पण स्वस्छ नहीं है तो न तो सूर्य ही इसमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगा तथा न ही वह अन्धेरे में स्थित पदार्थो को प्रकाशित करेगा।

45.अस्यापीयमहड्कारादिकारणत्वात् काररणशरीरमानन्दप्रचतत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोषः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपन्चलयस्थानमिति चोच्यते।।

अनुवाद- इस (व्यष्टि-जीव) की भी यह उपाधि अहंकार आदि का कारण होने के ’कारण शरीर’ आनन्दाधिक्य तथा शुद्ध चैतन्य को कोश के समान ढक लेने के कारण ’आनन्दमय कोश’, सबका उपरमण होने से सुषुप्ति तथा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर प्रपन्च के लीन होने का आधार से लयस्थान कहलाती है।

व्याख्या -1. **सुषुप्ति**-आत्मा की अज्ञानोपाधियुक्त दो अवस्थायें मानी गई है-एक सुषुप्ति दूसरी जाग्रत। आत्मा के और जगत् के सृष्टिविकास की तीन दशाओं में भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, वेदान्ती लोग तीन-अवस्था, तीन शरीर तथा पॉच कोषों से अभिहित करते हैं। -सुषुप्ति अवस्था में या, कारण शरीर में आनन्दमय कोश, स्वप्नावस्था या सूक्ष्म शरीर में विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश तथा जाग्रत या सूक्ष्म शरीर में विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश तथा जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर में अन्नमय कोश।

2. **अहड्कारादिकारणत्वात्**-अहंड्कार शब्द से यहॉ अन्तःकरण अभिप्रेत है। अन्तःकरण सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लय हो जाता है तथा स्वप्न और, जागरण में प्रविष्ट होते समय अज्ञान से ही उत्पन्न होता हे। इसी से अज्ञान को अहड्कार से उपलक्षित अन्तःकरणादि का हेतु बताया है। जैसा कि विद्वन्मनोरन्जिनी टीका भी कहती है-

’अहड्कारदेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्यकारणत्वात्।’

3. **आनन्दप्रचुरत्वात्**-जागरण तथा स्वप्न में आनन्द के साथ दुःख का भी अनुभव होता है किन्तु सुषुप्ति में केवल सुख का ही अनुभव होता है। कैवल्य उपनिषद् कहता है-’सुषुप्तिकाले सकले

विनीनेतेमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।' अर्थात् सुषुप्तिकाल में जागरण और स्वप्नप्रपन्च के विलीन हो जाने पर सुख का अनुभव करता है।

46. तदानीमेतामीश्वरंप्रज्ञौ चैतनयप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुते। सुखमहमस्वाप्सं न किन्चदवेदिषमि' त्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च।।

अनुवाद-उस काल में (प्रलय या सुषुप्तिकाल में) ईश्वर और प्राज्ञ दोनों चैतन्य से प्रदीप्त अत्यधिक सूक्ष्म अनावृत्तियों से स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं। 'चेतोमुखी प्राज्ञ आनन्द को भोगता है' इत्यादि तथा 'मै ऐसा सुख से सोया कि कुछ जान नहीं सका' आदि वाक्यों द्वारा अचेत पुरूष सोकर उठने के उपरान्त अपने पूर्वानुभव सुख को प्रकट करता है।

व्याख्या -1. चैतन्यप्रदीप्ताभिः-समष्टि तथा व्यष्टि चैतन्य से प्रदीप्त अज्ञानवृत्तियों से स्वप्न एवं जाग्रदवस्था में अन्तःकरण में रूप विकसित होने वाली ये अज्ञानवृत्तियॉ ही होती है। ये चिदात्मा से प्रतिबिम्बित होकर इनमें आनन्दानुभूति कराने की क्षमता आती हैं। ये चिदात्मा के चैतन्य से प्रकाशित होती हैं।

2.**अज्ञानवृत्तिभि**:-अन्तःकरण की वृत्तियों से अनुभूति तथा भोग स्वप्न और जाग्रत अवस्था में न होकर सुषुप्ति में अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है अतः सुषुप्ति दशा में अन्तःकरण वृत्तियों में आनन्द की अनुभूति हो ही नहीं सकती।

3. **आनन्दभुक्चेतोमुख**:-चेतोमुखः का अर्थ शाड्करभाष्य के अनुसार 'स्वप्न आदि अवस्था में अज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वारस्वरूप होने के कारण चेतोमुख कहा है।' जबकि प्रस्तुत प्रकरणानुकूल बनाने के लिये रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरन्जिनी टीका में 'चैतन्य से प्रदीप्त होने वाली अज्ञानवृत्तियों को ही मुख्य रूप से आत्मीय बनाने वाला कहा है'-'चैतन्यदीप्ति अज्ञानवृत्तिप्रधानः।

47. अनयोः समष्टिव्यष्टयोर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः।।

अनुवाद-वन और वृक्ष अथवा जल और सरोवर के समान इन समष्टि और व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियों का ऐक्य है (अभेद) है।

व्याख्या - इन उपर्युक्त दोनों स्वरूपों में अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर और प्राज्ञ) में वास्तविक भेद नहीं है। भेद है केवल उपाधि के तारतम्य के कारण। जैसे स्थूल जलाशय उपाधि से अविच्छिन्न आकाश और तद्गत प्रतिबिम्बाकाश में वास्तविक भेद नहीं है। उपाधियों से हट जाने पर एक निरवच्छिन्न आकाश रह जाता है।

48.एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि बनवृक्षवच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादिश्रुतेः।।

अनुवाद-इन अज्ञानोपाधियों से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ भी एक ही हैं जैसे वन में वर्तमान और वृक्षों में वर्तमान आकाश अथवा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही है। श्रुतिवचन भी साक्षी हैं-'यह (आत्मा) सबका ईश्वर है'

व्याख्या -1. ईश्वरप्राज्ञयोः अभेदः-ऐसा समझा जाता है कि वेदान्ती लोग ईश्वर तथा जीव में वह अभेद नहीं मानते जो अभेद सामान्यता एकता माना जाता है। यदि ऐसा होता तो अद्वैत वेदान्तियों का -

''जीव ईशविशद्धचित्तया जीवेशयोर्भिदा।

अविद्या तच्चितोर्योगः षड़स्माकमनादयः।।''

यह सिद्धान्त भंग हो जायेगा। अतः ईश्वर और प्राज (जीव) के अभेद को स्वरूपगत ऐक्य ही मानना चाहिये अर्थात् विशेष्य चैतन्य एक रूप् हे और विशेषण ईश्वर एवंज ीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार के उपाधिगत काल्पनिक भेद से ही ईश्वर और प्राज्ञ में भेद है इसके विपरीत दोनों में अभेद है।

2. **एष सर्वेश्वर**-माण्डूक्य में यह वाक्य इस प्रकार है-एषः सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामि एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् हि भूतानाम् अर्थात् यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर हे, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामि है और सब जीवों की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान है तथा सबका कारण भी है।

49. ननवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद् गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽ धारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूत यदनुपहित चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थ' मन्यते इत्यादि द्युतेः।।

अनुवाद- वन और वृक्ष में वर्तमान आकाश तथा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बत आकाश का आधार उपाधि से रहित महाकाश के समान इन दोनों समुदायगत तथा व्यक्तिगत अज्ञान तथा इन उपाधियें से उपहित दो चैतन्यों (ईश्वर तथा प्राज्ञ) का आधार निरूपाधि शुद्ध चैतन्य है, उसे ही तुरीय नाम से अभिहित किया जात है। श्रुतिवचन से भी स्पष्ट है 'अद्वैत ब्रह्ा्र को ही चतुर्थ मानते है।

व्याख्या - 1. **आधारभूतानुपहिताकाशवद्**-अनुपहिताकाशवद् का अर्थ है घटाकाश, जलाशयाकाश आदि उपाधियों से रहित आकाश के समान। इसके लिये आधारभूत इसलिये कहा गया है कि-यद्यपि आकाश न तो जल जलाशयों का और न ही वृक्षों का आश्रय है फिर भी आकाश के बिना इन सब (जलाशय-वन) की स्थिति हो नहीं हो सकती।

2. -'**चतुरश्छयताव्रद्यक्षरलोपश्च**' वार्तिक से चतुर शब्द से 'तुरीय' शब्द निष्पन्न होकर 'चतुर्थ' अर्थ देता है। प्राज्ञ-तैजस् तथा विश्व की अपेक्षा तचुर्थ होने के कारण विशद्ध चैतन्य तुरीय कहलाता है। किसी-किसी मत के अनुसार तीन अवस्थाओं सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत की अपेक्षा चतुर्थ होने से

तुरीय कहलाया हे और आपदेव के अनुसार अविद्या-ईश्वर एवं प्राज्ञ की अपेक्षा चतुर्थ होने से तुरीय है। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्ही तीनों का निरूपण किया गया है। शड्.कराचार्य ने भी प्राज्ञ, तैजस् और विश्व की अपेक्षा से अनुपहि चैतन्य को चतुर्थ प्रतिपादित किया है-'प्रतीयमानपादत्रय रूपवैलक्षण्यात्।'

3. **शिवम्-त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेद्।**

तेभ्यों विलक्षणा साक्षी चिन्मात्रोऽहम् सदाशिवः।। कैवल्य उप0

आनन्दगिरि-''परिशुद्धं परमानन्दबोधरूपम् इति।।''

4. अद्वैतम्-भेदविकल्परहितम्-शड्.कराचार्य।

50. इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्या तप्तायः पिण्डवदविविक्त सन्महावाकयस्य वाच्यं विविक्त' विविक्त सल्लक्ष्यमिति चौच्यते।।

अनुवाद-लोगोंं द्वारा जलते हुए लोहे के टुकड़े को आग ही कहने के समान यही चतुर्थ उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य, अज्ञानादि एवं उनके उपाधियुक्त दो चैतन्यों के साथ एकत्व व्यबहृत होता है और ये इस अवस्था में अद्वैतप्रतिपादक महावाक्य के वाक्यार्थ होता है, लेकिन व्यष्टि विवक्षा होने पर भी महावाक्यों द्वारा प्रतिपावित एकत्व को लक्षणाश्रय पर लक्ष्यार्थ कहना चाहिये।

व्याख्या तुरीयम्-इसके द्वारा अध्यारोप के विवेचन चित्त के तन्मय हो जाने से कहीं प्रकरण का मुख्य विषय विस्मृत न हो जाय, इसलिये प्रसड्.गवश उसको स्मरण दिला रहे हैं। वेदान्त का मुख्य ध्येय है जीव ब्रहा्र की एकता। कहा गया है-**'विषयों जीवब्रह्रा्रैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।**'

2.**वाच्यलक्ष्यम्**-साहत्यदर्पण में अर्थ को पूर्ण रूप से जानने के लिये तीन शब्दशक्तियॉ है-वे हैं-अभिधा(वाच्य), लक्षणा(लक्ष्यम्) और व्यन्जना। अभिधा से वाकय का अर्थ सीधा सादा अर्थ गम्यमान होने के कारण वाच्य कहलाता है। तथा वाच्य का अर्थ, सीधे अन्वय से ठीक नहीं बैठता तब लक्षणा का आश्रय लेते हैं। जैसा हि साहित्यदर्पण में लक्षणा की परिभाषा बताई गई है-

'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।

रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।'

अभिधा प्रतीयमान अर्थ का बोध होकर, रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य की प्रतीति जिससे होती है, वह लक्षण है जो लक्ष्यार्थ कही जाती है। तप्तायः पिण्डवत् में दाहकता अग्नि का धर्म

है वह लौहपिण्ड में संक्रमण कर गई है अतः अया पिण्ड अपने से सम्बद्ध अग्नि का लक्षणा से बोध कराता है। तप्त अयः पिण्ड का वाच्यार्थ होगा-अयः पिण्ड का अग्नि से अभिन्न प्रतीत होना लक्ष्यार्थ होगा-अग्नि का अयः पिण्ड से भिन्न प्रतीत होना'तत्वमसि' का इस प्रकार वाच्यार्थ होगा-अज्ञानोपहित चैतन्य तथा तुरीय चैतन्य की अभिन्नता। लक्ष्यार्थ होगा अज्ञानोपहित चैतन्य का शुद्ध चैतन्य से भिन्न प्रतीत होना।

4.4 आवरण एवं विक्षेप शक्ति

51. अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।।

अनुवाद-इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियॉ है।

व्याख्या -1. आयरणशक्तिःप्रमाता जीव की दृष्टि से सामने पर्दा डालकर सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा को आवृत्त करने वाली शक्ति को आवरणशक्ति कहते है। जैसा कि सुबोधिनी टीका भी कहती है-

सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः।

2. **विक्षेपशक्तिः**-ब्रहा्र से लेकर स्थावर प्राणियों तक सम्पूर्ण नामरूपतामक संसार का (जल में बुलबुले के सदृश) पैदा करने वाली शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है। सुबोधिनी टीका भी इसी का समर्थन करती है-

'ब्रहा्रादिस्थावरान्त जगत् जलबुछबुदत् नामरूपात्मकं विक्षिपत्ति सृजतीति विक्षेपशक्तिः।

52. आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि में घोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमक्लोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नामप्यत्मानमपरिक्ष्छिन्नमससारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छज्ञयतीवतादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्

'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नचर्क यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः। तथा बद्धवद्धाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा' इति।

अन्वय -यथा अतिमूढ़ः घनच्छन्नदृष्टिः (सन्)अर्क घनच्छन्मं, निष्प्रभं च मन्यते, था मूढ़ः दृष्टे यः (आत्मा) वद्धवत् भाति, सः नित्योपलब्धिस्वरूपः आत्मा (एब) अहम् (अस्मि)।

अनुवाद-जैसे लघु मेघ खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान की असीमित, अजन्मा और

असांसारिक आत्मा को आवृत कर देता है, ऐसी (यह) शक्ति है,यही आवरण शक्ति कहलाती हैं। इसीलिये कहा गया है-

’जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है, उसी भॉति जो मूढ़ साधारण दृष्टिवान् लोगों को जन्ममरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है, ऐसा वह नित्य उपलब्धिस्वरूप अहम् या आत्मा है।’’

व्याख्या -1. आच्छादयतीव- इसका अर्थ है मानो ढक लेता है अर्थात् सत्यरूप में ढ़कता नहीं किन्तु ऐसा आभास होता है िकवह आवृत्त है। यह उद्धरण अद्वैतवेदान्तियों का आत्मा के बन्धन और मोक्ष दशा की अयथार्थता प्रदर्शनार्थ बहुत ही लोकविख्यात है।

2. बद्धवद्भाति-बॅधा हुआ-सा प्रतीत होता है अर्थात् वेदान्तियों की दृष्टि में बन्धन और मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र हैं वस्तुतः आत्मा बन्धन और मोक्ष से परे है।

53. **अनवैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मयः कर्तृत्भोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्दसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानावृत्तयां रज्ज्वां सर्पत्वस्म्भावना।।**

अनुवाद- इसी आवरण शक्ति से आच्छन्न आत्मा की कर्तृता, भोक्तृता सांसारिक सुखदुःखत्मक मोहात्मक तुच्छ भावनायें भी अज्ञानावृत्त रस्सी में सर्प होने की सम्भावना में तुल्य आरोपित होती हैं।

व्याख्या -तुच्छ-तुच्छ का शाब्दिक अर्थ ’शून्य’ है, लेकिन वेदान्ती लोग संसार को ऐसा (शून्य) नहीं समझते वे उसे सुख-दुःख रूप से प्रतीयमान संसार की दृष्टि से सत् तथा युक्तिपूर्वक विचारकों की दृष्टि से असत् और तत्वविदों की दृष्टि में तुच्छ बताते है।

54. विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्तयाकाशादिप्रपन्चादिमुदभावयति तादृश सामर्थ्यम्। तदुक्तम्-

’विक्षेपशक्त्लिर्लिलङ्गादिब्रह्ाण्डान्तं जगत्सृजेदिति’।।

अनुवाद-विक्षेप शक्ति तो वह है-जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादिक रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि को उद्भावना के समान अज्ञानावृत्त आत्मा में ही आकाशादि प्रपन्च की उद्भावना कराता हे यह ऐसी शक्ति है। अतः कहा गया है-

विक्षेप शक्ति ही लिङ्ग (सूख्म दृष्टि) से लेकर ब्रह्ाण्डपर्यन्त संसार की रचना करती है।

व्याख्या - वक्षेपशक्त्लिर्लङ्गाद ब्रह्ाण्डान्तं जगत्सृजेत्-इस वाक्य का निर्देश विक्षेप शक्ति तथा आवरण शक्ति दोनों का निर्देश करने के लिये ’दृग्दृश्यविवके’ से इस प्रकार किया गया है-

शक्तिद्वयं हि मायया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्राण्डान्तं जगत्सृजेत्।।
अन्तदृश्ययोर्भेद बहिश्च ब्रह्रसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्।।

55. शक्तिद्वयवदज्ञानोपपहितं चैतन्य स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति।।

अनुवाद-दो शक्तियो की अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य अपने प्रधान अपने प्राधान्य से निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि के प्राधान्य से उपादान कारण होता है।

व्याख्या - शक्तिद्वयवद्.............भवति- जिस भॉति एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण होनी है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है। यदि मकड़ी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नहीं बन सकता यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य से ही तन्तु बन सकता। इस प्रकार जालरूपी कार्य मकड़ी की चेतनता तथा उसका (विशिष्ट) शरीर दोनों ही कारण है। लेकिन चेतनांश के प्राधान्य के कारण शरीर निमित्त (कारण) है और वही मकड़ी शरीरप्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है क्योंकि शरीर का साक्षात् सम्बन्ध है। इसी प्रकार चैतन्य (ईश्वर) भी अपने चैतन्य प्रधानता के कारण चराचर संसार का निमित्त कारण है तथा अज्ञान रूप उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है संसार अज्ञानोत्पन्न है अतः अज्ञान (माया) संसार का उपादान है। अज्ञान आत्मा भी है। अतः मायावी चैतन्य (ईश्वर) को परम्परया संसार का उपादान कारण कह सकते हैं, क्योकि मकड़ी की भॉति ईश्वर भी सृष्टि से पूर्व एक, बिना किस साधन के ही अपनी माया के द्वारा सूक्ष्म शरीर भी लेकर ब्रह्राण्ड तक स्थल जगत् की सृष्टि कर देता है। अतः ईश्वर उपादान कारण है तथा इसके प्रधान कारण अज्ञान की अपेक्षा परम्परा से सम्बन्धित ब्रह्र के उपादान कारण होने पर इसकमें ’ब्रह्र’ के चैतनयत्व नित्यत्व गुण नहीं रह सकते। चैतन्यांश से वह निमित्त कारण है।

56. यथा लूता तन्तुकार्य प्रति स्वप्रधानतया निमित्त स्वशरीरप्रधानतयोंपादानं च भवति।।

अनुवाद-जिस प्रकार एक ही मकड़ी जालरूप कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्त कारण है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है, उसी भॉति अज्ञानोपाधि युक्त आत्मा चैतन्य प्रधानता के कारण समस्त प्रपन्च का निमित्त कारण तथा अज्ञान प्राधान्य के कारण उपादान कारण है ।

व्याख्या -यथा.......भवति-यह मकड़ी का उदाहरण उपनिषदों में मूल रूप से इस प्रकार है-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णाते च।

यथा पृथिव्यामोषध्यः सम्भवन्ति ।।

यथा सतः पुरूषोत्केशलोमानि।

तथाक्षरात्संभवती विश्वम्।।

अर्थात जिस भॉति मकड़ी जाल को बनाती है तथा फिर उसे ग्रहण कर लेती है (निगल जाती है)। जिस प्रकार पृथिवी में औषधियॉ (वनस्पतियॉ) उत्पन होती हैं तथा रोम उत्पन्न होते हैं वैसे अक्षर (अविनाशी) ब्रहा्र से यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है।

57. तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते 'तस्माद्वा एतसमादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः।।

अनुवाद-तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्तियुक्त अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु से अग्नि, अग्नि स ेजल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। 'उस आत्मा से आकाश से आकाश उत्पन्न हुआ' यह श्रुतिकथन भी प्रमाण है।

व्याख्या -1. तम;प्रधान- आकाशा आदि तत्वों का कारणभूत अज्ञान में तमोगुण प्रधान होता है। इसका तात्पर्य है कि उसमें सत्व एवं रजस् गुण भी अन्य मात्रा में स्थित रहते है, किन्तु तमोगुण अन्य दोनों गुणों को अभिभूत किये रहता है। इसी से (तमोगुण की अन्य की अपेक्षा प्रधानता होने से) मत;प्रधान कहा जाता है।

2.**आकाश**- वेदान्ती लोग अन्य दार्शनिकों की भॉति आकाशादि को नित्य नहीं मानते अपितु 'उत्पद्यते' के ,द्वारा उत्पन्न होने वाला मानते हैं। यद्यपि इस विषय में 'नन्वाकाशं नात्पद्यते' निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति' इस वैशेषिक दर्शन के अनुसार, आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता' आक्षेप उठता है किन्तु 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति से प्रस्तुत आपेख का निराकरण हो जाता है, क्योकि पृथिवी आदि के सद्शः' आकाश भी महत्वयुक्त होने पर भूत है, इसलिये उत्पन्न होता हें, जैसा कि कहा भी है-'आकाशमुत्पद्यते महत्वे सति भूतवान्महापुथिव्यादिवदिति'।

3.**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः**- इसके प्रामाण्य से वैशेषिकों का सिद्धान्त आकाश तथा अन्य चार भूतों को नित्य मानने का आक्षेप बाधित होता हैं तथा साख्य का प्रकृति कारणवाद भी खण्डित हो जाता है। नैयायिकों का परमाणुकारणवाद भी निरस्त है।

4. **अज्ञानोपहितचैतन्यात्**-अशेषविश्व ब्रहा्र से विकसित हुआ है-

(क) 'पुरूष एवं इदं सर्वम्- ऋग्वेद, दशम् मण्डल।

(ख) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येनं जातानि जीवन्ति0। तै0 उ0

(ग) अहम् सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वम् प्रवर्तते। गीता 10/8

58. तेषु जाडयाधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्वरजसतमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते।

अनुवाद-उसमें जड़ता अधिक दिखाई देने के कारण तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य ही उसका कारण है। उस समय उन्ही आकाशादि पन्चभूतों में अपने-अपने साक्षात्कारों के गणधार पर सत्व, रजस् और तम की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या -1. **सत्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण**-उपादान कारण के सत्वरजस् तथा तमस् तीनों गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं, अतः 'जाडयाधिक्यदर्शनात्' अर्थात् जड़ता अधिक होने के कारण कहा गया है। 'जैसे कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कारणस्थित सूक्ष्म गुण कार्य में अधिक ठोसतर और कठोर होकर अभिव्यक्त होते हैं। विद्वन्मनोरन्जिनी के अनुसार-

कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्वादयस्तेषां प्रक्रमेण, तान् गुणान् आरभ्य यथाकार्यक्रमं सत्वादिगुणाः सहैव कार्यस्तेषुत्पद्यन्त इत्यर्थः। जैसे-जैसे कार्य उत्पन्न होते जाते है वैसे-वैसे उनके कारणों में रहने वाले सत्व, रजस् तथा तमस् गुण उन कार्यो में उनकी उत्पत्ति के साथ ही उद्भूत हो जाते है। तर्कभाषा में 'कारणगुणप्रकरेण' की व्याख्या इस प्रकार है 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।' इस वैशेषिक दर्शन क ेमत के वाक्य का जो तात्पर्य है वह वेदान्तियों क ेमत से संगत नहीं बैठता, क्योकि वेदान्त में आकाश आदि उत्पन्न होते है नित्य नहीं होते। वेदान्त के अनुसार 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभनते' का अर्थ 'कारण ही भिन्न-भिन्न कार्यो की आकृति में स्थित होता है, इसलिये कारण स्थित गुण कार्य में भी अनुविद्यमान रहते हैं। होगा।

सांख्य तथा वेदान्त सत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं जबकि वैशेषिक तथा न्याय दर्शन आरम्भवाद तथा असत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं। वेदान्त के अनुसार कारण ही कार्य के आकार में स्थित होता है।

2.**तेषु जाडयाधिक्यदर्शनात्**-उन (आकाश आदि पन्चमहाभूतो) में जाडय (जड़ता-अचैतन्य) की अधिकता साक्षात् दीख पडती है, अतः उनके कारणस्वरूप अज्ञान में भी जडता होना स्वाभाविक है। जड़ता तमोगुण का धर्म होन के कारण जैसा कि सांख्यकारिका कहती है (गुरू वरणकमेव तमः)अज्ञान तमोगुणप्रधान होता है। रामतीर्थ के कथनानुसार 'अधिक्य' पद भूतो (आकाश आदि)

और उनके कार्यो में चैतन्य की भी अल्पोपस्थिति को सूचित करता है। वाक्यसुधा ' स्पष्ट कहती है-

’अस्ति भाति प्रियम् रूपम् नाम चेत्यंशपन्चकम्।

अद्यत्रयं ब्रह्ररूपं जगद्रूपं ततो ,द्वयम्।।

अभ्यास प्रश्न :

एक शब्द मे उत्तर दिजिए

1- अज्ञान की कितनी शक्तिया होती है।
2- सद् और असद् से अनिर्वचनीय है।

3- अज्ञान आदि सकल जड समूह को क्या कहते है।-

4- चैतन्य को क्या कहते है। - सर्वज्ञ

5- उपहित को कहा जाता है। - उपाधि आरोपित

6- वेदान्तसार मे कोश् कितने प्रकार के होते है।
7- सतचित और आनंद किसे कहा गया है।

8- लूता किसे कहते है।
9- तम का अर्थ क्या होता है।

10- आवरण शक्ति का अर्थ क्या है।

4.5 सारांश

रस्सी मे सर्प का आभास जो अज्ञान है वह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि दो तात्पर्यो से कहीं एक रूप में और कहीं बहुबचन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है वृक्षो को समुदाय के दृष्टिकोण से बन कहा जाता है उसी प्रकार जल तरंगो के समूह को जलाशय कहा जाता है। ठीक इसी तरह अनेक संख्या मे प्रतीत होने वाला जीव अज्ञानो से युक्त होकर समूह वाला होता हुआ समष्टि की इच्छा से एक होता है। अज्ञान की दो शक्तिया होती है – आवरण तथा विक्षेप। आवरण शक्ति जीव के समक्ष पर्दा डालकर आनन्द स्वरूप आत्मा को ढक देती है इसीलिए इसे आवरण कहा जाता है। ब्रहम् से लेकर चरचर जगत् के प्राणियो तक समस्त नाम रूपात्मक संसार को पैदा करने वाली शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते है। जिस प्रकार मेघ से आच्छादित सूर्य को अज्ञान सम्पन्न जीव प्रकाशहीन बतलाता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान से असिमित ब्रहम ज्ञान को जीव परिछिन्न कर झूठा बतला देता है। अत: साधारण दृष्टि वाला जीव लोगो को जन्म मरण के बन्धन से भी इसी प्रकार प्रतीत होने लगता है इस प्रकार वह नित्य उपलब्ध होता हुआ अहम है या आत्मा है वेदान्तियो की जो दृष्टि है उसमे आत्मा

बन्धन एवं मोक्ष से परे है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अज्ञान के स्वरूप क अध्ययन कर आत्मा के विशुद्व स्वरूप के निर्णय को समझा सकते है।

4.6 शब्दावली

अज्ञानावच्छिन्न – अज्ञान से अवच्छिन्न न होने वाला

समष्टि – समुदाय

उपहित – उपाधि द्वारा आरोपित

विशुद्वसत्वप्रधान – ईश्वर मे स्थित माया का स्त्वगुण प्रधान होना। इसका तात्पर्य यह है कि वेदान्त मे सत्वगुण समष्टि ईश्वर मे स्थित अज्ञान के अन्दर रजस एवं तमस् को अभिभूत करके रखता है।

व्यष्टि – श्रुति बचनो मे अज्ञान का अनेक रूप सिद्व होता है इसका अर्थ है वि उपसर्ग पूर्वक अश् धातू से क्तिन् प्रत्यय होने पर ब्यक्ति शब्द बनता है

आनन्द प्रचुरता –जागते और सोते दोना समय सुख और दूख दोनो का अनुभव होता है किन्तु आत्म ज्ञान से परिपूर्ण हो जाने पर जीव को हर समय आनन्द की ही अनुभूति होती है।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 – दो

2 – ब्रहम

3 –अवस्तु

4 – सर्वज्ञ

5 – उपाधि आरोपित

6 – पॉच

7 – ब्रह्म

8 –मकडी

9- अंधकार

10 – ढकना

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;
- राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग 1-2;
- दासगुप्त : हिस्टरी ऑव इंडियन फिलासफी, भाग1
- वेदान्तसार – सदानन्द योगीन्द्र चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1- अज्ञान के स्वरूप को व्याख्यायित कीजिए

2- अज्ञान के स्वरूप पर एक निवंध लिखिए

3- आवरण शक्ति को परिभाषित कर अज्ञान की व्याख्या कीजिए

4- विक्षेप शक्ति के साथ अज्ञान को परिभाषित कीजिए

5- आवरण और विक्षेप शक्ति की समीक्षा कीजिए

इकाई – 5 सूक्ष्म शरीर एवं पंचीकरण

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति
5.4 पंचीकरण की प्रक्रिया
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

वेदान्तसार के ग्रन्थावलोकन से संमबंधित यह पॉचवी इकाई है। इसके पूर्व की इकाईयो में आपने वेदान्त की ऐतिहासिकता जानकर मंगलाचरण से लेकर अनुवंध का ज्ञान प्राप्त करते हुए अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्तियो का सम्यक अध्ययन किया है। यद्यपि वेदान्तसार पुस्तक में सूक्ष्म शरीर के वर्णन के बाद पंचीकरण का प्रसंग आता है तथापि प्रस्तुत इकाई में पंचीकरण का सक्षिप्त विवरण आपके अध्यनार्थ प्रस्तुत है।

भारतीय दर्शन में अनेक विधाओं मे सृष्टि की प्रक्रिया के अनेक प्रकार से वर्णन किए गये है। आचार्य शंकर की परम्परा से लेकर सदानन्द योगेन्द्र तक जितने वर्णन किए गये उनमें पंचीकरण का स्पष्ट निदर्शन केवल वेदान्त सार मे प्राप्त है। इस ग्रन्थ में पंचीकरण की विधा को अत्यंत तार्किक रूप से प्रस्तुत करते हुए परिभाषित किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप पंचभौतिक जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया को सम्यक रूप से जानकर विश्लेषित कर सकेंगे साथ ही पंचमहाभूतो की उत्तपत्ति आदि को भली भॉति समझा सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

पंचीकरण की प्रक्रिया से समबंधित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह बता सकेंगे कि

- पंचीकरण का अर्थ क्या है।
- पंचीकरण की परिभाषा क्या है।
- वेदान्तसार में पंचीकरण द्वारा उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है।
- आकाशादि पंचमहाभूतो की उत्पत्ति कैसे होती है।
- महाभूतो का सम्मिश्रण किस प्रकार होता है।

5.3 सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति

59. एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपन्चीकृतानि चोच्यन्ते।।

अनुवाद-ये ही सूक्ष्मभूत तन्मात्रा और अपन्चीकृत कहे जाते हैं।

व्याख्या -1. सूक्ष्मभूतानि-इसका, उल्लेख आगे प्रसंग में किया जायेगा। आगे लिखे जाने वाली स्थूलभूतों की अपेक्षा जो सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं तथा जाग्रत अवस्था में व्यवहारोचित नहीं होते, वे सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं तथा जाग्रत अवस्था में व्यवहारोचित नहीं होते, वे सुक्ष्मभूत कहलाते हैं।

2. **तन्मात्राणि**-ये सूक्ष्मभूत दूसरे भूतों में सम्मिश्रित नहीं होते तथा अपने विशुद्ध स्वरूप में होते हैं। सूख्म दशा में आकाश में केवल रस और पृथिवी में केवल गन्ध ही रहता है। और जब इन पॉचों सूक्ष्मभूतों का पन्चीकरण हो जाता है तब ये स्थूलत्व को प्राप्त कर प्रत्येक (महाभूत) पन्चात्मक हो जाते हैं (प्रत्येक में पॉचों भूतो का अंश रहता है)। विद्वन्मनोरन्जिनी के अनुसार-**तान्येवेति तन्मात्रणिति समासविग्रहः। 'शब्दादितावन्मात्रैकस्वभावान्यपन्चीकृतानि परस्परमसंसुष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते।'**

60. एतेभ्यः सूक्ष्मशरीरणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।।

अनुवाद-इन्हीं से सूक्ष्म शरीर एवं स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या -1. **सूक्ष्मशरीरराणि**-सांख्यमतानुसार सूक्ष्मशरीर के अट्ठारह अवयव होते हैं जबकि वेदान्त सूख्मशरीर को सत्रह भागों वाला मानता है। वेदान्तियों के सूक्ष्मशरीर का विवरण निम्न कारिका प्रस्तुत करती है-

'पन्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।

अपन्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माड्क भोगसाधनम्।।

61. सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिड्गशरीराणि।।

अनुवाद-सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं, ये ही लिड्गशरीर है।

व्याख्या -1. सूक्ष्मशरीरणि- इसकी व्याख्या ऊपर देखें।

2. **लिड्गशरीराणि**-सूक्ष्म शरीर ही लिड्गशरीर कहे जाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है। जिस भॉति सूक्ष्म शरीर के वेदान्त में सत्रह अवयव माने गये हैं वे ही लिड्गशरीर के भी अवयव हुए, क्योंकि सूक्ष्म शरीर की ही दूसरी संज्ञा लिड्ग शरीर है। लिड्गशरीर संज्ञा से अभिहित होने का कारण इस प्रकार है-

''लिड्गयते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिड्गानि।

लिड्गानि चे तानि शरीरराणि चेति लिड्गशरीराणि।।

पन्चदशी के अनुसार लिड्ग (सूक्ष्म) शरीर के अवयव है-

बुद्धि, कर्मेन्द्रिय, प्राणपन्चकैर्मनसा धियां।

शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिड्गमुच्यते।।

किन्तु सांख्यतत्वकौमुदी में इसके निम्नलिखित अवयव कहे गये हैं-

’महदड्कारैकादशोन्द्रियपन्चतन्मात्रर्प्यन्तम्।’

62. अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपन्चकं, बुद्धिमनसों, कर्मेन्द्रियपनचकं, वायुपन्चकन्चेति।।

अनुवाद-वे अवयव हैं-पॉच ज्ञानेद्रियॉ, बुद्धि एवं मन, पॉच कर्मेन्द्रियॉ तथा पॉच वायु।

व्याख्या -1. ज्ञानेन्द्रियपन्चकम्-इसका तात्पर्य है पन्च (पॉच) ज्ञानेन्द्रियॉ आकाशादि में स्थित सत्वगुणांश से श्रोत्र (कान), वायु के सत्तवगुणांश से त्वक् (त्वचा), तेज के सत्वगुणांश से चक्षु (नेत्र), जल के सत्वगुणांश से रसना (जीभ) तथा पृथिवी के सत्वांश ये घ्राण (नासिका) का उद्भव होता है। कारिका भी है-

’सत्वांशैः क्रमाद्धीन्द्रियपन्चम।

श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्रणांख्यमुपजायते।।

63. **ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्रणाख्याणि**।।

अनुवाद-श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा तथा घ्रण ये (पॉच) ज्ञानेन्द्रियॉ हैं।

व्याख्या -1. ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियॉ आकाश आदि, भूतों के सात्विक भागों से उत्पन्न होती हैं। शेष इनके विषय में पृष्ठ 92 पर देखें

64.अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपन्चकं, बुद्धिमनसो, कर्मेन्द्रियपन्चकं, वायुपन्चकन्चेति।।

अनुवाद-ये अवयव हैं-पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ, बुद्धि एवं मन, पॉच कर्मेन्द्रियॉ तथा पॉच वायु।

व्याख्या -1. **ज्ञानेन्द्रियपन्चकम्**- इसका तात्पर्य है पन्च (पॉच) ज्ञानेन्द्रियॅ आकाशादि के सात्विक अंशों से क्रमशः अलग-अलग प्रादुभूर्त होता हैं।

व्याख्या -एतानि.......उत्पद्यन्ते- यही क्रम तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वचन भी प्रस्तुत करते हैं-

’तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः।’

65. बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तः करणवृत्तिः।।

अनुवाद-निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि।

व्याख्या -1. **अन्तः करणवृत्तिः**-आन्तरिक विचारों की (साधकतमं करणम् से करण) करणभूत इन्द्रि अथवा अन्तःकरण कहलाती है। (इसी अन्तरिन्द्रिय में ’मै स्त्री हूँ, मै गृहसथ हूँ’ इस भॉति निश्चययुक्त जब वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसे बुद्धि कहते हैं।)

2. अन्तःकरण वृत्ति के दो रूप होते हैं-(क) निश्चयात्मिका बुद्धि।(ख) संशयात्मिका वृत्ति मन।

66. मनों नामसड़्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः।।

अनुवाद-सड़्कल्प और विकल्प करने वाली (संशय करने वाली) अन्तःकरण की वृत्ति मन है।

व्याख्या -1. **सड़्कल्पविकल्पात्मिकान्तःरणवृत्तिः**- आन्तरिक भावनाओं की करणभूत इन्द्रिय अन्तःकरण में जब ''मैं चिद्रूप हूॅं''- ''मैं देह हूॅं'' इस प्रकार की संकल्पयुक्त अथवा 'मैं पढू या न पढ़ू-मैं जाऊॅं' इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती हैं तो इसे मन कहते हैं।

(2) विद्यारण्य स्वामी ने अन्तःकरण के वृत्ति भेद से दो भेद कहे है-

तैरन्तःकरणम् सर्वेवृत्तिभेदेन तद् द्विधा।

मनो विमर्शरूपम स्यात् बुद्धिः स्यात् निष्चयात्मिका।।

67. **अनयोरेव चित्ताहड़्कारयोरन्तर्भावः।।**

अनुवाद-इन्हीं दोनों (बुद्धि और मन) में चित्त ओर अंकार का अन्तर्भाव हो जात है।

व्याख्या -अनयो................अन्तर्भावः-अनयोः-इन दोनों अर्थात् मन तथा बुद्धि में क्रमशः चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि स्मरणात्मिका चित्त वृत्ति निश्चय रूप ही होता है तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि अहड़्कार भी संकल्प होता है-कहा भी है-

'मनाःबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम्। संशयों निश्चयो गर्वसमरणविषया अभी।।'

68. अनुसन्धनात्मिकान्त करणवृत्तिः चित्तम्।।

अनुवाद-अनुसन्धानकर्त्री अन्तःकरण की वृत्ति है।

व्याख्या -अनुसन्धानात्मिकान्तः.............चित्तम्-आन्तरिक विषयों के ग्रहण कर्ता अन्तःकरण में जब अनुसन्धानयुक्त अअर्थात् स्मरणात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है तो वह चित्त कहलाती है।

69. **अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहड़्कारः।।**

अनुवाद-अभिमान करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार है।

व्याख्या _ अभिमानात्मिकान्त ....अहड़्कारः-पूर्वकथित अन्तःकरण में जब 'मैं बड़ा निपुण हूॅं ।' इस प्रकार की गर्वात्मक, (अभिमानरूपा) वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है त बवह वृत्ति अड़्कार कही जाती है।

70**. एते पुनराकाशादिगतसात्तिवकाषेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।।**

अनुवाद-ये चारों (बुद्धि, मन चित्त और अहंकार) आकाशादि में स्थित सात्तिवक अंशों के मिश्रित अंशों से पैदा होते हैं।

व्याख्या -**मिलितेभ्यः**-मन, बुद्धि, (इन्ही में अन्तर्भूत होने वाले चित्त तथा अहङ्कार) ये सभी (पॉचों) ज्ञानेन्द्रियों के साथ आवश्यक हैं क्योंकि बिना मन बुद्धि के सहयोग के ज्ञानेन्द्रियॉ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकती। इसीलिये वे पॉचों भूतों के मिलित (मिले हुए) अंशों से उत्पन्न होने वाले कहे गये है।

71. एतंषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्विकांशकार्यत्वम्।।

अनुवाद-इन (चारों) के प्रकाशयिता होने के कारण उन्हें सात्यिक अंशों से प्रादुर्भूत कहा जाता है।

व्याख्या -**प्रकाशात्मकत्वात्**-पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ, मन तथा बुद्धि से सात सत्वांश से उत्पन्नं होने के कारण सत्वगुणधर्म प्रकाश से युक्त हैं इसी से ये सत्वगुण का कार्यत्व है क्योंकि सत्वगुण प्रकाश माना गया है। गीता में सत्वगुण प्रकाशक कहा गया है-

’तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।’

72. इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति।।

अनुवाद-(पन्च)ज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाती है।

व्याख्या - विज्ञानमयकोशः-पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ (श्रोत, त्वग्, चक्षु रसना तथा घ्राण)तथा छठी बुद्धि समवेत रूप में विज्ञानमयकोश रूप में परिभाषिक शब्द प्रयुक्त होता है।

73. **अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यवहारिको जीव इत्युच्यते।।**

अनुवाद-यही (विज्ञानमय कोश से युक्त चैतन्य) कर्ता, उपभोक्ता, सुख, सम्पन्न, दुःखी होना आदि कारणों से (तथा) अभिमानत्व, के कारण इस लोक और परलोक का आवगमन कर्ता व्यवहारिक अवस्था में जीव कहलाता है।

व्याख्या -कतृत्व.......परलोकगामी-कर्ता होने तथा भोग करने वाला होना नित्यानन्द रूप अपरिच्छिन्ननिष्क्रिय होने पर भी विज्ञानमय कोश अभिमानी होने के कारण ईलोक परलोक में गत व्यवहारिक जीव के लोक-परलोक गमनरूप व्यवहार का हेतु बन जाता है।

74. **मनस्तु ज्ञानेन्द्रियै सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।।**

अनुवाद-ज्ञानेन्द्रिय से युक्त मन को मनोमय कोश कहा जाता है ।

व्याख्या -1. मनोमयकोशः-पॉच ज्ञानेन्द्रियों समेत मन के मिल जाने पर मनोमय कोश कहलाता है-यही वात पन्चदशी में निम्न प्रकार से कही गई है-

''सात्विकेधीन्द्रियैः साकं विमशत्माः मनोमयः।

तैरवे सांकं विज्ञानमयो धीर्निर्शात्माः मनोमयः।।

अर्थात् विमशीत्मा मन (पन्चमहाभूतों के) सत्वगुणाशों से उत्पन्न हुई इन्द्रियों से सुयुक्त होकर मनोमय कोश होता है। निश्चमहाभूतों के सत्वगुणांशों से उत्पन्न हुई इन्द्रियो से संयुक्त होकर मनोमय कोश होता है। निश्चयात्मिका बुद्धि उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर विज्ञानमय कोश बन जाती है।

75. कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्याणि।।

अनुवाद-याणी, हाथ पैर, पायु तथा उपस्थ-ये (पॉच) कर्मेन्द्रियॉ है।

व्याख्या - कर्मेन्द्रियाणि-ज्ञानेन्द्रियों के समान कर्मेन्द्रियॉ (वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ) भी पन्चभूतों के रजोंऽशों से उत्पन्न हुई हैं इनके क्रमशः विषय है वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द। पन्चदशी इसी भौतिकता का समर्थन करती है-

''रजोंऽशैः पन्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।

वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे।।''

76. एतानि पुनराकाशादीनां रजोऽशेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।।

व्याख्या -ये (पन्चकर्मेन्द्रियॉ) आकाशादि के रजोगुणांशों से अलग-अलग क्रमशः पैदा होती है।

व्याख्या -एतानि...उत्पद्यन्ते-अर्थात् इन इन्द्रियों में आकाशादि के रजोगुणांश से क्रमशः पृथक्-पृथक् आकाश के राजोगुणांश से पायु और पृथिवी के रजोगुणांश से उपस्थ इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है।

77.वायवः-प्राण, अपान्, व्यान, उदान तथा समान ये (पन्च) वायु है।

व्याख्या -ध्रुतियों में पॉचों वायुओ का विवरण मिलता है जो आगे कहा जायेगा।

78. प्राणों नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।।

अनुवाद-समाने गमन वाली नाम के अग्रभाग में वर्तमान रहने वाली वायु 'प्राण' है।

व्याख्या -प्राणः-नासिका के अग्रभाग में इसकी उपलब्धि साक्षात् रूप से होती है तथा नाक पर हाथ लगाने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है, इसी से इसे नासाग्रसथानवर्ती कहा गया है तथापि 'प्राणो' हृदये' में इसे हृदय में रहने वाला कहा गया है।

79. **अपानों नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती**।।

अनुवाद- निम्न गमन वाली पायु (गुदादि) स्थनों में रहने वाली 'अपान' वायु है।

80. **व्यानों नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती।।**

अनुवाद-सब ओर गमन करने वाली सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान रहने वाली वायु ध्यान है।

व्याख्या -व्यानों..........वर्ती-छान्दोग्य उपनिषद् के मतानुसार यह प्राण और अपान की सन्धि है- 'अथ यः प्राणापानयों सन्धि सः व्यानः।' इसका उपयोग वीर्ययुक्त कर्म करते समय किया है। इन्हें मनुष्य प्राण तथा अपान को रोक कर ही करता है। इसी से व्यान वायु प्राण और अपान की नियमनकर्त्री भी कही गई है।

81. **ऊदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायु**ः।।

अनुवाद- ऊपर की ओर चलने वाली कण्ठ स्थानीय वायु उदान वायु है।

व्याख्या -उदान-**'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो-वा शरीरदेशेभ्यः'** श्रुतिवाचनानुसार उत्क्रमण ऊपर की ओर जाने वाली वायु, आँख, शरीर या अन्य किसी शरीर के अवयव से निकाली, जाने वाली होने से किसी भी द्वार से जाते समय कण्ठ से अवश्य निकलेगी, अतः इसे कण्ठस्थानीय कहा गया है।

82. समानो नाम शरीरमध्यगताशितापीतान्नादिसमीकरणकरः।।

अनुवाद-शरीर में खाये-पिये हुए अन्नादि का अच्छी प्रकार परिपाक (समीकरण) करने वाली वायु समान है।

83. **समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरूधिरशुक्रपुरीषादिकरणमिति यावंत्।।**

अनुवाद-रस, रक्त और शरीर के अन्य पदार्थो में (भोज्य पेय पदार्थो का) परिवर्तन करना और भोजन आदि का पाचन करना 'समीकरण' है।

व्याख्या -समीकरणम्-पेट में प्राप्त हुए अन्न से सार अंश को पृथक् करके रस रक्त आदि सात धातुओं (रसों) के रूप में पचाकर प्ररिवर्तित कर देना तथा वर्ज्याश को मलादिरूप में बाहर निकाल देना ही समीकरण है।

84**. केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्ताधनन्जयाख्याः पन्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति।।**

अनुवाद-कुछ लोग तो (सांख्यमत वाले) 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनन्जय नामक पाँच अन्य वायु हैं' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या -केचित्तु.....वदान्ति-इन अतिरिक्त पन्चवायुओं का वर्णन गोरक्षाशतक तथा मनसोल्लास में भी किया गया है।

85. तत्र नाग उद्गिरणकरः। कर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनन्जयः पोषणकरः।।

अनुवाद-उनमें (अन्य पाँच वायुओं में) वमनादि कराने वाली वायु नाग, पलकों को खोलने तथा बन्द करने वाली कूर्म, बुभुक्षा उत्पन्न करने वाली कृकल, जम्भाई उत्पन्न करने वाली देवदत्त तथा शरीर को पोषण करने वाली वायु धनन्जय है।

व्याख्या -धनन्जयः- मानसोल्लास तथा गोरक्षाशतक के अतिरिक्त पन्चवायु वर्णन से इस वायु का स्वरूप कुछ और स्पष्ट होता है। यह सारे शरीर को पुष्ट करने के साथ ही मरने पर शरीर को छोड़ती नहीं।

86. एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पन्चैवेति केचित।।

अनुवाद-कुछ लोगों के अनुसार (वेदान्तमतानुसार) इन नागादि पाँच वायुओं का इन्ही प्राणादि पांच वायुओं में अन्तर्भाव हो जाने से ये पाँच हैं (न कि दस)।

87. एतत्प्राणादिपन्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यों मिलितेभ्येः उत्पद्यन्ते।।

अनुवाद-ये प्राणादि पाँच वायु आकाशदि में स्थित रजोगुणमिश्रित अंशों से उत्पन्न होती है।

व्याख्या -मिलितेभ्यः-ये प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, आकाश आदि के मिश्रित रजोगुणांशों से उत्पन्न कही गई है क्योंकि आपेक्षित हैं।

88. इदं प्राणादिपन्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्।।

अनुवाद-ये प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणमयकोश कहलाती हैं। इनके क्रियात्मक होने के कारण इन्हें रजोगुण के अशों से उत्पन्न कहा जाता है।

व्याख्या -रजोंऽशकार्यत्वम्-प्राणमय कोश को रजोंऽशकार्यत्वम् कहा है-सांख्यमत तथा गीता के अनुसार क्रमशः प्रेरक तथा क्रियाशील रजोगुण बताया गया है-**'रजः कर्मणि भारत'** गीता तथा

उपष्टम्भकं चलं च रजः (सांख्यकारिका) अतः प्राणमयकोश क्रियाशील है क्योंकि वह रजोऽश का कार्य है।

89. एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं। सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।।

व्याख्या -इन तीनों कोशों में से विज्ञानमयकोशज्ञान शक्तिसम्पन्न कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्तियुक्त करणरूप है तथा प्राणमयकोश क्रियाशक्ति सम्पन्न कार्यरूप है। पृथक्-पृथक् तीनों की (अपनी-अपनी) योग्यता के अनुरूप ही इनका (कर्ता, करण तथा कार्य आदि द्वारा) विभाग वर्णन किया जाता है। ये तीनों कोश मिलकर 'सूक्ष्मशरीर' कहे जाते हैं।

व्याख्या -ज्ञानशक्तिमान् कर्त्तारूपः- विज्ञानमयकोश चैतन्य के परम सन्निकर्ष के कारण ज्ञानाशक्तिसम्पन्न होता है तथा वर्तमान भोक्ताभाव आदि का अभिमानी होने के कारण इसका कर्तारूप है। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् के वचनों से भी पता चलता हैं-

-योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरूषः।'

जे प्राणों में हृदय (बुद्धि)के अन्दर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरूष हैं।

2. **इच्छाशक्तिमान् करणरूपः**-मनोमय कोश इच्छाशक्तियुक्त होता है। विवके का साधनभूत होने से इच्छा का करण होने सिद्ध है। आत्मा इन्द्रिय तथा विषय का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान होना अथवा न होना मन पर आश्रित होता है। 'अन्यत्रमान अभ्वम् नादर्शमन्यत्रमना अभूवना श्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति। प्रस्तुत श्रतिवचनम् 'मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यासक्त था अतः सुन नहीं सका, वह मन से ही देखता है तथा मन से ही सुनता है' इस प्रकार मन को ही कारणरूप है। वृ0 उप0 कहता है-'कामः संकल्पों विचिकित्सा।'

3. **क्रियाशक्तिमान कार्यरूपः**-प्राण्मय कोश क्रियाशक्तिमान् होने से कार्यरूप हैं जैसे कि श्रुति भी इसके कार्यरूपत्व को प्रमाणित करती है-'तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत।' इसके मिथुनीभूत (पारस्परिक संसर्गयुक्त) वाणी और मन से उत्पन्न होने से प्राणमयकोश कार्यरूप सिद्ध होता हैं।

90. **अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्धा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्धा व्यष्टिरपि भवति।।**

अनुवाद-यहाँ पर भी सकल चराचर् के सूक्ष्म शरीर, एकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि (समुदाय रूप), अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वृक्ष जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

व्याख्या -अत्रापि........भवति-सम्पूर्ण चराचर अनन्त सूक्ष्मशरीरों को शरीररूपेण एक मानकर एकत्व की विवक्षा में एकता के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि तथा उन्ही को अलग-अलग अनेक मानकर अनेक जीवों की विवक्षा होने पर स्वस्वबुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष होने के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि पद कहते हैं।

(क) अनन्तं वै मनो अनन्ता विश्वेदेवाः। वृ0 उ0

(ख) वायुरेव व्यष्टिः वायुरेव समष्टिः।वृ0उ0

91. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।।

अनुवाद-इस समष्टि (समुदाय)उपाधि से युक्त चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण कहते है क्योंकि (यह) सर्वत्र व्याप्त तथा (तीनों कोशों से युक्त होने के कारण) ज्ञान इच्छा तथा क्रिया से सम्पन्न है।

व्याख्या - 1. हिरण्यगर्भ-**'हिरण्यस्य गर्भः'** वृत्ति के अनुसार ज्ञानशक्तिमान् विज्ञानमय कोश ही हिरण्मय अण्डा है, उससे ढका होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। श्रुतिवाक्यों में यह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ तथा प्राण आदि अभिधानों से विख्यात है-**'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**।'

2. मनुस्मृति में स्वर्ग के अण्डे से ब्रह्ा्रा के उत्पन्न होन की कथा है-

तदण्डमभवत् हैमम् सहस्रांशुसमप्रभम्।

तस्मिन् जज्ञे स्वयम् ब्रह्ा्रासर्वलोकपितामहः।।

92. अस्यैषा समष्टिः स्थ्ूलप्रपन्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीर विज्ञानमयादिकोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोष्त एवं स्थूलप्रपन्चलयस्थानमिति चोच्यते।।

अनुवाद-इस (हिरण्यगर्भ) की यह समष्टि स्थूलप्रपन्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर, विज्ञानमयादि तीनों कोशों वाली, जाग्रत अवस्था में वासनायुक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलप्रपन्च के लय का स्थान कही जाती है।

विवृत्ति-जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नः-जागरण अवस्था के विषयानुभावों रूपी वासनाओं से बने होने के कारण चित्त में वासनायें ही स्वप्न को उत्पन्न करती है- इसी कारण स्वप्न केवल वासनामय

होता है। इस सूक्ष्मशरीर को भी जागरणावस्था के विषयानुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण ’स्वप्न’ की जाता है।

93. एतद्व्यष्ट्यु पहितं चैतन्यंतैजसो भवति तेजोमयान्तः करणोपहितत्वात्।

अनुवाद-यह व्यष्टि की उपाधि से युक्त चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने के कारण ’तैजस’ कहलाता है।

व्याख्या -तेजोमय-पूर्व प्रसंग्रों में आन्तरिक इन्द्रियों को भूतो में मिलिताशी से बना हुआ कहने के पश्चात् तेजोमय कहना केवल तेज की प्रधानता को सूचित करता है।

संस्कृत में **’प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति’** (जिसका प्राधान्य होता है उसी के नाम से वह व्यवहित किया जाता है) इसी के आधार पर यहाँ तेजोमय कहा गया है।

94**. अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।।**

अनुवाद-इसकी भी यह व्यष्टि सथूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर विज्ञानामयादि तीन कोशों से सम्पन्न, चैतन्यानूभूत अवस्था की वासना से युक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलशरीर के विषय का स्थल कहलाती है।

95. एतौ सूत्रात्मतैजसो तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः प्रविविक्तभुक्ततैजस इत्यादिश्रुतेः।।

अनुवाद- उस समय (स्वप्नावस्था में) ये दोनों सूत्रात्मा तथा तेजस मनोवृत्तियों से (वासनामय शब्दादि) सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं। श्रुतिवचन भी है-**’तैजस सूक्ष्म भोक्त है**।’’

व्याख्या -मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयानुभवतः- निद्रादि दोषों के कारण अन्तरिन्द्रिय में अदृष्यादिजागरित संस्कारों के सहयोग से तदनुरूपवृत्तियाँ चैतन्यगत अविद्याशक्ति से विषयाकार धारण करके उन वृत्तियों द्वारा दोनों (ससूत्रात्मा तैजस) जागरणावस्था की वासनाओं में उद्भूत सूक्ष्मविषयों की अनुभूति करते हैं।

96. अत्रापि समष्टिव्यष्टयोस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाऽभेदः।।

अनुवाद-यहा पर भी समष्टि और व्यष्टि की तथा उन दोनों की उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तैजस की, वन

और वृक्ष तथा उनसे अविच्छिन्न आकाश की तरह और सरोवर एवंज ल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति अभिन्नता है।

व्याख्या -समष्टिव्यष्टयोरभेदः-यहाँ समष्टि तथा व्यष्टि में अभेद (ऐक्य) उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है। अर्थात् समष्टि ही व्यष्टि है तथा व्यष्टि ही समष्टि है। इस प्रकार दोनों एक ही हैं। इसी का समर्थन वृहदारण्यकोपनिषद् के निम्न वाक्य में हुआ है-

’वायुरेव व्यष्टिर्वायुः।

टीकाकार रामनाथ ने समष्टि और व्यष्टि को क्रमशः सामान्य और विशेष का वाचय माना है। सामान्य और विशेष में अभेद होता है। किन्तु किसी भेद की कल्पना कर पृथक्-पृथक व्यवहार किया जाता है।

97. एवं सूख्मशरीरोत्पत्तिः॥

अनुवाद-इस प्रकार सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है।

व्याख्या -विज्ञानमय कोश, प्राणमय कोश तथा मनोमय को मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनते हैं। इसमें 17 अंग होते है-5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 5 वायुऐं, और बुद्धि तथा मनस्। इस शरीर में ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया तीनों शक्तियाँ रहती हैं और अपने अनुरूप कार्य करती है।

98. स्थूलभूतानि तु पन्चीकृतों (महाभूतों) को कहते हैं।

व्याख्या -अपन्चीकृत भूत सूक्ष्म स्वरूप् हैं। इससे विकसित जड़ प्रकृति (माया) स्थूल स्वरूप प्राप्त करती है। यही अवस्था पन्चीकृत की अवस्था है।

5.4 पंचीकरण की प्रक्रिया

99. पन्चीकरणं त्वाकाशादिपन्चस्वेककं द्विधा सम विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पन्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णा भगानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तुरेषु संयोजनम्॥

अनुवाद-आकाशादि पाँच महाभूतों में से प्रत्येक को समान दो भागों में बाँटकर उन (5×2=10)दस भागों में से प्राथमिक (अर्धाश) पाँच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनकी (1/8 भाग को) अपने-अपने द्वितीयार्ध भाग को छोड़कर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पन्चीकरण है (अर्थात् आकाश=1/2 भाग आकाश1/8 भाग वायु1/8 भाग अग्नि 1/8 भाग जल भाग पृथ्वी॥ इसी प्रकार अन्य महाभूतों का अपने अंश का 1/2 भाग तथा अन्य चार महाभूतों का

1/8 अंश मिलकर पन्चीकृत महाभूत बनता है)।

व्याख्या -पन्चीकरण-सृष्टिविकासार्थ पन्चभूतों का परस्पर सम्मिश्रण ही पन्चीकरण है। इस प्रक्रियानुसार पांच भूतो के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन-उन भूतों के आधे-आधे भागों में अन्य-अन्य भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पन्चीकृत महाभूत बनते हें। अर्थात् पृथ्वी में केवल आधा भाग पृथ्वी का और अवशेष आधे में आकाश, वायु तेज तथा जल का 1/8 भाग साधारणतया रहता है। इसी भाँति अन्य भूतों में भी अपना अर्धांश तथा शेष अन्य का आठवाँ भाग रहता है।

100. तदुक्तम्-

’द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पन्च पन्च ते।। इति।।

अन्वय-प्रथमम् (प्रत्येकं) द्विधा विधाय, पुनः एकैकं चतुर्धा (विधाय) स्वस्वेत्तरद्वितीयांशै योजनात् ते पन्च (एव) भवन्ति।

शब्दार्थ-प्रत्येकम्=आकाश, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इन पाँचों महाभूतों में हर एक को। द्विधा विधाय=दो-दो भाग करके। चतुर्धा विधाय=चार-चार भाग करके। स्वस्तेतरद्वितीयांशैः=अपने-अपने द्वितीय भाग 1/2 को छोड़कर अन्यों के अंशों में अपने अंशों के। योजनात् जोड़ने से। ते=वे आकाशादि पन्चमहाभूत। पन्च=पाँच ही। पन्च=पन्चीकृत हो जाते हैं।

अनुवाद-इसी को यह कारिका इस प्रकार कहती है- प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके पुनः पहले अर्धभागों को चार विभागों में बाँटकर भूतों के प्रत्येक अर्धभाग में अपने अंश को छोडकर अन्य भूतों के अर्धांश का चौथा अथवा आठवाँ भाग मिश्रित करने से पाँच (महाभूत), पाँच ही हो जातते हैं।

व्याख्या -इस कारिका को स्पष्ट करने के लिये ’एक-एक रूपये का नोट (पाँच) पाँच व्यक्तियों के पास है यह कल्पना करना अधिक अचित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने रूपये को अठन्नियों में भुना ले और एक-एक अठन्नी अपने पास रखकर दूसरी अठन्नी की चार दुअन्नियाँ करा के उन चारों को शेष चार व्यक्तियों को देदे। यही काम पाँच व्यक्तियों ने किया, अपनी-अपनी एक अठन्नी पास रखकर दूसरी अठन्नी की चारों दुअन्नियों को चारों को दे दिया। इस भाँति सबके पास (चार दुअन्नीयों के रूप में आठ-आठ आने और आने कसे फिर एक-एक रूपया हो गया। इस तरह आकाशदि, पाँच महाभूतों को अपना-अपना आधा हिस्सा तथा शेष चार महाभूतों का आठवाँ भाग मिलाकर

पन्चीकृत महाभूत बनते हैं। प्रस्तुत कारिका में यही बात निर्दिष्ट की गई है;) यथा-

पृथ्वी=1/2 पृथ्वी1/8 जल1/8 वायु1/8 आकाश।

। शङ्कराचार्य कहते हैं-पन्चमहाभूतानाम् एकैकं द्विधा विभजय चतुर्धा कृत्वा कृत्वा स्वार्धभाग विहाय इतरेषु पन्चधा पन्चीकृतेषु पन्चीकरणम् भवति।

101. अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पन्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्।।

अनुवाद-उपनिषद् के त्रिवृत्करण के पन्चीकरण का उपलक्षण होने का कारण इस (पनचीकरण) के प्रामाण्य मे आशंका नही करनी चाहिए।

व्याख्या – त्रिवृत्करण श्रुते : त्रिवृत्करण का अर्थ है भूतों मे तीन भूतो का ही सम्मिश्रण । पन्चीकरण की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा की समस्या का निराकरण इस प्रकार किया गया है – तीनों भूतो का परस्पर सम्मिश्रण बताने वाली श्रुति केवल निर्देशन मात्र है वस्तुत: यह पंन्चीकरण की ओर संकेत है। छान्दोग्य उपनिषद मे प्रथम अग्नि , अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कहकर इनके (प्रत्येक के आधे तथा शेष दो के चतुर्थ भाग) त्रवृत्करण द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है – **सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मानाऽनुप्रविश्य नामरूपेवयाकररवाणि। तथा तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।**

102. पन्चानां पन्चात्मकत्वे समानेपि तेशु च वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद इति 'न्यायेनाकाशादिव्यपदेश:' सम्भवति ।।

अनुवाद-पॉचों (भूतो में) पॉचों के समान भाग मिश्रित होने पर भी प्रत्येक में विशेषांक के आधार पर ही उनके लिये आकाशादि न्यायसंगत व्यवहार होता है।

103. तदानीमाकाशे शब्दोभिव्यन्ज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसा: पृथिवी में शब्दस्पशंरूपरसगन्ध अभिव्यन्जित होते है।

अनुवाद- तभी पन्चीकृत दशा मे आकाश में शब्द , वायु में शब्दस्पर्श, अग्नि में शब्दस्पर्शरूप, जल में शब्दस्पर्शरूरस तथा पृथिवी में शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध अभिव्यन्जित होते है।

व्याख्या- अभिव्यक्त हुये पन्चीक्रत स्थूलभूतों में क्रमशः उपर्युक्त अभिव्यक्ति होती है।

104. एतेभ्य- पन्चीक़तेभ्य: भूतेभ्यो भूर्भुव: स्वर्महर्जनस्तप: सत्यमित्येतन्नामकानामुपयुपार विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनाकानामधोधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिधस्थू लशरीरराणां तदुचितानामन्नपानादीनान्चोत्पतिर्भवति।।

अनुवाद- इन पन्चीकृत महाभूतों से भू: भुव: स्व: मह:, जन:, तप:, तथा सत्यम् इत्यादि नामक ऊपर

से भुवनों का, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नामक नीचे के विद्यमान लोकों का ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित चतुर्विध स्थूलशरीरों और उनके पोषणार्थ अन्न पानादिकों का प्रादुर्भाव होता है।

व्याख्या- 1. ब्रह्मामण्डस्य- चौदह लोकों को चारों ओर से घेरे हुए लोका-लोक पर्वत के भी बाहर पृथ्वी तथा उससे भी बाहर समुद्रादि को मिलाकर ब्रह्मामण कहा जाता है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है-'ह्यद्वात्रिशतं वे देवरथाह्न यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् समुन्द्रः पर्येति।

105. चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि।।

अनुवाद- जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज नामक चार प्रकार के शरीर हैं।

व्याख्या- चतुर्विध शरीराणि-अमरकोश भी इनका (चार प्रकार के शरीरों का उल्लेख इस प्रकार करता है- 'नृगवा । जरायुजः। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः पक्षिसर्पादयोण्डजाः) उद्भिदस्तरूगुल्माद्याः ।

106. जरायुजानि जरायुभ्यों जातानि मनुष्यपश्वादीनि।।

अनुवाद-जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं।

107. अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि।।

अनुवाद- अण्डों से उत्पन्न होने वाले द्विज (पक्षी) तथा सर्पादि अण्डज हैं।

108. उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि

अनुवाद- भूमि को उद्भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्षादि उद्भिज्ज है।

109. स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि।।

अनुवाद- पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं तथा मच्छरादि स्वेदज हैं।

110. अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशय वद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जवद्वा व्यष्टिरपि भवति।।

अनुवाद- यहॉ पर भी चतुर्विध स्थूलशरीर, एकात्व या अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन या सरोवर की भॉति व्यष्टि भी कहे जाते है।

111. एतत्समष्टयु पहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।।

अनुवाद-यह समष्टि से उपरिह चैतन्य, सवंमनुष्याभिमानी तथा विविध रूप से शोभायमान होने के

कारण वैश्वानर तथा विराड् कहा जाता है।

व्याख्या- 1. सर्वनराभिमानित्वाद्-अभिमानी शब्द का वेदान्त में अधिष्ठाता अर्थ किया जाता है। पर नर शब्द केवल मनुष्यों का ही नहीं-प्रत्युत समस्त प्राणियों का उपलक्षणमात्र है तथा 'सर्व' शब्द से 'विश्व ' अभिप्रेत है समस्त प्राणियों के शरीर समूह में 'यह मैं हूं' इस भॉति अभिमान रखने के कारण उसका वेश्वानरत्व है।

112. अस्येषा समष्टि: स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोश: स्थूल भोगयतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।।

अनुवाद-इनकी यह समष्टि स्थूलशरीर, (मात-पिता के खाये)अन्न (से उत्पन्न होने के कारण) का विकार होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोग का आश्रय होने के कारण स्थूल शरीर तथा (विषयभोगी होने के कारण) जाग्रत् कहा जाता है।

व्याख्या-जाग्रत्-इन्द्रियों के द्वारा विषयों की प्राप्ति होने से इसकी जाग्रत् कहा जाता है। सुबोधिनी टीका भी इसी का समर्थन करती है-

'इन्द्रियैरर्थोपलब्धेश्च जाग्रदवस्थात्वं घटतो'

जागरणावस्था की इसी परिभाषा को शड्कराचार्य भी मानते हैं। वे कहते हे- 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् ।'

113. एतद् व्यष्टयु चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमातम-परित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्।।

अनुवाद-(स्थूल शरीरों की) इस व्यष्टयुपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीरों को बिना त्यागे ही स्थूलशरीरों में प्रवेश करने के कारण विश्व कहलाती है।

व्याख्या-1.स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्- यहॉ स्थूल शरीर के वाद आदि शब्द निरर्थक है, क्योंकि शरीर के बाद अन्य कोई स्थूल उपाधि ही शेष नहीं रहती। तथा प्रविष्टत्वात। का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर में रहने के कारण ही (जीव) विश्व कहलाता है।

2. विश्व- प्रविष्टत्वात् तथा विश्व यद्यपि दोनों एक ही 'विश्' धातु से निष्पन्न हैं किन्तु प्रविष्टत्वात् की 'विश' धातु 'विश्वभाव' को नहीं कहती है बल्कि वह विश्व (सम्पूर्ण) शरीर में अभिमानी होने के कारण 'विश्व' कहलाती है।

114.अस्याप्येषा व्यष्टि: स्थूलशरीरमन्नयविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोश जाग्रदिति चोच्यते।

अनुवाद- इसकी भी व्यष्टि स्थूलशरीर, अन्नविकार होने के कारण अन्नमयकोश तथा जाग्रत कही जाती है।

115.तदानीमेती,विश्ववश्वानरौदिग्वातार्कवरूणाश्विभि:क्रमान्नियन्त्रितेनस्रोत्रादीन्द्रियपन्च केनक्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभि:क्रमान्नियन्त्रितेनवागादीन्द्रि

यपन्चकेनक्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चन्द्रचतुर्मुखशड्कराच्युतै:क्रमात्सड्कल्पनिश्च याहड्कार्यचैतांश्चसर्वानेतान्स्थूलविशयाननुभवतो जागरितस्थानो बहि:प्रज्ञः इत्यादिश्रुते:।।

अनुवाद-उस समय में (जाग्रत अवस्था में) विश्व और वैश्वानर दिक्, वायु सूर्य, वरूण तथा अश्विनीकुमारों से क्रमश: नियमित श्रोत्रादि (श्रोत्र त्वक्, चक्षु जिह्वा तथा घ्राण) पांच इन्दियों से क्रमश: शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्ध का तथा अग्नि, इन्द्र उपेन्द्र , यम और प्रजापति द्वारा क्रम से नियमित वाणी, हाथ पैर, वायु तथा चन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु द्वारा क्रमश: नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहड्कार और चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमश: सड्कल्प निश्चय, गर्व, स्मरणरूपी सब स्थूल विषयों की अनुभूति करते है। इस समय में निम्न श्रुतिवचन प्रमाण हैं-'जाग्रत् अवस्था युक्त (चैतन्य) ही ब्रह्म विषयों से अवगत है।

व्याख्या -1. दिग्वातार्कवरूणाश्विभि:- भागवत् में बताई गई कल्पना के अनुसार इन्द्रियों के अभिमानी देवता की कल्पना मानी गई है।'

116.अत्राप्यनयों:स्थूलव्यष्टिसमष्टयोस्तदुपहितविवश्वैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदच्छिन्नाकाशवचच जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेद:।।

अनुवाद-यहॉ पर भी इन दोनों स्थूल व्यष्टि ओर समष्टि में तथा इन दोनों से उपहित विश्व और वैश्वानर में वन और वृक्ष तथा उससे आच्छन्न आकाश के समान एवं जलाशय व तथा जल उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की तरह पूर्वोल्लेख के अनुसार ही अभिन्नता है।

व्याख्या- विश्व तथा वैश्वानर रूप स्थूल शरीरों के आकृष्ट चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय कमेन्द्रिय तथा अन्त:करणों के द्वारा स्थूल विषयों का भोग करता है। इन दोनों 'में' भी भेद केवल उपाधियों के द्वारा ज्ञात होता है। तात्विक वस्तु तो दोनों में वही एक चैतन्य है।

117. एवं पन्चीकृतपन्चभूतेभ्य: स्थूलप्रपन्चोत्पत्ति:।।

अनुवाद- इस प्रकार पन्चीकृत पॉच महाभूतों से स्थूलप्रपन्च उत्पन्न होता है।

व्याख्या- इस प्रकार कारण, सूक्ष्म तथ स्थूल प्रपन्चों के एक दृष्टि के विषय होने से समष्टि रूप में एक महान प्रपन्च होता है। इन प्रपन्चों में रहने वाले, 'ईश्वर-प्राज्ञ' 'सूत्रात्मा-तैजस्' तथा 'वैश्वानरविश्व' इन सब में कोई वास्तविक भेद नहीं है। देखने में जो भेद है, वह केवल उपाधियों के कारण है।

अभ्यास प्रश्न-

एक शब्द में उत्तर दीजिए।

1. सांख्यमत में सूक्ष्म शरीर के कितने अवयव है-
2. वेदान्तमत में सूक्ष्म शरीर के कितने अवयव है-

3. लिंग शरीर किसे कहते हैं-
4. महद और आकाश किसके मत में अवयव माने जाते हैं-
5. ज्ञानेन्द्रियों की संख्या कितनी है-
6. घ्राण कौन सी इन्द्रिय है-
7. अभिमान करने वाली अन्तकरण की वृत्ति कौन है-
8. अनुसन्धान कर्तो वृत्ति कौन है-
9. बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय को मिलाने से कौन सा कोश बनता है-
10. पॅाच ज्ञानोन्द्रिय को मन से मिलाने पर कौन सा कोश बनता हे-
11. वायु कौन सी इन्द्रिय है-
12. निम्न गमन वाली वायु कहलाती है-
13. कण्डस्थानीय वायु कौन सी है-
14. भोजन परिपाक की वायु कौन सी है-
15. अनन्तं वै मनोअनन्ता विश्वेदवा: यह कथन किसका है-
16. विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमयकोश को मिलाकर क्या बनता है-

5.5 सारांश

इन्ही के द्वारा सूक्ष्म शरीर एवं स्थूलभूत की उत्पत्ति हुआ करती है। सूक्ष्मशरीर कहे जाते हैं।
उन (आकाश आदि पन्चमहाभूातो) में जाडय (जड़ता-अचैतन्य) की अधिकता साक्षात् दीख पडती है, अतः उनके कारणस्वरूप अज्ञान में भी जडता होना स्वाभाविक है। जड़ता तमोगुण का धर्म होन के कारण जैसा कि सांख्यकारिका कहती है (गुरू वरणकमेव तमः)अज्ञान तमोगुणप्रधान होता है। रामतीर्थ के कथनानुसार ’अधिक्य’ पद भूतो (आकाश आदि) और उनके कार्यो में चैतन्य की भी अल्पोपस्थिति को सूचित करता है। वाक्यसुधा ’ स्पष्ट कहती है-

’अस्ति भाति प्रियम् रूपम् नाम चेत्यंशपन्चकम्।

अद्यत्रयं ब्रह्ारूपं जगद्रूपं ततो ,द्वयम्।।

ये ही सूक्ष्मभूत तन्मात्रा और अपन्चीकृत कहे जाते हैं। जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं।
अण्डों से उत्पन्न होने वाले द्विज (पक्षी) तथा सर्पादि अण्डज हैं। भूमि को उद्भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्षादि उद्भिज्ज है। पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं तथा मच्छरादि स्वेदज हैं। इस इकाई के पश्चात आप महाभूतो की उत्पत्ति से जुड़े हुए समस्त तथ्यों को बताते हुए पंचीकरण के विधान का स्पष्ट ज्ञान करा सकेगें।

5.6 शब्दावली

विश्व- प्रविष्टत्वात् तथा विश्व यद्यपि दोनों एक ही 'विश्' धातु से निष्पन्न हैं किन्तु प्रविष्टत्वात् की 'विश' धातु 'विश्वभाव' को नहीं कहती है बल्कि वह विश्व (सम्पूर्ण) शरीर में अभिमानी होने के कारण 'विश्व' कहलाती है।

जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्न:-जागरण अवस्था के विषयानुभावों रूपी वासनाओं से बने होने के कारण चित्त में वासनायें ही स्वप्न को उत्पन्न करती है- इसी कारण स्वप्न केवल वासनामय होता है। इस सूक्ष्मशरीर को भी जागरणावस्था के विषयानुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण 'स्वप्न' की जाता है।

त्रिवृत्करण श्रुते : त्रिवृत्करण का अर्थ है भूतों मे तीन भूतो का ही सम्मिश्रण । पन्चीकरण की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा की समस्या का निराकरण इस प्रकार किया गया है – तीनों भूतो का परस्पर सम्मिश्रण बताने वाली श्रुति केवल निर्देशन मात्र है वस्तुत: यह पंन्चीकरण की ओर संकेत है

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अठारह 2. सत्रह 3. सुक्ष्म शरीर 4. सांख्य 5. पॉच 6. ज्ञानेन्द्रिय

7. अहंकार 8. चित्त 9. विज्ञान मय 10. मनोमय 11. कर्मेन्द्रिय 12. अपान

13. उदान 14. समान 15. बृहदारण्यक 16. सुक्ष्म शरीर

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;
- राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग 1-2;
- दासगुप्त : हिस्टरी ऑव इंडियन फिलासफी, भाग1
- वेदान्तसार – सदानन्द योगीन्द्र चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- उपनिषद्; भगवद्गीता; गौडपादकारिका; ब्रह्मसूत्र;
- उपनिषद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर सांप्रदायिक भाष्य;

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1- सूक्ष्म शरीर के अवयव पर प्रकाश डालिए।

2- भूतोत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।

3- पंचीकरण प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

खण्ड 4- जैन एवं चार्वाक

इकाई 1- जैनमत का इतिहास

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 जैन मत का परिचय
1.3.1 प्रारम्भिक इतिहास
1.3.2 श्वेताम्बर
1.3.3 दिगम्बर
1.4 जैन साहित्य एवं उनके काल
1.4.1 आगम काल
1.4.2 अनेकान्त स्थापनकाल
1.4.3 प्रमाण व्यवस्थाकाल
1.4.4 नवीन न्यायकाल
1.5 जैन दार्शनिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
1.5.1 श्वेताम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
1.5.2 दिगम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
1.5.3 कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के तृतीय खण्ड की इस प्रथम इकाई में आपकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर जैनमत का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। इस क्रम में यथासम्भव प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सारी सूचनाएॅं प्रस्तुत की जाएॅं। एतदर्थ उनके काल का विभाजन, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार, दार्शनिक आदि का सम्यक् विवेचन यहॉं प्रस्तुत किया जा रहा है।

आशा है आप इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम इस पाठ के विचारणीय बिन्दु यहॉं दिये जा रहे हैं।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि परम्परा प्रचलित विचारधारा के विरोधी जैन दर्शन की प्राचीन परम्परा क्या रही है?
- समझ सकेंगे कि सामान्यतया जैन दर्शन के काल का निर्धारण किस प्रकार किया गया है तथा ये काल व्यवस्था किन किन महत्वपूर्ण विषयों को लक्ष्य बनाती हैं?
- यह भी जानकारी मिल पाएगी कि जैन विचारधारा के प्रधान ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कौन हैं तथा जैन दर्शन को उनका योगदान क्या है?

1.3 जैन मत का परिचय

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन, जो सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध प्रभृति नामों से अभिहित हुआ, विभिन्न वैचारिक क्रान्ति की परिणति है। उनमें से प्रत्येक की मौलिक विचारधारा है। यही विचारधारा इन्हें पारस्परिक चिन्तन से पृथक् करता है। जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। वस्तुतः जैन दर्शन चिन्तन अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण न केवल अशेष भारत प्रत्युत समग्र विश्व में प्रसार को प्राप्त हुआ।

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है। चार्वाक और बौद्ध दर्शन के साथ ही, भारतीय विचारधारा की नास्तिक परम्परा में परिगणित यह तृतीय दार्शनिक सम्प्रदाय है जिन्होंने वैदिक कर्मकाएड का प्रबल विरोध किया। जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। ई0 पू0 छठी शताब्दी में वैदिक धर्म और यज्ञ यागादि के प्रतिक्रियास्वरूप दो धार्मिक क्रान्तियों का सूत्रपात हुआ जिनका नेतृत्व गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने किया। बौद्ध

दार्शनिक चिन्तन की ही भॉति जैन दार्शनिक प्रणाली भी मूलतः एक धार्मिक विश्वास से सम्बद्ध है। जैन मत का मुख्य उद्देश्य अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। दर्शन चिन्तन में यह अनेकान्त सापेक्षतावादी बहुत्ववाद के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

1.3.1 प्रारम्भिक इतिहास –

महावीर स्वामी भारतीय दर्शन की जैन परम्परा के सूत्रधार हैं। उल्लेखनीय है कि महावीर स्वामी जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक नहीं थे। वे इस दर्शन की परम्परा में आने वाले चौबीसवें तीर्थंकर थे। इस धर्म के तीर्थंकरों में प्रथम नाम ऋषभदेव का प्राप्त होता है तथा तेईसवॉं नाम पार्श्वनाथ का। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का कालनिर्धारण कठिन है। यह कहना भी कठिन है कि प्रारम्भिक बाईस तीर्थंकर का काल क्या रहा होगा। किन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे तथा वे आठवीं या नवीं शताब्दी ई0पूर्व में हुए थे। इन्होंने ही पंच महाव्रत में एक अपरिग्रह के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बाद में भगवान् महावीर ने इसमें ब्रह्मचर्य को जोड़ा। अन्तिम व चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर छठी शताब्दी ई0पू0 में हुए थे तथा ये बुद्ध के समकालीन थे।

जैन दर्शन अथ वा धर्म में प्राप्त होने वाले 'जैन' शब्द का उöव 'जिन' शब्द से हुआ है। जो अपने को अर्थात् अपनी इन्द्रियों को जीतता है, अपने वश में कर लेता है, अथ वा संयमित कर लेता है, वह 'जिन' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है प्रत्युत जिसने अरिषड्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह, माया आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया हो वही जिन कहलाता है। इसी 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। जिन शब्द सामान्यतः महावीर के लिये प्रयुक्त होता है, जो इस धर्म के महत्तम प्रवक्ता थे।

ध्यातव्य है कि जैन धर्मशास्त्र के इतिहास में महावीरस्वामी को कई नामों से जाना जाता है। ये नाम उनके व्यवहार व आचरण को परिभाषित करने के लिये विकसित हुए। बौद्ध निकाय में उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है। रागद्वेषादि विजय के कारण महावीर और वीतराग हैं।

ठस प्रकार जैन दर्शन जिन तीर्थंकरों के द्वारा प्रवर्तित दर्शन है। इनके अनुसार ये तीर्थंकर ही अर्हत् हैं। इसलिये ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। अन्यत्र उल्लेख भी प्राप्त होता है कि-

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।

यथास्थितार्थवादी च देवाऽर्हन् परमेष्वरः।।

इसी आधार पर जैन को आर्हत तथा जैन दर्शन को आर्हत दर्शन भी कहा जाता है।

अन्य भारतीय दर्शन की तरह ही जैन दर्शन चिन्तन की समृद्ध परम्परा रही है। इसके प्रवर्तक ऋषभदेव थे जिन्हें वैदिक काल का माना जाता है। किन्तु इस चिन्तन को सर्वथा दार्शनिक रूप प्रदान करने

वाले भगवान् महावीर थे। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त जैनधर्म एवं दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। जो लोग जैन दर्शन को सर्वप्राचीन नहीं मानते उन्हें कम से कम इसे उतना तो मानना ही होगा जितना प्राचीन अन्य भारतीय दर्शन है।

महावीर स्वामी के अनन्तर कई आचार्य हुए हैं जिन्होंने जैन दर्शन को नूतन दृष्टि दी है। उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, अनन्तवीर्य, यशोविजय वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेणादि आचार्यों ने इस मत के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

जैनदर्शन में दो सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा माना जाता है कि यह विभाजन ईसा की पहली शताब्दी में ही हो गया था। ये दोनों सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर। यद्यपि जैनमत में कतिपय बिन्दुओं का प्रारम्भ से ही विवाद था, किन्तु महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद भद्रबाहु तथा स्थूलभद्र के मध्य विवाद के कारण ही जैन धर्म दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाये तथा स्थूलभद्र के अनुयायी ष्वेताम्बर।

1.3.2 श्वेताम्बर- यहाँ श्वेताम्बर का अर्थ है श्वेत वस्त्रधारी तथा दिगम्बर का अर्थ है निर्वस्त्र अथ वा आकाश को ही वस्त्र मानने वाला। इन दोनों सम्प्रदायों का अन्तर मताग्रह का उतना नहीं था जितना आनुष्ठानिक क्रियाकलापों का। दूसरे शब्दों में, जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों में विवाद दार्शनिक सिद्धान्तों पर कम नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक था। जहाँ तक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, उनमें सामान्यतः सहमति है।

1.3.3 दिगम्बर –

दिगम्बर आचरण पालन में अधिक कठोर थे, श्वेताम्बर कुछ उदार थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मूल आगम ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं, 'केवल ज्ञान' प्राप्त करने पर सिद्ध पुरुष को भोजन की आवश्यकता नहीं होती, जो साधु अपने पास कुछ भी सम्पत्ति, जिसमें वस्त्र धारण भी आ जाता है, रखते हैं, उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता एवं स्त्रियॉं मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं। ये महावीर को भी नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस मत के अनुयायी महावीर को अविवाहित तथा आजन्म ब्रह्मचारी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियॉं भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। इनके अपने आगम ग्रन्थ हैं तथा ये महावीर को विवाहित मानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक थे

(क) महावीर स्वामी (ख) पार्श्वनाथ

(ग) ऋषभदेव (घ) भगवान् बुद्ध

2. जैन दर्शन में जिन का अर्थ है

(घ) जीवन को जीतने वाला (ख) महावीर को जीतने वाला

(ग) प्राण को जीतने वाला (घ) इन्द्रिय को जीतने वाला

3. स्थूलभद्र के अनुयायी क्या कहलाये-

(क) श्वेताम्बर (ख) महावीर

(ग) दिगम्बर (घ) जैन

4. स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, ऐसा मानना है-

(क) श्वेताम्बर का (ख) महावीर का

(ग) दिगम्बर का (घ) स्थूलभद्र

5. महावीर को 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है

(क) आगम में (ख) बौद्ध निकाय में

(ग) तत्वार्थसूत्र में (घ) भगवती सूत्र में

1.4 जैन साहित्य एवं उनके काल

जैन साहित्य के अनुसार आरंभ में दो ही प्रकार के पवित्र ग्रन्थ थे- चौदह पूर्व तथा ग्यारह अंग। इनमें से प्रथम प्रकार के सभी ग्रन्थ अंततः विलुप्त हो गये। अंग जो बचे रहे वे ही जैनधर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनको भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले ही प्रामाणिक मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय वालों की मान्यता है कि ये भी नष्ट हो गये थे और उनके नाम से जो अब चलते हैं, वे मिथ्या हैं।

अस्तु, जैन दर्शन के समग्र प्राप्त साहित्य को ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से चार कालों में विभक्त किया जा सकता है -

(1) आगम काल (वि. छठी शताब्दी तक)

(2) अनेकान्त स्थापनकाल (वि. तीसरी से आठवीं तक)

(3) प्रमाण व्यवस्थाकाल (आठवीं से सत्रहवीं तक)

(4) नवीन न्यायकाल (अठारहवीं से अद्यपर्यन्त)

ध्यातव्य है कि पूर्वकाल में उत्तरकाल के विचार बीज वर्तमान है तथा पल्लवन की दृष्टि से उक्त काल को यहॉ समझा जाना चाहिए।

1.4.1. आगम काल –

इस युग के अन्तर्गत जैन दर्शन के दोनों सम्प्रदायों के आगम साहित्य आते हैं। जैन साहित्य दो भागों में विभक्त है- आगम एवं आगमेतर। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की वाणी है वस्तुतः ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है। ये आगम साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर दृष्टि से पृथक् पृथक् हैं। श्वेताम्बर के अनुसार साधारणतः पैंतालिस ग्रन्थ हैं। इनमें दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में भगवती सूत्र, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार आदि हैं। आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ आचारांग, दशवैकालिक, उपासकदशा, आवश्यक आदि हैं। इन आगम ग्रन्थों पर कई टीकाएॅं लिखी गयी हैं।

दिगम्बरों के अनुसार प्रमुख आगम ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, समयसार, नियमसार आदि हैं। इनमें ज्ञान, कर्म आदि का अत्यन्त गम्भीरता से विश्लेषण किया गया है।

वस्तुतः जैनदर्शन के मुख्य स्तम्भों के न केवल बीज ही अपि तु विवेचन भी इन आगमों से ही मिलते हैं।

1.4.2. अनेकान्त स्थापनकाल –

यह काल जैन दार्शनिक विचारधारा की प्रारम्भिक शृंखला है। इसी काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ। इस काल के प्रसिद्ध व प्रमुख दार्शनिक हैं सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र। इस काल के अन्य दार्शनिकों मल्लवादी, सिंहगणि, पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि उल्लेख्य हैं। इस काल में सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं तथा शब्दों की दार्शनिक विवेचन का महान् कार्य हुआ। साथ ही, सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र ने परमत के प्रहार से बचाने के लिये तथा अपने वाद को और अधिक दृढ़ करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ किया। सिद्धसेन के सन्मतितर्क एवं न्यायावतार में नय, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण, ज्ञान आदि की समुचित व्याख्या है। समन्तभद्र के ग्रन्थ आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि में भी जैन सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है।

1.4.3 प्रमाणशास्त्र व्यवस्था काल

यही वह काल है जिसमें जैन दार्शनिक विचारधारा का बीज वपन हुआ। इसी काल में तर्क, प्रमाण,

प्रमेय आदि विषयों पर सविस्तर परिचर्चा हुई है। इस काल के प्रमुख दार्शनिक हरिभद्र, जिनभद्र एवं अकलंक है। इनमें हरिभद्र ने अनेकान्त, अकलंक ने प्रमाणशास्त्र तथा जिनभद्रगणि ने अनेकान्त एवं नय के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैनदर्शन में समन्वय किया तथा सभी वादियों में परस्पर विचार सहिष्णुता तथा समता लाने का प्रयत्न किया। अनेकान्तविजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय आदि इस काल के प्रमुख ग्रन्थ हैं। अन्य प्रमुख दार्शनिकों में विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं।

1.4.4. नवीन न्याय काल –

न्याय दर्शन की ही भॉति जैन दर्शन परम्परा में नव्यन्याय की नूतन विधा का विस्तार देखा जा सकता है। इस काल में जैन दर्शन चिन्तन क्षेत्र में नूतन चिन्तन एवं नयी पद्धति से विचार विमर्श हुआ। इस काल के प्रमुख दार्शनिक यशोविजय हैं। उन्होंने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य ढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया। इस काल के प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टसाहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, सप्तभंगतरंगिणी, नयोपदेश, भाषारहस्य आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः न्याय दर्शन के द्वारा प्रवर्तित इस नूतन चिन्तन शैली को भी इस दर्शन ने उसी रूप में अपनाकर जैन की तर्कपरम्परा को अत्यन्त समृदध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म के प्राप्त प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ हैं-

(क) पूर्व (ख) आगम

(ग) अंग (घ) सूत्र

2. साहित्य का प्राचीनतम भाग कहलाता है

(क) पू्ूर्व (ख) अंग

(ग) सूत्र (घ) आगम

3. किस काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ-

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

4. प्रमुख दार्शनिक यशोविजय किस काल में हुए

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

5. षड्दर्शनसमुच्चय की रचना किस काल में हुई?

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

इन साहित्यों का कालानुसार संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1.5 जैन दार्शनिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

जैन दर्शन के सम्प्रदाय की तरह ही इसके ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का भी वर्गीकरण दो भागों में यहाँ किया जा रहा है।

1.5.1 श्वेताम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

ग्रन्थकार	काल	ग्रन्थ
उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
सिद्धसेन दिवाकर	वि0 पॅाचवीं शताब्दी	न्यायावतारद्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
मल्लवादि	वि0 छठी शताब्दी	नयचक्रसन्मतितर्कटीका
हरिभद्र	वि0आठवींशताब्दी	अनेकान्तवादप्रवेशषड्दर्शनसमुच्चयशास्त्रवार्तासमुच्चन्यायप्रवेशटीका धर्मसंग्रहणी
वादिदेवसूरि	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार स्याद्वादरत्नाकर
हेमचन्द्र	वि0 बारहवीं शती	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
रत्नप्रभसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	स्याद्वादरत्नावतारिका

देवप्रभ	वि0 तेरहवीं शताब्दी	प्रमाणप्रकाश
नरचन्द्रसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	न्यायकन्दलीटीका
मल्लिषेण	वि0 चौदहवीं शताब्दी	स्याद्वादमंजरी
गुणरत्न	वि0 पन्द्रहवीं शताब्दी	तर्करहस्यदीपिका
यशोविजय	वि0 सत्रहवीं शताब्दी	अष्टसहस्रीविवरण

3.1.4.2 दिगम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
समन्तभद्र	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	आप्तमीमांसा
सिद्धसेन दिवाकर	वि0चौथी-पॉचवीं शताब्दी	द्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
देवनन्दि	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	सारसंग्रह
श्रीदत्त	वि0 छठी शताब्दी	जल्पनिर्णय
सुमति	वि0 छठी शताब्दी	सन्मतितर्कटीका
		सुमतिसप्तक
अकलंकदेव	वि0 सातवीं शताब्दी	लघीयस्त्रयी
		न्यायविनिश्चय
		प्रमाणमीमांसा
		अष्टशती
		सिद्धविनिश्चय
		तत्वार्थराजवार्तिक
कुमारनन्दि	वि0 आठवीं शताब्दी	वादन्याय
अनन्तवीर्य	वि0 नवीं शताब्दी	सिद्धिविनिश्चयटीका

विद्यानन्दी		अष्टसाहस्री
		जैनश्लोकवार्तिक
आप्तपरीक्षा		
प्रमाणपरीक्षा		
पत्रपरीक्षा अनन्तकीर्ति	वि0 दसवीं शताब्दी	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिलघुसर्वज्ञसिद्धि
देवसेन	990 वी0	आलापपद्धति
वसुनन्दि	वि0 दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी	आप्तमीमांसावृत्ति
माणिक्यनन्दि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	परीक्षामुख
वादिराजसूरि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	न्यायविनिश्चयविवरण
		प्रमाणनिर्णय
प्रभाचन्द्र	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	प्रमेयकमलमार्तण्ड
		न्यायकुमुदचन्द्र
अनन्तवीर्य	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमेयरत्नमाला

3.1.5 कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय

यद्यपि अग्रांकित आचार्यों का प्रसंगवश उल्लेख पूर्व में कई बार आ चुका है पुनरपि यहॉ उन प्रसिद्ध दार्शनिकों का क्रमशः उनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

कुन्दकुन्दाचार्य

ये जैन दर्शन के अति प्राचीन आचार्य थे। इनकी गणना साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में होती है। मल्लिषेणप्रशस्ति में अंकित प्राचीन आचार्यों की नामावलि में इनका नाम सर्वप्रथम है। इस दृष्टि से इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी प्रतीत होता है। ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार प्रमुख हैं। पुनरपि इनकी रचनाओं के विषय में परम्परागत कथन यह प्राप्त होता है कि उन्होंने चौरासी पाहुड़ ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी सारी रचनाए प्राकृत में है। ये तत्त्वों की पूर्णरूपेण व्याख्या कर पाने में सक्षम हैं।

भद्रबाहु- ये जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थकार हैं। इनका समय निर्धारित नहीं है। इन्हें अनेक धर्मग्रन्थों का टीकाकार माना जाता है। इनमें से दशवैकालिकनिर्युक्ति नामक टीका में वे तर्कशास्त्र की कतिपय शाखाओं का विवेचन करते हैं। उन्होंने दस वाक्यों वाली न्यायिकी रचना की तथा उन्हें सुविख्यात जैनसिद्धान्त का मूल प्रवर्तक माना जाता है।

उमास्वाति

ये मगध के देश के रहने वाले थे। कुछ विद्वान् उनका काल 135-219 ई0 मानते हैं तो कुछ अन्य 01-85 ई0। ये उमास्वाति तथा उमास्वामिन् दोनों नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' अथ वा 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसे जैनियों का अत्यन्त पवित्र व धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना करने वाले प्रथम जैन विद्वान् थे। जैन दर्शन के व्यवस्थित प्रतिपादन का प्रमुख स्रोत उक्त ग्रन्थ को ही माना जाता है। उक्त रचना में लगभग तीन सौ पचास सूत्र हैं तथा यह दस अध्यायों में विभक्त है। इस पर अनेक जैन विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं। जैन दर्शन की सभी परवर्ती व्याख्याएॅं इसी पर आधारित हैं। यद्यपि यह मूलतः दर्शन का ग्रन्थ है तथापि प्राचीन भारतीय चिन्तन के इतिहास के सामान्य अध्ययन के लिये भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें मनोविज्ञान, धर्ममीमांसा, खगोलशास्त्र, भौतिकी, रसायन एवं अन्य विषयों पर भी जैन दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

समन्तभद्र

ये दक्षिण भारत के दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनाचार्य थे। ये उमास्वाति की उपरोक्त रचना के टीकाकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। ये जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य कहे जाते हैं। इनके सर्वाधिक प्रमुख ग्रन्थ हैं आप्तमीमांसा, तत्त्वानुसन्धान आदि। इनका समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी मान्य है। अनेकान्त के बीज को विकसित करने में इनकी प्रमुख भूमिका रही है। इनके समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि अनेक एकान्तों का प्राबल्य था। समन्तभद्र ने इन समस्त एकान्तों का स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय किया है। इनकी आप्तमीमांसा, जो कि परिचयात्मक हैै, में तार्किक सिद्धान्तों के विवेचन की भरमार है, साथ ही अद्वैतवाद सहित अन्य तत्कालीन दार्शनिक प्रणालियों की समीक्षा भी है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इसके उद्धरण दिये हैं।

सिद्धसेन दिवाकर

लगभग पॉचवीं शताब्दी में अनेक जैन विद्वान् हुए जिन्होंने बड़ी रुचि एवं उत्साह के साथ स्वयं को तर्कशास्त्र के अध्ययन के लिये समर्पित किया। उन्हीं में से एक थे सिद्धसेन दिवाकर। ये उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के समकालीन थे। ये दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में प्रसिद्ध हुए। ये वस्तुतः जैन न्याय के आचार्य थे। इनके लिखे हुए इक्कीस ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमें

सन्मतितर्कप्रकरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह प्राकृत में लिखी गयी रचना है इसमें सामान्य दर्शन एवं तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। इनकी एक अन्य रचना है न्यायावतार। इस ग्रन्थ से ही जैन तर्कशास्त्र की आधारशिला का निर्माण हुआ। यह संस्कृत में लिखी गयी बत्तीस पद्यों की एक लघु रचना है। इसके अतिरिक्त इनके कल्याणमन्दिरस्तोत्र तथा कुछ द्वात्रिंशिकाएं भी प्राप्त होती हैं।

सिद्धसेनगणि

इस श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य का समय छठी शताब्दी मानी जाती है। ये तर्कशास्त्र के विकास करने वालों में अग्रणी थे। इन्होंने उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर एक उच्च कोटि की व्याख्या लिखी है। आचारांगसूत्रवृत्ति, न्यायावतार आदि इनकी अन्य कृतियॉं भी प्राप्त होती हैं।

अकलंकदेव

कदाचित् जैन तर्कशास्त्रियों में सर्वाधिक प्रमुख व प्रतिभाशाली अकलंक ही थे, जो राष्ट्रकूट के राजा शुभतुंग के समकालीन थे। उनकी अनेक रचनाएं बतायी जाती हैं जिनमें अष्टशती, तत्त्वार्थवार्त्तिक तथा न्यायविनिश्चय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वाधिक प्रमुख हैं। न्यायशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा अकलंक से प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से ये जैनन्याय अथ वा जैन प्रमाणशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उन्होंने बौद्धों की प्रखर आलोचना की। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायोद्यान को सुवासित किया है।

माणिक्यनन्दिन्

ये दिगम्बर परम्परा के मान्य आचार्य थे। माणिक्यनन्दिन् का परीक्षामुख सूत्र जैन तर्कशास्त्र का मानक ग्रन्थ है जो अकलंक के न्यायविनिश्चय पर आधारित है। माणिक्यनन्दिन् के इस ग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखी। उनकी अन्य ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र है जो अकलंक के ग्रन्थ लघीयस्त्रय का भाष्य है।

वदिदेवसूरि

इन्होंने स्वरचित सूत्र ग्रन्थ ‘प्रमाणनयत्त्वालोकालंकार’ पर अति विशाल भाष्य लिखा है जिसका नाम ‘स्याद्वादरत्नाकर’ है। इस एक ही ग्रन्थ को पढकर समस्त भारतीय दर्शन एवं समस्त न्याय पर अधिकार किया जा सकता है। जैन न्यायशास्त्र का कोई भी वाद इसमें छूट नहीं सका है।

हरिभद्र एवं हेमचन्द्राचार्य

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के दर्शनशास्त्रियों में हरिभद्र एवं हेमचन्द्र सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र

विक्र्रम की आठवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे। उनकी
रचनाओं में षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि इनकी प्रमुख हैं।

हेमचन्द्र का जन्म धुंधक, अहमदाबाद में हुआ था तथा वे राजा जयसिंह के समकालीन थे। वे कदाचित् गुजरात के राजा कुमारपाल के भी गुरु थे। कवि एवं वैयाकरण के साथ-साथ वे एक प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। प्रमाणमीमांसा तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका इनकी अमर कृति है। प्रमाणमीमांसा एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इनमें पॉच अध्याय तथा दस आह्निक हैं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का विषय, प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाण का फल- इनका इस ग्रन्थ में पूर्ण विवेचन किया गया है।

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नाम से अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका पर एक अतिप्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इसमें जैन दर्शन सम्मत स्याद्वाद सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। सिद्धान्त प्रवर्तन के क्रम में न्याय-वैशेषिक सम्मत पदार्थ सिद्धान्त का इसमें तार्किक खण्डन प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही अध्ययन की गम्भीरता तथा चिन्तन की सूक्ष्मता की दृष्टि से जैन दार्शनिक किसी भी अन्य दार्शनिकों से पीछे नहीं रहे हैं, इनके प्रौढ तर्क और अटूट युक्तियॉ उनके दार्शनिक सिद्धान्तों को आज तक सुरक्षित रख रही है। जैन दर्शन से सम्बद्ध विषयों को आधार बनाकर आज भी होने वाले कार्य इस बात का प्रमाण है कि इस दर्शन चिन्तन की जड़े कितनी मजबूत हैं। भले ही यथास्थितिवादी इसे नास्तिक कहें किन्तु इस विचारधारा के चिन्तकों ने भारतीयता को अक्षुण्ण बनाये रखी।

1.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की परम्परा वेदकाल से आजतक बिना किसी व्यवधान के चली आ रही है। यथाकाल प्रबुद्ध चिन्तकों व दार्शनिकों ने अपनी प्रतिभा से इसे परिष्कृत व परिवर्धित किया। विभिन्न कालों व विचारधाराओं से गुजरते हुए इस दर्शन ने साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास किया। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त रूप वैचारिक देन ने दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। ऐसे चिन्तकों का कालानुक्रम जानकर जैन दर्शन की विकास यात्रा को समझ पाना ही कदाचित् इस पाठ का समग्र है।आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक सहज व संक्षिप्त इतिहास को जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएंगे।

1.7 शब्दावली

अर्हत्- जैन दर्शन के अनुसार इनके तीर्थंकर अर्हत् कहलाते हैं। ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषों को भी अर्हत् कहा जाता है।आगम- जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है। ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु महावीर स्वामी की वाणी है। ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है।

नव्य न्याय- नव्यन्याय दार्शनिक विषय को प्रस्तुत करने की एक नूतन व परिष्कृत शैली है जिसमें

किसी भी विषय की परिभाषा व व्याख्या उसके पूर्ण तार्किक होने की स्थिति तक पहॅुचायी जाती है।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.3- 1. ग, 2. घ, 3. घ, 4. क, 5. ख

1.4- 1. ग, 2. घ, 3. ग, 4. घ, 5. ख

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)
6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा
7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5
8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर एक निबन्ध लिखें।

(ख) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर की विचारधारा में अन्तर को स्पष्ट करें।

(ग) जैन साहित्य के काल का सम्यक् विभाजन कर उनकी विशेषताओं को रेखांकित करें।

(घ) जैन न्यायशास्त्र में योगदान देने वाले किन्हीं पॉच आचार्यों पर टिप्पणी करें।

(ड) जैन न्यायशास्त्र की क्रमिक विकास यात्रा को समझाएं।-

इकाई 2- जैन दर्शन का सिद्धान्त

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 जैन ज्ञानमीमांसा
2.3.1 प्रत्यक्ष ज्ञान
2.3.2 परोक्ष ज्ञान
2.3.3 प्रमाण
2.3.4 नय सिद्धान्त
2.3.4.1 नय के भेद
2.4 स्याद्वाद
2.4.1 सप्तभंगीनय
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

किसी भी दर्शन चिन्तन को उसकी अवधारणात्मक प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है। ये हैं- ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा। जैन दर्शन चिनतन को भी समग्र रूप में जानने के लिये हमें इनका भी इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए। अतः इस पाठ के अन्तर्गत, आपकी सुविधा के लिये जैन सिद्धान्त की समग्र व्याख्या पूर्वांकित विचार बिन्दु के अन्तर्गत किया जा रहा है।

विषय विस्तार की दृष्टि से यहॉ केवल ज्ञानमीमांसा का विवेचन किया जा रहा है। तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा का विवेचन अग्रिम पाठ में किया जाएगा।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जैन ज्ञानमीमांसा के महत्व को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी नयादि व्यवस्था क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा इस जगत् की अन्य विचारधारा के कितनी अनुरूप हैं?

2.3 जैन ज्ञानमीमांसा

जैन दर्शन चेतना को जीव का स्वरूप धर्म मानता है। जीव अपनी शुद्धावस्था में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न होता है। यह इसका 'अनन्त चतुष्टय' कहलाता है। यह ज्ञान प्रकाश की तरह अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और अपने को भी- ज्ञानं स्वपरभासि।

अनन्तचतुष्टयात्मक जीव का कर्मपुद्गलों के कारण शुद्ध चैतन्यरूप भाव अदृश्य हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण संसार को आलोकित करता है किन्तु मेघादि द्वारा उत्पन्न व्यवधान के कारण संसार को आलोकित नहीं कर पाता, उसी प्रकार जीव अनन्तचतुष्टय से युक्त होने पर भी कर्मपुद्गलों के आवरण के कारण अपने पूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कर्मपुद्गलों का पूर्णक्षय हो जाने पर वह पुनः सर्वज्ञ हो जाता है और उसके पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

यहॉं ज्ञान के दो भेद हैं- प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) और परोक्ष। जब ज्ञान माध्यमरहित होता है तो प्रत्यक्ष कहलाता है। जब यह माध्यमसहित होता है तो परोक्ष होता है।

2.3.1 प्रत्यक्ष ज्ञान-

इसमें ज्ञान इन्द्रियों या मन के द्वारा सीधे ग्रहण किया जाता है जबकि अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान दूसरे ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है, अतः वह परोक्ष है। माणिक्यनन्दी ने प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है- विशदं प्रत्यक्षम् अर्थात् स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्पष्ट ज्ञान वह है जो अपरोक्ष हो तथा जिसमें विषय के सभी धर्मों का ज्ञान हो। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किये जाते हैं- पारमार्थिक और सांव्यावहारिक।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष आत्मसापेक्ष ज्ञान है। इसे जीवात्मा स्वयं जानता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रिय, मन आदि की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः यह ज्ञान जीवात्मा के अवरोधक कर्मपुद्गलों के विनाश के बाद बिना किसी साधन के प्राप्त होता है। इसमें जीवात्मा का ज्ञेय वस्तुओं से साक्षात् सम्बन्ध होता है। इसकी प्राप्ति अंशतः या पूर्णतः कर्मबन्धनों के नष्ट होने पर होती है। जैन दर्शन में पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान के भी तीन भेद प्राप्त होते हैं- अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान।

(1) अवधि ज्ञान-

देश और काल से परिच्छिन्न विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान, अवधि ज्ञान है। यह असाधारण दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान है। व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मपुद्गलों के अंशतः क्षयोपशम होने पर प्राप्त असाधारण शक्ति से उत्पन्न दूरस्थ, सूक्ष्म एवं अस्पष्ट द्रव्यों का ज्ञान अवधि ज्ञान है।

चूँकि यह ज्ञान देश और काल की परिधि में आने वाले पदार्थों का ज्ञान है अतः इसे अवधि ज्ञान कहते हैं।

(2) मनःपर्याय ज्ञान-

यह अन्य व्यक्तियों के मन के भावों और विचारों का ज्ञान है। जब व्यक्ति रागद्वेषादि मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अन्य व्यक्तियों के त्रैकालिक विचारों को जान लेता है तब इसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।

(3) केवल ज्ञान-

यह ज्ञान देश काल की सीमा से रहित सर्वज्ञता है। यह सभी पदार्थां े एवं उनक परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान है। यह ज्ञान मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है। इसमें आत्मा शुद्ध सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष -जीवात्मा को पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं मन की सहायता से प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि इस ज्ञान की उपलब्धि में साधनां की आवश्यकता होती है। साधनों के अभाव में इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। यह ज्ञान कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियों एवं मन, दोनों की सहायता से प्राप्त होता है और कभी-कभी केवल मन की सहायता से। यह वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जो हमें दैनिक जीवन में प्राप्त होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं-मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान।

(1) मति ज्ञान-

यह वह ज्ञान है जो इन्द्रियों एवं मन का विषय से संयोग होने से प्राप्त होता है। इसमें बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान एवं आन्तरिक विषयों का मानस ज्ञान दोनों होता है।

(2) श्रुत ज्ञान-

जैन तीर्थंकरों के उपदेशों एवं जैन आगमों से प्राप्त ज्ञान श्रुत ज्ञान है। यह शास्त्रनिबद्ध ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना रहती है, किन्तु मनःपर्याय एवं केवल ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना नहीं

2.3.2 परोक्ष ज्ञान-

प्रायः जैनेतर भारतीय दर्शनों में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी जैन दर्शन भी इसे प्रत्यक्ष ज्ञान मानता है और उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहता है। किन्तु जैन दर्शन के कतिपय आचार्य पारमार्थिक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष कहते हैं जिसमें ज्ञाता बिना किसी साधन का आश्रय लिये ज्ञेय वस्तु का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वे आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे उस ज्ञान को, जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अर्थात्, इन्द्रियमनः सापेक्ष ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।'प्रमाणनयतत्त्वालंकार' में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान में परस्पर भेद केवल स्पष्टता के अंश से ही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष। इन्द्रियजन्य बाह्य एवं मानसिक विषयों का मति ज्ञान अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा से परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मति एवं श्रुत ज्ञान आते हैं श्रुत ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह मतिपूर्वक होता है। जैन दर्शन में इन दोनों ज्ञानों के अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिक्षा, तर्क एवं अनुमान को भी परोक्ष ज्ञान माना जाता है।

2.3.3 प्रमाण

प्रमा का करण या ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। साधारणतया जैन दर्शन में तीन प्रमाण प्राप्त होते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दानि)।

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण- जैन दर्शन में वास्तविक प्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसकी प्राप्ति हेतु किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसमें विषय का सीधा प्रत्यक्ष होता है। जैन दर्शन में एक अन्य प्रत्यक्ष की भी चर्चा की गयी है। वह है, 'सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष'। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जो अधोलिखित हैं-

(क) अवग्रह- इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर नाम, आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे, नेत्र का पुष्प से सन्निकर्ष होने पर यह प्रतीत होना कि कोई वस्तु है, किन्तु यह न ज्ञात होना कि वह क्या है, अवग्रह है।

(ख) ईहा- अवगृहीतार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा 'ईहा' है। इसमं े मन प्रमेय विषय का विवरण जानने की इच्छा करता है।

(ग) अवाय- ईहितार्थ का विशेष निर्णय 'अवाय' है। इस अवस्था में दृश्य विषय के गुणों का निश्चायक एवं निर्णायक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे, 'यह रक्त कमल है', दृश्य विषय का यह निश्चायक ज्ञान 'अवाय' है।

(घ) धारणा-इस अवस्था में दृश्य विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इसका संस्कार जीव के अन्तःकरण में अंकित हो जाता है। इसी से स्मृति उत्पन्न होती है। अतः जैन दार्शनिक स्मृति के हेतु के रूप में धारणा की व्याख्या करते हैं।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं से संक्रमित होने के उपरान्त प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) अनुमान प्रमाण- जैन दार्शनिक अनुमान को भी यथार्थ ज्ञान का प्रमाण मानते हैं। अनुमान एक परोक्ष ज्ञान है। जिसमें अनुमान के आधार पर साध्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

जैन दार्शनिक भी अनुमान के दो भेद स्वीकार करते हैं- स्वार्थ और परार्थ। अपने संशय को दूर करने के लिए किया गया अनुमान स्वार्थानुमान है। दूसरों की संशयनिवृत्ति के लिए किया गया एवं व्यवस्थित तरीके से व्यक्त किया गया अनुमान परार्थानुमान है। जैन तर्कशास्त्री सिद्धसेन दिवाकर न्याय दार्शनिकों के समान ही अनुमान में पाँच अवयव स्वीकार करते हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। भद्रवाहु अनुमान में दशावयव मानते हैं- प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंका-प्रतिषेध और निगमन।

(3) शब्द प्रमाण- शब्द प्रमाण भी जैन दर्शन में एक परोक्ष प्रमाण है। जो ज्ञान शब्द के द्वारा प्राप्त हो, किन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध न हो, वह शब्द प्रमाण है। जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद हैं- लौकिक और शास्त्र। तत्त्ववेत्ता विश्वसनीय व्यक्तियों के शब्दों एवं वचनां से प्राप्त ज्ञान लौकिक ज्ञान है और शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान शास्त्रज ज्ञान है।

जैन दर्शन के अनुसार इन प्रमाणों से अविद्या का क्षय, आनन्द की प्राप्ति एवं व्यावहारिक जीवन में सत्यासत्य का निर्णय होता है।

2.3.4 नय-सिद्धान्त

जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका 'नय-सिद्धान्त- है। जैन मत में प्रमाणों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है। जैन दार्शनिक प्रमाण के अतिरिक्त दृष्टिकोण-विशेष जिसे वे 'नय' कहते हैं, से भी तत्त्वों के ज्ञान की पुष्टि करते हैं। जैन दर्शन के प्रमाण एवं नय दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। इन दोनों के आधार पर किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है- प्रमाणनयैरधिगमः। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रमाण से वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। किसी पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है प्रमाण है। नय से वस्तु का आंशिक ज्ञान होता है। इसी कारण प्रमाण को सकलादेश कहा जाता है और नय को विकलादेश।

जैन दर्शन में वस्तु अनन्तधर्मात्मक मानी जाती है। वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान मात्र केवली (सर्वज्ञ) को होता है। साधारण मनुष्य को वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि कर्मजन्य बन्धनों के कारण उसके ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, फलस्वरूप वस्तु के विषय में उसकी जानकारी सीमित या आंशिक होती है। वह वस्तु के सीमित धर्मों को जानता है और उसी के आधार पर उसका वर्णन भी करता है। जैन दर्शन वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को 'नय' कहता है- एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।

जैन दर्शन में इस आंशिक दृष्टिकोण के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श को भी 'नय' कहा जाता है। संक्षेप में, जैन दर्शन में नय के दो अर्थ हैं-

(1) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण और

(2) आंशिक के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श।

जैन दर्शन में नय के सात भेद प्राप्त होते हैं। ये सातों नय निम्नलिखित हैं- नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋृजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय।

(1) नैगम नय- नैगम नय की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यह किसी प्रयत्न-विशेष के लक्ष्य से सम्बन्धित है जो बिना किसी व्यवधान के उस प्रयास को नियन्त्रित करता है। सिद्धसेन इससे भिन्न मत को स्वीकार करता है। जब हम किसी वस्तु को जातिगत एवं विशिष्ट दोनों गुणों से युक्त देखते हैं तब यह भी नैगम नय है। अथवा धर्म और धर्मी को, अंग और अंगी को, सामान्य और विशेष को, क्रिया और कारक को तथा भेद और अभेद को गौण-मुख्य भाव से ग्रहण करना नैगम नय है। जैसे 'जीव-द्रव्य' कहने से धर्मी जीव का मुख्य रूप से और ज्ञानादि धर्म का

गौणरूप से ग्रहण होता है। किन्तु 'चेतन जीव' कहने से चेतना धर्म का मुख्य रूप से और जीवद्रव्य का गौण रूप से ग्रहण होता है।

(2) संग्रह नय- संग्रह नय में सामान्य विशिष्टताओं को स्वीकार किया जाता है। यह वह दृष्टि है जिसमें अभेद का ग्रहण होता है और भेद का निराकरण होता है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि सत्ता केवल सामान्य की है, विशेष की कोई सत्ता नहीं है।

(3) व्यवहार नय- इस दृष्टि में विशेष अथवा भेद का ग्रहण होता है और सामान्य अथवा अभेद की उपेक्षा होती है। यह प्रचलित एवं परम्परागत दृष्टिकोण है इसमें वस्तु की निजी विशेषताओं पर बल दिया जाता है। इस दृष्टि की पृष्ठभूमि में यह विचार है कि केवल सामान्य से लोकव्यवहार नहीं संचालित होता। लोकव्यवहार के लिए भेद या वस्तु की विशिष्टता को स्वीकार करना आवश्यक है। यही व्यवहार है।

(4) ऋृजुसूत्र नय- इस दृष्टि में पदार्थ की वर्तमानकालीन अवस्था का विचार किया जाता है। इसमें सब प्रकार के नैरन्तर्य को भुला दिया जाता है, फलस्वरूप वस्तु के स्वरूप निर्धारण में उसके भूत एवं भविष्यत् रूपों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(5) शब्द नय- इस दृष्टि में अनेक शब्दों को एक ही अर्थ का द्योतक माना जाता है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक नाम का अपना अर्थ होता है और अन्य शब्द भी उसी एक पदार्थ को द्योतित कर सकते हैं। जैसे, घट, कलश और कुम्भ को एक ही पदार्थ का वाचक माना जाता है।

(6) समभिरूढ़ नय- इस में पदों के धात्वर्थ के आधार पर भेद किया जाता है। यह इस बात पर बल देता है कि शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर एकार्थक पदों के भी भिन्न अर्थ होते हैं। इसके अनुसार न तो कई शब्दों का एक वाच्यार्थ होता है और न एक शब्द का अनेक अर्थ होता है। जैसे पंकज को कमल का पर्यायवाची माना जाता है, किन्तु व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ है 'वह, जो कीचड़ से उत्पन्न हो'। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर कमल का अर्थ नहीं देता।

(7) एवंभूत नय- यह समभिरूढ़ नय का विशिष्ट रूप है। उल्लेखनीय है कि समभिरूढ़ नय किसी शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर करता है और व्युत्पत्ति-भेद से अर्थभेद करता है। एवंभूत नय इस बात पर बल देता है कि उस शब्द का अर्थ तभी स्वीकार करना चाहिए जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ के अनुरूप वैसी क्रिया (एवंभूत) सम्पन्न हो रही हो। जैसे, 'पुजारी' शब्द। समभिरूढ़ नय के अनुसार इसका अर्थ है, 'पूजा करने वाला व्यक्ति', किन्तु एवंभूत नय के आधार पर वह केवल उसी समय पुजारी कहा जायेगा जब पूजाकार्य में प्रवृत्त हो, अन्य समय में नहीं। इस प्रकार यह नय समभिरूढ़ नय के अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करता है।

प्रत्येक नय पदार्थ का ज्ञान कराने वाले अनेक दृष्टिकोणों में से केवल एक ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत

करता है। किन्तु यदि किसी दृष्टिकोण को सम्पूर्ण समझ लिया जाता है तो यह नयाभास कहलाता है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक दृष्टिकोण (नय) सापेक्षतः सत्य है। अतः न तो वह पूर्णरूपेण मिथ्या है और न वह एकमात्र सत्य ही है।

जैन दर्शन में उपर्युक्त सातों नयों का वर्गीकरण दो वर्गों में किया जाता है- अर्थनय और शब्दनय। सातों नयों में से प्रथम चार अर्थनय के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द नय के अन्तर्गत। कभी-कभी इन नयों का वर्गीकरण निश्चय नय और व्यवहारिक नय में किया जाता है। निश्चय नय के द्वारा तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे तत्त्व के स्वाभाविक नित्य गुणों के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। व्यावहारिक नय लोक व्यवहार की दृष्टि से तत्त्वों का ज्ञान कराता है। जैन दर्शन में नय का एक अन्य वर्गीकरण भी प्राप्त होता है- द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। पदार्थ के दृष्टिकोण से तत्त्वों का विवेचन द्रव्यार्थिक नय है। इसमें किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके गुणों को द्रव्य पर निर्भर माना जाता है। पर्यायार्थिक नय में परिवर्तन अथवा अवस्था के दृष्टिकोण से विषय का विवेचन किया जाता है। इसमें गुणों की विशिष्टता पर बल देकर द्रव्य को काल्पनिक माना जाता है। जैन दर्शन के उपरोक्त सातों नयों में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नय द्रव्यार्थिक हैं और अन्तिम चार पर्यायार्थिक हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन चेतना को जीव का ------------ मानता है।

2. जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, -----कहते हैं।

3. जैन दर्शन में प्रमाण है

(क) सकलादेश (ख) विकलादेश

(ग) चलादेश (घ) अचलादेश

4. व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को ------- कहता है

5. जैन दर्शन में नय का अर्थ है-

(क) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण (ख) वस्तु का पूर्ण ज्ञान

(ग) वस्तु का विशद स्वरूप (घ) इन्द्रियों से वस्तु का ज्ञान

6. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के कितने भेद हैं?

2.4 स्याद्वाद

स्याद्वाद जैन दर्शन का सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेकान्तवादी है जिसमें वस्तु 'अनन्तधर्मात्मक' मानी जाती है। अनन्तधर्मात्मक होने के कारण उसका स्वरूप अत्यधिक जटिल होता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वह है जो किसी वस्तु को सभी दृष्टियों से जानता है। उसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को सभी वस्तुओं को सभी दृष्टियों से जान लेता है- एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वो भावः सर्वथा तेन दृष्टः।

साधारण मनुष्य का ज्ञान अत्यधिक सीमित होता है, क्योंकि वह किसी वस्तु को कुछ ही दृष्टियों से देखता है। वह वस्तु के आंशिक धर्मो को ही जानता है और उसी के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श करता है। फलस्वरूप उनके कथनों में परस्पर मतभेद होता है। इनमें से किसी कथन द्वारा वस्तु के स्वरूप का पूर्ण बोध नहीं होता, वस्तु के विषय में कोई कथन एकमात्र सत्य नहीं होता। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल होने के कारण उसके विषय में कोई कथन अंशतः ही सही होता है, किन्तु कोई कथन पूर्णरूपेण सही नहीं होता। उसकी सत्यता सापेक्ष होती है।

ससे पूर्व इयह बताया गया था कि जैन दर्शन में वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं और इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वस्तु के विषय में जो परामर्श होता है, उसे भी 'नय' कहते हैं। जैन दर्शन परामर्श के तीन भेद करता है-दुर्नय, नय और प्रमाण नय- सदेव सत्स्यादिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैरिति। दुर्नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी परामर्श-विशेष के ही एकमात्र सत्य होने का कथन किया जाता है। जैसे, किसी वस्तु के विषय में यह कथन कि यह सत् ही है दुर्नय है। जैन दर्शन के अनुसार यह एकान्तवाद के दोष से ग्रस्त है, क्योंकि इसमें आंशिक एवं सापेक्ष सत्य को पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्य मान लिया जाता है। दुर्नय होने के कारण इसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी वस्तु के विषय में साधारण रीति से कोई कथन किया जाता है। जैसे, यह सत् है नय है। यह परामर्श एक दृष्टि से सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। वह विकलादेश से ग्रस्त होने के कारण एकनिष्ठ धर्म का प्रतिपादन करता है और उसके अन्य धर्मांे का निषेध करता है। दुर्नय तो नहीं है, किन्तु यह प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता को स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता।

जैन विचारधारा में प्रमाण परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है। इस परिस्थिति धर्म अथ वा विचार का सामान्य रूप है, 'एक दृष्टि में यह सत् है'। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण सकलादेश है और पूर्णतया सत्य है। जैन दर्शन

में 'एक दृष्टि में' इस पदावली का अर्थ देने के लिए किसी कथन के पूर्व 'स्यात्' इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में 'स्यात्' शब्द एक तकनीकी अथ वा पारिभाषिक शब्द के रूप में आया है। यह शब्द यहाँ ज्ञान की पूर्ण सापेक्षता का द्योतक है।

2.4.1 सप्तभङ्गी नय

स्याद्वाद का प्रमाण सप्तभंगी नय है। इसका अर्थ है, किसी वस्तु के विषय में परामर्श या नय के सात प्रकार। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। ये बिना किसी आत्मविरोध के अलग-अलग या संयुक्त रूप से किसी वस्तु के विषय में विधान या निषेध करते हैं और इस प्रकार किसी वस्तु के अनेक धर्मों का प्रकाशन करते हैं। सामान्यतः पाश्चात्य दर्शन में परामर्श के दो भेद किये जाते हैं- विध्यात्मक और निषेधात्मक। किन्तु जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं। इसके सात नय (प्रमाण नय) निम्नलिखित हैं-

(1) स्यादस्ति- जैन दर्शन के अनुसार विध्यात्मक नय 'स्यादस्ति च' आकार में अभिव्यक्त होना चाहिए। जैसे, स्यात् घट है। इससे यह अर्थ निकलता है कि घट अपने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से विद्यमान है।

(2) स्यान्नास्ति- जैन दर्शन के अनुसार निषेधात्मक नय 'स्यान्नास्ति च' आकार में कहा जाना चाहिए। जैसे, स्यात् घट नहीं है। इसका आशय है कि पर नाम पर स्थापना, पर द्रव्य एवं परभाव की दृष्टि से घड़ा विद्यमान नहीं है। अर्थात् सुवर्ण आदि का बना हुआ (पर द्रव्य), चौकोर घट (पर नाम) एक भिन्न स्थान (पर स्थापना) और एक भिन्न समय में (पर भाव से) विद्यमान नहीं है। संक्षेप में, स्यात् से यह आशय निकलता है कि जिस घट के विषय में परामर्श हुआ है, एक विशेष समय में उस स्थान पर नहीं है जहाँ के लिए उसके सम्बन्ध में परामर्श हुआ है।

(3) स्यादस्ति च नास्ति च- इस नय में दृष्टिभेद से वस्तु का विधान और निषेध दोनों है। जैसे- स्यात् घट है भी और नहीं भी है। इसमें स्व-रूप-द्रव्य- स्थान-काल की दृष्टि से घट का विधान किया जाता है। और पर-रूप-द्रव्य- देश-काल की दृष्टि से घड़े का निषेध भी किया जाता है। इस नय का आशय यह है कि एक विशेष अर्थ में घट है और अन्य अर्थ में घट नहीं है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि 'एक वस्तु क्या है और क्या नहीं है', स्यात् शब्द से यह सूचित होता है कि अस्ति और नास्ति के समुच्चय में तर्कतः विरोध नहीं है।

(4) स्यादवक्तव्यम्- जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के अस्ति, नास्ति और उभय के अतिरिक्त एक अन्य कोटि भी है, वह अवक्तव्यता की है। यहाँ अवक्तव्य का अर्थ है, 'युगपत् कथन करने की असमर्थता'। इसका अर्थ है कि दृष्टिभेद से किसी वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों होते हैं, किन्तु भाषा की सीमा और अपर्याप्तता के कारण हम विरोधी गुणों का एक साथ निर्वचन नहीं कर

पाते। जैसे, स्यात् घट अवक्तव्य है। इसका अर्थ है कि किसी घट में अपने रूप की उपस्थिति और अन्य रूप की अनुपस्थिति एक साथ होती है, किन्तु हम उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

(5) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च- यह नय प्रथम और चतुर्थ नय को मिलाने से बनता है। इस नय में वस्तु की सत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों का कथन किया जाता है। यह नय यह लक्षित करता है कि कोई वस्तु स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से विद्यमान होने पर भी अपनी इन विशेषताओं और पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अवक्तव्य भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट है और अवक्तव्य भी है। इस नय का अर्थ है कि यदि घट के द्रव्य रूप (मृत्तिका) को देखें तो घट है। किन्तु इसके द्रव्य रूप (मृत्तिका) और परिवर्तनशील रूप, दोनों को एक समय में देखें तो वह अस्तित्ववान् होने पर भी अवर्णनीय है।

(6) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय वस्तु की असत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों को उपलक्षित करता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई वस्तु पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से अविद्यमान होने पर भी इन विशेषताओं के साथ स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अव्यक्त भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट नहीं है और अव्यक्त भी है। इस नय का अर्थ यह है कि घट अपने पर्याय रूप की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वे रूप क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं।

(7) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय तृतीय और चतुर्थ नयों को मिलाने से बनता है। जैसे, स्यात् घट है, नहीं है और अव्यक्त भी है। अपने निजी चतुष्टय (स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से परवस्तु के चतुष्टय (पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से और अपने निजी एवं अभावात्मक वस्तु के संयुक्त चतुष्टय के दृष्टि से कोई वस्तु हो सकती है, नहीं भी हो सकती है और अव्यक्त भी हो सकती है। इन दोनों दृष्टियों के आधार संयुक्त रूप से विचार करने पर वह अवक्तव्य है। नय में द्रव्य और पर्यायों के एक साथ होने और अलग-अलग होने के कारण घट का अस्तित्व, अनस्तित्व और अव्यक्तत्व सूचित होता है।

स्याद्वाद अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। जैन दर्शन का दावा है कि स्याद्वाद से अनेकान्तवाद सिद्ध होता है। इसके अनुसार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सत्ता सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, सत्ता में उतने धर्म हैं। सप्तभंगी नय की सात विधाओं से यह प्रमाणित होता है कि वस्तु सम्बन्धी विवेचन अनेक दृष्टियों पर आधारित होता है। इस प्रकार वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक होती है।

स्याद्वाद वस्तुवाद है। इसके अनुसार हमारे परामर्श मानसिक प्रत्ययमात्र नहीं हैं, बल्कि वे वस्तु के वास्तविक धर्मों की ओर संकेत करते हैं। जैन मत सापेक्षवाद है। स्पष्ट हो चुका है। वस्तुतः यह वस्तुवादी सापेक्षवाद है, क्योंकि यह मानव ज्ञान को वस्तुओं के धर्मों से सापेक्ष मानता है और ये धर्म मनस्तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र है। इस प्रकार यह प्रत्ययवादी सापेक्षवाद से भिन्न है जिसमें वस्तु के धर्मों

को मनस्तन्त्र माना जाता है। स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

समीक्षा- जैनेतर भारतीय दर्शन में स्याद्वाद को अस्वीकार किया गया है। स्याद्वाद के प्रधान आलोचकों में बौद्ध, मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों को जाना जाता है। स्याद्वाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपेक्ष किये जाते हैं-

(1) आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद और अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। वस्तुतः जैन दर्शन पर ये आरोप 'स्यात्' शब्द के शाब्दिक अर्थ के आधार पर लगाये जाते हैं। ये आलोचक स्यात् शब्द का अर्थ 'हो सकता है', 'शायद', 'कथंचित्' करते हैं और इस आधार पर स्याद्वाद पर उपरोक्त आरोप लगाते हैं। किन्तु स्याद्वाद, संशयवाद, अनिश्चिततावाद या अज्ञेयवाद नहीं है।

(2) आलोचक सप्तभंगी नय के तृतीय नय को आत्मविरोधी घोषित करते हैं। इनके अनुसार कोई वस्तु 'है' और 'नहीं है' एक साथ कैसे हो सकती है? धर्मकीर्ति का कथन है कि, 'ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं।' आचार्य शंकर के अनुसार, 'स्याद्वाद, जो कि यथार्थ और अयथार्थ, अस्तित्व और अनस्तित्व, एक और अनेक, अभिन्न और भिन्न तथा सामान्य और विशेष आदि का मिश्रण करता है, पागल व्यक्ति के क्रन्दन और उन्मत्त के प्रलाप के समान प्रतीत होता है'। किन्तु जैन दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर उसके धर्मांे में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु में एकता एवं नित्यता आदि का विधान किया जा सकता है तो पर्याय की दृष्टि से अनेकता और अनित्यता आदि का। अतः स्याद्वाद में कोई विरोध नहीं है।

(3) जैन दर्शन के अनुसार हमारे सभी ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं। वे निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। किन्तु निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की अवधारणा को स्वीकार करना असम्भव है। पुनः, जैन दार्शनिक 'केवल ज्ञान' को शुद्ध, पूर्ण, अपरोक्ष और परमार्थ ज्ञान मानते हैं जो सभी आवरणीय कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है।

(4) जैन दर्शन स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय के आधार पर अन्य मतों की परीक्षा तो करता है, किन्तु इसके आधार पर वह अपनी परीक्षा नहीं करता। वह स्याद्वाद के आधार पर अन्य मतों को सापेक्ष और आंशिक सत्य मानता है। किन्तु वह अपने सिद्धान्त को एकमात्र सत्य घोषित करके इसे भूल जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद एंव सप्तभंगीनय अन्तर्विरोध से ग्रस्त है।

(5) स्याद्वाद अनेकान्तवाद को स्थापित नहीं करता है। जैन दर्शन का यह दावा अनुचित है कि वह स्याद्वाद के आधार पर अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। वस्तुतः जैन तर्कशास्त्र एवं ज्ञानमीमांसा अद्वैतवाद की ओर ले जाती है। आचार्य शंकर का कथन है कि यदि सभी सिद्धान्त सोपाधिक दृष्टि से

सत्य हैं तो स्याद्वाद स्वयं भी सोपाधिक सत्य होगा। सापेक्षता निरपेक्ष से सम्बन्धित है और उसके अस्तित्व को पहले ही स्वीकार कर लेती है। स्याद्वाद हमें बिखरे हुए नयों को देता है, किन्तु उनके समन्वय का प्रयास नहीं करता। सप्तभंगी नय सात नयों का एकत्रीकरणमात्र है, उनका समन्वय नहीं। निरपेक्ष ही वह सूत्र है जो सब सापेक्षों में एकता स्थापित करता है। 'अनन्तधर्मात्मक' कहने से एवं धर्मी की उपेक्षा करने से तत्त्व को बोध नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्यद्वाद एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनमें समन्वय करने का प्रयास नहीं करता। जैन दर्शन का स्याद्वाद वहाँ तक तो ठीक है जहाँ तक यह लोगों को एकांगी मतों से सावधान करता है। किन्तु वह हमें जिस स्थल पर छोड़ता है, वह एकांगी समाधानां◌े से थोड़ा ही अधिक है। वस्तुतः या तो जैन दार्शनिक अपने तर्कशास्त्र के निहितार्थों को नहीं समझ सके या साम्प्रदायिक कारणों से उसके निहितार्थ का कथन नहीं कर सके। यदि वे उसके तार्किक निष्कर्ष का कथन करने का साहस करते तो वे अनिवार्यतः अद्वैतवाद पर पहुँचते।

अभ्यास प्रश्न

1. स्यात् है-

(क) पूर्ण ज्ञान (ख) सापेक्ष ज्ञान

(ग) केवल ज्ञान (घ) इन्द्रिय ज्ञान

2. स्याद्वाद -------- को सिद्ध करता है।

3. जैन विचारधारा में -------- परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है।

4. स्याद्वाद का प्रमाण ---------------- है।

2.5 सारांश

इस इकाई के द्वितीय पाठ को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रमाण एवं नय की अनूठी व्याख्या है। यह ज्ञानमीमांसा अन्य दार्शनिक विचारधारा की अपेक्षा कहीं अधिक अध्यात्मपरक है। साथ ही यह विचारधारा कहीं अधिक अध्यात्मोन्मुखी है। किन्तु अनकी सर्वाधिक अनूठी देन अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त है जिन्होंने◌े दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। स्याद्वाद तो ऐसा चिन्तन है जिसकी छाया आईन्स्टीन के सापेक्षिक सिद्धान्त में देखी जा सकती है। इनके सिद्धान्तों के साथ एक विस्तृत समीक्षा

दी गयी है जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यहॉं प्रस्तुत की गयी है।

आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक ज्ञानमीमांसा के सहज व संक्षिप्त रूप् को पढकर व जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएॅंगे।

2.6 शब्दावली

केवली- जैन दर्शन में देश कालादि की सीमा से रहित ज्ञान सर्वज्ञता है। इस परम ज्ञान को प्राप्त करने वाला केवली कहलाता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है।

सप्तभंगी- स्याद्वाद को प्रकट करने की सात विधा है जिसे सामान्यतया सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। दूसरी ओर जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं।

बहुलवाद- स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.3 1. स्वरूप धर्म, 2. परोक्ष ज्ञान, 3. क, 4. नय, 5. क 6. दो

2.4 1. ख, 2. अनेकान्तवाद, 3. प्रमाण, 4. सप्तभंगी नय

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)

6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा

7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन की अनुमान व्यवस्था को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) नय सिद्धान्त को सोदाहरण समझाएं।

(ग) सप्तभंगीनय की सोदाहरण वयाख्या करें।

(घ) आज के सन्दर्भ में स्याद्वाद की महत्ता पर प्रकाश डालें।

(ड) जैन दर्शन के प्रमाण चिन्तन के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालें।

(च) प्रमाण व नय के प्रयोजन व अन्तर को स्पष्ट करें।

इकाई- 3 जैन दर्शन का सिद्धान्त

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 जैन तत्त्वमीमांसा
3.3.1 द्रव्य चिन्तन
3.3.2 द्रव्य के भेद
3.3.2.1. जीव द्रव्य
3.3.2.2 जीव के अस्तित्व के लिये प्रमाण
3.3.3 अजीव द्रव्य
3.3.3.1 पुद्गल
3.3.3.2 आकाश
3.3.3.3 धर्म और अधर्म
3.3.3.4 काल
3.4 जैन आचारमीमांसा
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। इससे पूर्व द्वितीय इकाई में आपने जैन ज्ञानमीमांसा की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। जिसके आधार पर आप बता सकते हैं कि जैन की प्रमाण व्यवस्था कैसी है? इस पाठ में हम जैन दर्शन के सिद्धान्त से सम्बद्ध तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा के विभिन्न विषयों पर चर्चा करेंगे। जिसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि इस जगत् की व्यवस्था जैन में किस प्रकार से स्वीकृत है साथ ही नैतिक मूल्यों तथा आचार व्यवहार के विषय मे इनकी क्या दृष्टि है?इस इकाई के अध्ययन के बाद आप द्रव्य के स्वरूप तथा जैन आचार-व्यवहार को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में जीव, अजीव, पुद्गल, कालादि व्यवस्था क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की आचारमीमांसा इस जगत् के कितनी अनुरूप हैं?

3.3 जैन-तत्त्व मीमांसा

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत विश्व के मूलतत्त्व अर्थात् आदि कारण का अनुसन्धान किया जाता है। यदा कदा इसे सत्तामीमांसा भी कहा जाता है। जैन तत्त्वमीमांसा वास्तववादी और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद है। इसे अनेकान्तवाद कहा जाता है। तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं- अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। सत्ता की दृष्टि से इसे अनेकान्तवाद तथा ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है वस्तु का अनन्तधर्मात्मक होना। अनन्तधर्मात्मक का अर्थ है वस्तु में अनन्त गुण या अनन्त लक्षण होना। जैन दर्शन के अनुसार जिस आश्रय में धर्म होते हैं वह 'धर्मी' है तथा धर्मी की विशेषताएँ 'धर्म' है। जैन दर्शन में धर्मी के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है। यह द्रव्य सत् है- सद् द्रव्यलक्षणम्। बल्कि तत्त्व एवं द्रव्य की तरह द्रव्य एवं सत् भी एकार्थक है क्योंकि सब एक हैं इसलिये सब सत् हैं- सर्वमेकम्, सद्विशेषाद्।

3.3.1 द्रव्य चिन्तन

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म स्वीकार किये जाते हैं- स्वरूप धर्म और आगन्तुक धर्म। इस प्रकार द्रव्य वह

है जिसमें स्वरूप और आगन्तुक दोनों धर्म पाये जाते हैं। स्वरूप धर्म द्रव्य के अपरिवर्तनशील एवं नित्य धर्म हैं। इसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। आगन्तुक धर्म द्रव्य के परिवर्तनशील धर्म है। ये धर्म द्रव्य में आते-जाते रहते हैं। इनके बिना भी द्रव्य अस्तित्ववान् हो सकता है।

जैन दर्शन में स्वरूप धर्म को गुण कहा जाता है और आगन्तुक धर्म को पर्याय। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय पाये जाते हैं- गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। जैन इस बात पर बल देते हैं कि द्र्रव्य और गुण को परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है- सद्द्रव्यलक्षणम्। सत् वह है जिसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है तथा जिसमें स्थिरता होती है- उत्पादव्ययध्रौव्ययुतं सत्। द्रव्य गुण की दृष्टि से नित्य होता है, क्योंकि गुण उसके अपरिवर्तनशील धर्म हैं। पर्याय की दृष्टि से वह परिवर्तनशील और अस्थायी है। जैसे, घट में मृत्तिका अपरिवर्तनशील एवं नित्य तत्त्व है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं- उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति। द्रव्य की इन तीनों विशेषताओं में कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्य में एकता, सामान्यत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की। इस प्रकार दृष्टि-भेद से वस्तु में एकता और अनेकता, सामान्यत्व एवं विशेषत्व, नित्यता एवं अनित्यता एक साथ रह सकते हैं।

3.3.2. द्रव्य के भेद

- जैन दर्शन में द्रव्य के दो भेद हैं- अस्तिकाय और नास्तिकाय। अस्तिकाय द्रव्य विस्तृत द्रव्य है। चूँकि इसकी सत्ता है (अस्ति) और काय या शरीर की भाँति आकाश में विस्तृत है, इसलिए इसे अस्तिकाय द्रव्य कहते हैं। यह बहुप्रदेशव्यापी द्रव्य है। अस्तिकाय द्रव्य के दो भेद हैं- जीव और अजीव। जीव चेतन द्रव्य है। अजीव अचेतन द्रव्य है। अजीव के चार भेद हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। नास्तिकाय विस्ताररहित द्रव्य है। यह एक प्रदेशव्यापी है। काल ही एकमात्र नास्तिकाय द्रव्य है। द्रव्य का संक्षिप्त वर्गीकरण अग्रांकित है-

द्रव्यअस्तिकाय		नास्तिकाय (काल)	
जीव		अजीव	
पुद्गल	आकाश	धर्म	अधर्म

3.3.2.1 जीवद्रव्य-

जैन दर्शन के प्रवर्तक आचार्यों के मत में जीव नित्य चेतन तथा अभौतिक तत्त्व है। जैन दर्शन में जीव शरीर एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न एक चेतन सत्ता है। यहॉं जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका स्वरूप या नित्य धर्म है। चेतना के अभाव में जीव का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार चेतना कभी नष्ट नहीं होती। यहाँ जैन दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार न्याय-वैशेषिक दर्शन के विचारों से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है। यह आत्मा एक अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार बनता है। किन्तु जैन दर्शन आत्मा को नित्य धर्म मानता है। उसके अभाव में आत्मा की सत्ता असम्भव है। जैन दर्शन यह भी कहता है कि जीव में कुछ आगन्तुक धर्म भी होते हैं जो उसमें आते-जाते रहते हैं। सुख, दुःख इच्छा, संकल्प, आदि जीव के आगन्तुक धर्म हैं।

जैन दर्शन में जीव का एक अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है। उमास्वामी के अनुसार, जीव का लक्षण उपयोग है- उपयोगलक्षणो जीवः।

जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वभावतः पूर्ण है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैनदर्शन चेतना की अभिव्यक्ति के आधार पर जीवों का वर्गीकरण करता है। वह सर्वप्रथम जीव के दो भेद करता है- मुक्त और बद्ध। मुक्त जीवों में जीव के स्वाभाविक स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन होता है। बद्ध जीव वे हैं जो अब भी कर्म पुद्गलों से अक्रान्त हैं। जैन दर्शन बद्ध जीवों के दो भेद करता है- त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमानं हैं और स्थावर जीवों में गति नहीं होती। स्थावर जीवों में जीव के स्वरूप की न्यूनतम अभिव्यक्ति होती है। इनके पाँच प्रकार है- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, तेजकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें केवल एक इन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय पायी जाती है। त्रस जीवों में स्थावर जीवों की अपेक्षा चेतना अधिक विकसित होती है। चैतन्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से त्रस जीवों के चार भेद होते हैं-

(1) द्वीन्द्रिय जीव- इन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय एंव रसनेन्द्रिय, दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे, सीप, बिना पैरों वाले कीट और घोंघा।

(2) त्रीन्द्रिय जीव- जिनके इन दो के साथ घ्राणेन्द्रियॉ भी हैं त्रा ीन्द्रिय कहलाती हैं। जैसे- जू ॅं, खटमल, पिपीलिका आदि।

(3) चतुरिन्द्रिय जीव- इन जीवों में स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षुः ये चार इन्द्रियाँ पायी जाती हैं । जैसे- भ्रमर, मक्खी आदि।

(4) पंचेन्द्रिय जीव- इन जीवों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों होती हैं। जैसे- मनुष्य, पशु, पक्षी आदि।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि जैन दर्शन अनेकजीववाद में विश्वास करता है। जैन दर्शन का यह विचार सांख्य दर्शन के 'पुरुषबहुत्व की अवधारणा' के नजदीक है।

जैन दर्शन जीव के विषय में मध्यमपरिमाणवाद का प्रतिपादन करता है। यह भारतीय दर्शन में एक विचित्र सिद्धान्त है। इसके अनुसार जीव का परिमाण मध्यम आकार का है। यह सांसारिक अवस्था में जीव के परिमाण को घटने-बढ़ने वाला मानता है। यह आत्मा के परिमाण के विषय में विभुवाद और अणुवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है। भारतीय दर्शन में न्याय एवं अद्वैत वेदान्त, आदि विचारधाराएँ आत्मा को 'विभु-परिमाण' मानती हैं। इसके विपरीत वैष्णव विचारधाराएँ उसे 'अणु-परिमाण' मानती हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के विपरीत जैन दार्शनिक उसे 'मध्यम-परिमाण' मानते हैं। वे उसे शरीरपरिमाणी कहते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव में विस्तार है, उसमें विस्तार और संकोच की संभावना रहती है। जीव जिस भौतिक शरीर से सम्बद्ध होता है, उसकी लम्बाई- चौड़ाई के अनुरूप उसका विस्तार और संकोच होता है। माता के गर्भ में शिशु लघु आकार का होता है और शरीरविस्तार के साथ उसका आकार बढ़ता रहता है। जब जीव मनुष्ययोनि में होता है तो उसका परिमाण मानवशरीर के तुल्य होता है। जब वही जीव अपने कर्मानुसार हाथी या चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तब उसका परिमाण हाथी या चींटी के परिमाण के समान हो जाता है। अर्थात् जीव न तो विभु है और न अणु, अपि तु वह शरीरपरिमाणी है। जैन के अनुसार जिस प्रकार एक ही कमरे को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं उसी प्रकार एक ही शरीर में एकाधिक जीव भी अस्तित्ववान् हो सकते हैं।

3.3.2.2 जीव के अस्तित्व के लिए प्रमाण-

जैन दर्शन में निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर जीव या आत्मा की सत्ता सिद्ध की जाती है-

(1) सुख, दुःख इच्छा, संकल्प आदि गुणों का हमें अनुभव होता है। चूँकि गुण बिना गुणी के नहीं रह सकते। अतः इन गुणों के अस्तित्व के लिए भी किसी द्रव्य का होना आवश्यक है। ये द्रव्य ही आत्मा हैं।

(2) शरीर यन्त्रवत् है। जिस प्रकार किसी यन्त्र को संचालित करने के लिए एक चालक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर जो जड़ है उसे संचालित होने के लिए भी एक चालक की आवश्यकता है। वह चालक ही आत्मा है।

(3) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के साधनमात्र हैं। यह ज्ञान स्वयं ज्ञानेन्द्रियां ि को या शरीर को नहीं प्राप्त होता। इन साधनों से ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा है।

(4) शरीर के निर्माण के लिए आत्मा की सत्ता आवश्यक है। शरीर का निर्माण पुद्गलकणों से होता है। ये पुद्गलकण अचेतन हैं। अतः इनसे स्वतः शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। शरीर का आकार प्राप्त करने के लिये इन्हें एक निमित्त कारण की आवश्यकता है। यह निमित्त कारण आत्मा या जीव है।

3.3.3 अजीव-द्रव्य-

जैन दर्शन में अजीव अचेतन या जड़ द्रव्य है। जिसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती वह अजीव द्रव्य है। जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है। ये अजीव द्रव्य चार प्रकार के हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म।

3.3.3.1 पुद्गल-

संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करने वाले अजीव द्रव्य का नाम पुद्गल है। जैन दर्शन में पुद्गल जड़ तत्त्व या भौतिक तत्त्व है। तत्त्व रूप में पुद्गल का प्रयोग बौद्ध दर्शन में भी हुआ है वहाॅंें यह शब्द जीव के लिए आया है। यह विश्व का भौतिक आधार है। व्युत्पत्ति के अनुसार, पुद्गल का अर्थ है पूरयन्ति गलयन्ति च। अर्थात् जो द्रव्य पूरण और गलण के द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्गल है- गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः।

पुद्गल के दो प्रकार हैं- अणुरूप और स्कन्धरूप। पुद्गल के विभाजन की अन्तिम एवं सूक्ष्मतम अवस्था, जो पुनः अविभाज्य हो, गुण कहलाती है। अणु अविभाज्य होने के कारण निरवयव होता है। इसका आदि, अन्त एवं मध्य कुछ भी नहीं होता। यह सूक्ष्मतम, अविभाज्य, निरवयव, निरपेक्ष एवं नित्य सत्ता है। इसका न तो निर्माण होता है और न विनाश। वह स्वयं अमूर्त है। यह अमूर्त होते हुए भी सभी मूर्त वस्तुओं का आधार है। जैन दर्शन के अनुसार अणुओं में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श गुण होते हैं। ये गुण नित्य या स्थायी नहीं हैं। अणुओं के ये गुण उनके संघातों में भी पाये जाते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार अणु पुद्गलों के संघात से स्कन्ध पुद्गलों का निर्माण होता है। जैन दर्शन की सृष्टिमीमांसा में विश्व का ढाँचा परमाणुओं से निर्मित मान जाता है। सभी भौतिक पदार्थ, जो इन्द्रियों से जाने जाते हैं, जिनमें जीवों के शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन भी शामिल हैं, अणुओं से निर्मित हैं। दो या अधिक अणुओं के संयोग से स्कन्ध या संघात पुद्गल उत्पन्न होते हैं। अणुओं में आकर्षणशक्ति होती है जिससे अणुओं में संयोग पर विभाग होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु स्कन्ध पुद्गल हैं और सम्पूर्ण जगत् इन्हीं स्कन्धों से निर्मित है। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ एक स्कन्ध है और भौतिक जगत् स्कन्धों का समूह है। भौतिक जगत् में दिखाई देने वाले परिवर्तन अणुओं के संयोग और विभाग से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में, अणुपुद्गल अदृश्य हैं, अनुमानगम्य हैं, किन्तु स्कन्ध पुद्गल दृष्टिगोचर हैं। अणु पुद्गल कारणरूप हैं और स्कन्ध पुद्गल कार्यरूप।

भारतीय दर्शन मंे अणुवादी कल्पना वैशेषिक दर्शन में भी प्राप्त होती है। जैन एवं वैशेषिक अणुवाद

में कुछ समानताएँ हैं। दोनों अणुओं को अविभाज्य, निरवयव, नित्य, अदृश्य तथा भौतिक जगत् का उपादान कारण मानते हैं। दोनों दर्शनों के अणुवादी विचारों में कुछ मतभेद भी हैं। जैसे, जैन दार्शनिक अणुओं में केवल परिमाणात्मक भेद मानते हैं, किन्तु वैशेषिक दार्शनिक अणुओं में परिमाणात्मक

और गुणात्मक दोनों भेद स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक अणुओं के गुणों को नित्य नहीं मानते, किन्तु वैशेषिक इनके गुणों को भी नित्य मानते हैं। जैन के परमाणुवाद पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 हरमन जैकोबी का कहना है कि हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर ही अपनी पद्धति (परमाणुवाद) को स्थापित किया है।

3.3.3.2 आकाश-

जैन दर्शन में आकाश वह अस्तिकाय द्रव्य है जिसमें अन्य अस्तिकाय द्रव्य, जीव एवं अजीव विस्तृत हैं तथा यह रूपादिरहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक है। आकाश स्वतः न गति की अवस्था में है और न स्थिरता की अवस्था में। उल्लेखनीय है कि विस्तृत होना अस्तिकाय द्रव्यों का धर्म है, किन्तु उनका विस्तार आकाश में ही सम्भव है। यह भी सत्य है कि आकाश विस्तारहीन पदार्थों को विस्तृत नहीं कर सकता, किन्तु विस्तृत पदार्थों का विस्तार आकाश के अभाव में सम्भव नहीं है। आकाश अनन्त है। आकाश- प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैन दर्शन अस्तिकाय द्रव्यों के विस्तार हेतु आकाश का अनुमान करता है।

इस आकाश के दो भेद हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में ही गति सम्भव है। सभी अस्तिकाय द्रव्य लोकाकाश में ही विस्तृत हैं। अलोकाकाश शून्य आकाश है। यह अनन्त तक विस्तृत है। इसमें गति का अभाव है।

3.3.3.3 धर्म और अधर्म-

जैन दर्शन में धर्म एवं अधर्म का शाब्दिक अर्थ न तो शुभ और अशुभ कर्म हैं, न पुण्य और पाप तथा न गुण और पर्याय रूप धर्म। यहाँ ये शब्द तकनीकी और पारिभाषिक अर्थ में स्वीकार किये जाते हैं। जैन दर्शन संसार में गति एवं स्थिति के लिए क्रमशः धर्म और अधर्म की सत्ता स्वीकार करता है। ये दोनों जीव और पुद्गल की क्रमशः गति और स्थिति के सहायक कारण हैं। धर्म गति का आधार है। धर्म स्वयं गति नहीं है और न यह जीव और पुद्गलादि द्रव्यों को गति प्रदान करता है। किन्तु इन द्रव्यों में जो गति दिखाई देती है वह धर्म के कारण ही होती है। धर्म उनकी गति में केवल सहायक होता है। जैसे, मछली पानी में तैरती है। पानी मछली को न तो गति प्रदान करता है और न उन्हें गति करने के लिए प्रेरित करता है, अपितु वह उसके तैरने के लिए आधार देता है। उसी प्रकार धर्म जीवादि द्रव्यों की गति का आधार है। इसी प्रकार अधर्म न तो स्वयं स्थिति है और न वह जीवादि द्रव्यों को स्थिति प्रदान करता है। वह केवल जीव, पुद्गलादि द्रव्यों की स्थिति का आधार है।

धर्म एवं अधर्म में परस्पर विरोध के अतिरिक्त कतिपय समानताएँ भी हैं। ये दोनों क्रमशः गति एवं स्थिति के उदासीन कारण है। इन दोनों का ज्ञान अनुमान से ही होता है। गति के कारण के रूप में धर्म का और स्थिति के कारण के रूप में अधर्म का अनुमान किया जाता है। दोनों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों का अभाव है। दोनों नित्य एवं अमूर्त हैं।

3.3.3.4 काल-

परिवर्तन का जो कारण है उसे काल कहते हैं। यह एक अनस्तिकाय द्रव्य है। इसका अस्तित्व तो है, किन्तु इसमें कायत्व या विस्तार नहीं है। काल की सत्ता भी अनुमान से ही सिद्ध होती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि विचारों की सार्थकता के लिए काल की सत्ता का अनुमान किया जाता है। काल न हो तो उक्त अवधारणाएँ सम्भव नहीं हैं। भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना वर्तना है। अवस्थाओं में परिवर्तन परिणाम है। क्रिया अथवा गति भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धारण करना है। इनके लिए काल का होना आवश्यक है। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चात् के भेद, ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के भेद की सम्भावना भी काल के कारण है। इनकी सम्भावना के लिए ही काल की सत्ता का अनुमान करते हैं। समस्त विश्व में एक ही काल व्याप्त है।

काल के भेद- काल के दो भेद हैं- पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। वर्त्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। यह सदैव वर्तमान काल में ही रहती है। इसमें भूत्, वर्तमान एवं भविष्यत् का विभाजन नहीं होता। व्यावहारिक काल को 'समय' भी कहते हैं। वर्त्तना के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, घंटा, मिनट, सेकण्ड, पल, क्षण आदि व्यावहारिक काल के उदाहरण हैं। पारमार्थिक काल अनादि और अनन्त है, किन्तु व्यावहारिक काल सादि और सान्त है।

संक्षेप में, जैन दर्शन की स्थापना निम्न प्रकार की है। दर्शन की सभी प्रणालियॉ सत् या वास्तविकता के स्वरूप की व्याख्या करने के प्रयास में किसी एक विशेष विकल्प से जुड़ी रहती हैं। उनका हठधर्मितापूर्ण दावा होता है कि केवल उन्हीं का विकल्प सच्चा विकल्प है जब कि अन्य प्रणालियों की धारणाए तार्किकता पर खरी नहीं उतरतीं और इसलिये उन्हें अस्वीकार किया जाना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार एक ही विकल्प को पकड़े रहना उचित नहीं है। संसार बहुलता युक्त है। यहॉ तक कि एक अकेली वस्तु भी अनेकधर्मी होती है। वस्तुओं को अनेक दृष्टिकाणों से देखा जा सकता है। प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न निष्कर्ष निकलता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक निष्कर्ष में मात्र आंशिक सत्य होगा। परम स्वीकार या परम निषेध, दोनों ही भ्रमपूर्ण हैं। प्रत्येक स्थापना सशर्त होती है। कोई भी स्वीकृति या निषेध किसी विशिष्ट स्थिति में ही सत्य हो सकता है, यह अपने आपमें सत्य नहीं हो सकता।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में सत् का लक्षण है-

(क) उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होना (ख) कूटस्थ नित्य होना

(ग) त्रिकालातीत होना (घ) जैसा है वैसा ही होना

2. जैन दर्शन में पुद्गल है-

(क) जीव द्रव्य (ख) अजीव द्रव्य

(ग) द्रव्य का धर्म (घ) नित्य द्रव्य

3. जैन दर्शन में जीव का स्वरूप है-

(क) अनस्तिकाय (ख) मध्यम परिमाण

(ग) एकमात्र सत्य (घ) इनमें से कोई नहीं

4. निम्नलिखित में गति का आधार है-

(क) जीव (ख) अजीव

(ग) अधर्म (घ) धर्म

5. निम्नलिखित में से अनस्तिकाय द्र्रव्य है-

(क) पुद्गल (ख) धर्म

(ग) काल (घ) अधर्म

6. निम्नलिखित में से कौन असत्य है-

(क) जैन दर्शन में अजीव अचेतन द्रव्य है।

(ख) जिसे सुख दुःख की अनुभूति होती है वह अजीव द्रव्य है।

(ग) जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है।

(घ) धर्म अजीव द्रव्य है।

3.4 जैन आचारमीमांसा

अन्य भारतीय दर्शनों की भॉति जैन दर्शन की भी अपनी आचार मीमांसा है। यह आचार मीमांसा

इनके मोक्ष ज्ञान की परिधि में स्थिर है। ऐसे में इस दर्शन में मोक्ष साधना के क्रम में आचार की शुद्धता का विशेष महत्त्व है। बन्धन से छुटकारा मोक्ष है- यह जानते हुये मोक्ष की अवधारणा से पूर्व बन्धन को जानना आवश्यक है।

बन्धन का स्वरूप- जैन दर्शन में बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न जीव या आत्मा के विषय में उठता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव स्वभावतः पूर्ण एवं मुक्त है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। उल्लेखनीय है कि बन्धनग्रस्त अवस्था में भी जीव के ये लक्षण केवल तिरोहित होते हैं, नष्ट नहीं होते। कर्मजन्य बाधाओं के दूर हो जाने पर ये स्वाभाविक धर्म जीव में पुनः प्रकट हो जाते हैं। जैसे, सूर्य सम्पूर्ण जगत् को आलोकित करता है, किन्तु मेघ और तुषार, आदि के आवरण के कारण वह संसार को प्रकाशित नहीं कर पाता। जब इनसे उत्पन्न आवरण दूर हो जाता है तब वह संसार को पुनः प्रकाशित करता है। वैसे ही जीव भी स्वभावतः पूर्ण है और 'अनन्तचतुष्टय' से युक्त है, किन्तु बन्धन ग्रस्त होने के कारण उसके स्वाभाविक स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जब वह मुक्त हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को पुनः प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन के अनुसार बन्धन का अर्थ है, 'जन्म ग्रहण करना', 'जीव का शरीर से सम्बन्ध होना'। जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना बन्धन है। शरीर धारण करने से या कर्म पुद्गलों से संयोग होने के कारण जीव की स्वाभाविक पूर्णता तिरोहित हो जाती है और उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा अत्यन्त विलक्षण है। भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों में कर्म का तात्पर्य अच्छे बुरे कार्यों और करनेवाले के लिये उनके अच्छे या बुरे परिणामों से होता है। किन्तु जैन दर्शन में कर्म मूलतः भौतिक एवं पौद्गलिक है जो जीव से उसी प्रकार संलग्न हो सकता है जिस प्रकार किसी चिपचिपे पदार्थ से मैल चिपक जाती है। कर्म का तात्पर्य पदार्थ के उन सूक्ष्म कणों से है जो जीव को बाँधते हैं। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप की दूषित कर देता है जिसके कारण जीव अपनी शुद्धता से च्युत होकर बन्धन की अवस्था में आ जाता है।

जैन दर्शन में कर्म की महती भूमिका है। जीव की सम्पूर्ण शारीरिक विशेषताएँ कर्मजन्य मानी जाती है। ये कर्म आठ प्रकार के हैं-

ज्ञानावरणीय कर्म- ज्ञान का नष्ट करने वाले कर्म।

दर्शनावरणीय कर्म-विश्वास का नष्ट करने वाले कर्म।

मोहनीय कर्म- अज्ञान या मोह पैदा करने वाले कर्म।

वेदनीय कर्म- सुख या दुःख की अनुभूति पैदा करने वाले कर्म। गोत्र कर्म- गोत्र को निर्धारित करने वाले कर्म।

आयुष्कर्म- जीव की आयु का निर्धारण करने वाले कर्म।

नाम कर्म- वह कर्म, जिससे व्यक्ति के नाम का निश्चय होता है और अन्तराय कर्म- बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म।

कर्म जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जीव के अतीत कर्मों से जीव में वासनाएँ पैदा होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं, परिणामस्वरूप वे पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से सम्बद्ध कर देती हैं।

जैन दर्शन भी अन्य भारतीय विचारधाराओं के समान अविद्या को बन्धन का कारण मानता है। अविद्या के कारण उसका वास्तविक स्वरूप तो अवरुद्ध होता ही है, उसमें मिथ्या दर्शन भी उत्पन्न होता है, परिणामस्वरूप उसमें अविरति एवं प्रमाद आता है। अपने स्वाभाविक स्वरूप के ज्ञान एवं शुभ-अशुभ के विषय में उदासीनता ही क्रमशः अविरति एवं प्रमाद है। जीव में अविरति एवं प्रमाद से क्रोध, मान, माया, लोभ कुप्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इन्हें कषाय कहते हैं। ये कषाय योग द्वारा कर्मपुद्गल को जीव से संयुक्त करते हैं। जैन दर्शन में योग का प्रयोग कायिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दनों के लिए होता है। इनके द्वारा जीव की ओर कर्मपुद्गल आकर्षित होते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग बन्धन के कारण है।

जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह 'आस्रव' कहलाता है। आस्रव बन्धन का कारण है, क्योंकि आस्रव के अभाव में कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। आस्रव के दो भेद हैं- भावास्रव और द्रव्यास्रव। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जीव के भावों में परिवर्तन होता है जिसे 'भावास्रव' कहते हैं। इसके बाद जीव में कर्म पुद्गलों का प्रवेश हो जाना 'द्रव्यास्रव' है। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलराशि चिपक कर जमा हो जाती है उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। तेल से लिप्त होना भावास्रव और उस पर धूलराशि का चिपक जाना द्रव्यास्रव है।

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कषायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है। बन्धन के भी दो भेद प्राप्त होते हैं- भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व उसमें भावास्रव उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जीव का जो बन्धन होता है, वह भावबन्ध है। इसके बाद कर्मपुद्गलों का प्रवेश होने पर जीव में द्रव्यास्रव उत्पन्न होता है। उसके बाद जीव का जो बन्धन होता है उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं।

जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग मोक्ष है। कर्मपुद्गलों से जीव का वियोग होने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं- नये कर्मपुद्गलों का जीव की ओर आस्रव बन्द हो जाय और जीव में प्रविष्ट हुए पुराने कर्मपुद्गलों का विनाश हो जाय। इनमें से प्रथम अवस्था संवर है और द्वितीय अवस्था निर्जरा है। संवर से नये कर्मपुद्गलों का जीवात्मा में प्रवेश करना निरुद्ध हो जाता है। संवर के दो भेद प्राप्त होते हैं-

भावसंवर और द्रव्यसंवर। भावसंवर द्रव्यसंवर की पूर्ववती अवस्था है जिसमें जीव के राग-द्वेष मोहरूप विकारों का निरोध होता है। द्रव्यसंवर में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार संवर में जीव राग, द्वेष, मोह, आदि विकारों से रहित हो जाता है जिससे उसमें नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तथा उससे होने वाला बन्धन रुक जाता है।

संवर की अवस्था में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तो बन्द हो जाता है, किन्तु आत्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलांे का निरोध संवर से नहीं होता। अतः केवल संवर से ही जीवात्मा कर्मपुद्गलों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जीवात्मा में पहले से प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गल भी नष्ट हो जाय। जीवात्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश निर्जरा है। निर्जरा के भी दो भेद हैं- भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। साधक में भाव-निर्जरा में कर्मो का नाश करने की भावना उत्पन्न होती है। द्रव्य-निर्जरा में आत्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का वास्तविक नाश होता है। इसमें दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र के अभ्यास से जीवात्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश किया जाता है। जब कर्मपुद्गल का अन्तिम कण भी जीवात्मा से पृथक् हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। इस प्रकार जीव के सभी कर्मों का क्षय मोक्ष है- कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। मोक्ष अभावात्मक अवस्था नहीं है। वह एक भावात्मक अवस्था है। इसमें केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं होती, अपितु वह इसमें अपनी स्वाभाविक पूर्णता अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की भी अवस्था है।

सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, मोक्ष के मार्ग माने जाते हैं। जैन दर्शन की मोक्षमीमांसा में इन तीनों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन हैं। इसलिए जैन दार्शनिक इन्हें 'त्रिरत्न' कहते हैं। इन तीनों साधनों का पृथक्-पृथक् वर्णन अग्रांकित है-

सम्यक् दर्शन- जैन दर्शन के धर्म एवं इसके तीर्थकरों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास सम्यक् दर्शन है। इसकी आवश्यकता संशय के निवारण के लिए होती है। सम्यक् दर्शन का उदय दर्शनावरणीय कर्मो के विनाश से होता है।

सम्यक् ज्ञान- जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान सम्यक् दर्शन है। इसमें जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होता है। यह तत्त्वों का असन्दिग्ध एवं दोषरहित ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्मों के विनाश से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सम्यक् चरित्र- सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिणत करना सम्यक् चरित्र है। अहितकारी कर्मां का परित्याग और हितकारी कर्मां का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि मनुष्य सम्यक् कर्म से ही कर्ममुक्त होकर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पाँच व्रतों के पालन का उपदेश है। जैन

दर्शन में इन व्रतों के दो रूप हैं- 'महाव्रत' और 'अणुव्रत'। महाव्रत का विधान जैन संन्यासियों के लिए है और अणुव्रत का विधान गृहस्थों के लिए।

अहिंसा- जैन साधना के पंचव्रतों में अंहिसा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि भारत में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रथम उद्घोष जैन ने ही किया था। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है, मन, वाणी और कर्म, तीनों से होने वाली हिंसा का परित्याग। जैन दर्शन में अहिंसा का अर्थ केवल दूसरों को हानि पहुँचाने से बचना ही नहीं है, अपितु उनके उपकार में सचेष्ट रहना भी है।

सत्य- इसका अर्थ है, 'असत्य वचन का परित्याग'। इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य को भय, लोभ एवं परनिन्दा की प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए।

अस्तेय- चौरवृत्ति का वर्जन अस्तेय है। जैन दर्शन के अनुसार बिना दिये पर द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैन दर्शन के जीवन की भाँति उसकी सम्पत्ति को भी अत्यन्त पवित्र मानता है। वे इसे व्यक्ति का बाह्य जीवन कहते हैं। इस प्रकार वे परद्रव्य ग्रहण को भी जीव-हिंसा ही मानते हैं।

ब्रह्मचर्य- जैन दर्शन वासनाओं के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह केवल इन्द्रिय-सुख का परित्याग नहीं है, अपितु सभी कामनाओं का परित्याग है।

अपरिग्रह- विषयासक्ति का परित्याग अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार मुमुक्षु को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों का परित्याग करना चाहिए। जैन संन्यासी से पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा की गयी है। वह किसी भी वस्तु को, भिक्षापात्र को भी अपना नहीं कह सकता।

जैन दर्शन के अनुसार जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का अनुसरण करते हुए समस्त कर्मबाधाओं को दूर करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जैन दर्शन की विशेषता उसका व्यावहारिक उपदेश है। किन्तु इसके द्वारा बतायी गयी साधना अत्यन्त कठोर है। अपनी कठोरता के कारण ही यह सामान्य जन का धर्म नही बन सका। इसके द्वारा साधुओं के लिए बतायी गयी साधना तो कठोर है ही, गृहस्थों के लिए निर्धारित की गयी साधना भी अपेक्षाकृत कठोर है। यह अपनी कठोरता के कारण मुनियों का ही धर्म बन कर रह गया। जैन दर्शन द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में आचार-पद्धति का विभाजन कृत्रिम है। इससे जैन धर्म और अधिक अव्यावहारिक हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में मोक्ष है

(क) आवागमन से मुक्ति (ख) दिये का बुझना

(ग) जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग (घ) परमात्मा की प्राप्ति

2. जैन दर्शन में कर्म है

(क) लक्ष्य प्राप्त करने का कारण (ख) अर्हत् पद प्राप्त करने का करण

(ग) बन्धन का कारण (घ) जैन दर्शन में प्रवृत्त होना

3. बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म हैं-

(क) नाम कर्म (ख) अन्तराय कर्म

(ग) मोहनीय कर्म (घ) आयुष्कर्म

4. जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह -------- कहलाता है।

5. जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना -------- है।

3.5 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा है। जीव एवं अजीव इन दो भागों में विभाजित द्रव्य विश्व के अणु से अणुतम एवं महान से महत्तम तत्त्वों की व्याख्या में पूर्णतया सक्षम हैं।

इसी प्रकार इनकी आचारमीमांसा जिस प्रकार कर्मबन्ष्?धन एवं मोक्ष की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करती है वह विश्व दर्शन चिन्तन परम्परा में सर्वथा अनूठा है। इसी क्रम में संन्यासी एवं गृहस्थों की आचार पद्धति का भी यहॉ चिन्तन प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से साधु एवं गृहस्थ की आचार पद्धति की व्याख्या करते हैं किन्तु दानों के लिये यह पद्धति अत्यन्त कठोर है।

अस्तु, इस इकाई के अध्ययन से आप तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के अनुशीलन से इस वस्तुवादी एवं बहुत्ववादी दर्शन के सार्वभौमिक चिन्तन को अत्यन्त सहजता से समझ कर अपने ज्ञान को अभिव्यक्त कर पाएंगे।

इस इकाई के अध्येयन से आप काव्यानुशीलन द्वारा सहज ही प्राप्ता होने वाले फलों और उपादानों की अनुभूति को अभिव्य क्तय कर सकेंगे।

3.6 शब्दावली

सापेक्षतावादी- यह चिन्तन की एक ऐसी विधा है जिसमें चिन्तक जगत् के किसी भी वस्तु की सत्ता का निषेध नहीं करते बल्कि किसी भी वस्तु की सत्ता अथ वा सत्यता का निर्धारण किसी भिन्न वस्तु की अपेक्षा करते हैं।

अनन्तधर्मात्मक- जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है क्योंकि इस लोक में अनेक वस्तुए हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं- अनन्तधर्मकं वस्तु।

पुरुष बहुत्व- सांख्य दर्शन में अनेक पुरुष की अवधारणा है। इसी लिये उसमें पुरुष बहुत्व की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष दूसरा मूल तत्व है।

अस्तिकाय- अस्तिकाय का अर्थ है विस्तार युक्त, सत्तायुक्त होने से यह अस्ति है तथा शरीर के समान विस्तारयुक्त होने के कारण यह काय कहलाता है।

अनस्तिकाय- अस्तिकाय का विपरीत अनस्तिकाय होता हैं। इसका सामान्य अर्थ है एकदेशव्यापी होना। जैन दर्शन में काल एकमात्र एकदेशव्यापी द्रव्य है।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.3 1. क, 2. ख, 3. ख, 4. घ, 5. ग, 6. ख

3.3. 1. ग 2. ग 3. ख 4. आस्रव 5. बन्धन

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)

6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा

7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करें।

(ख) जैन दर्शन धर्म एवं अधर्म की तुलना करते हुए इनकी विशेषता पर प्रकाश डालें।

(ग) जैन आचार मीमांसा के वैशिष्ट्य पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।

(घ) जैन दर्शन में बन्धन के स्वरूप को स्पष्ट करे

इकाई 4- चार्वाक दर्शन का परिचय एवं सिद्धान्त

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 चार्वाक दर्शन का परिचय
4.3.1 भूमिका
4.3.2 चार्वाक दर्शन के उल्लेख
4.3.3 चार्वाक दर्शन विभिन्न नाम एवं उनके अर्थ
4.3.4 चार्वाक दर्शन के साहित्य
4.4 चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त
4.4.1 चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा
4.4.2 चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध प्रथम तथा इस ब्लॉक की चतुर्थ इकाई में आपकी जानकारी के लिये यहॉं सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन के परिचय एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किये जा रहे हैं, इस विश्वास के साथ कि प्रायः कम प्रचलित यह वाद आपके ज्ञान को अभिव्द्ध कर पाएगा।

भारतीय दार्शनिक चिन्तक की सामान्य एवं विशिष्ट प्रायः समस्त धारा का एकमात्र अपवाद चार्वाक दर्शन है। सामान्य रूप से इस 'नास्तिक दर्शन शिरोमणि' कहा जाता है, जबकि विशिष्ट रूप से यह 'भौतिकवाद का चरम' माना जाता है। नास्तिक वेद की निन्दा करने वाले, परलोक को न मानने वाले तथा ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करने वाले होते हैं तथा चार्वाक दर्शन नास्तिकता के तीनों गुणों से युक्त है, कदाचित् यही कारण है कि दर्शन का यह सम्प्रदाय 'नास्तिक शिरोमणि' कहलाता है। साथ ही, अन्य समस्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विरुद्ध केवल इस जगत् के दृश्य तत्त्व, परम सुख, विषय, इच्छा, कामना की ही बात करने के कारण यह ''भौतिकवाद का चरम'' कहलाता है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि चार्वाक दर्शन का उल्लेख कहॉं कहॉं किया गया है?
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन का निहितार्थ क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन के समुपलब्ध साहित्य कौन कौन से है?
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन के मौलिक सिद्धान्त क्या क्या हैं?

4.3.चार्वाक दर्शन

उक्त सन्दर्भ में नास्तिक की अवधारणा को यहॉं आवश्यक रूप से समझ लिया जाना चाहिए। मनुस्मृति में वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा गया है- नास्तिको वेदनिन्दकः (2/11)। पाणिनि ने परलोक को मानने वाले को आस्तिक कहा है तथा न माननेवाले को आस्तिक कहा है- अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (अष्ट0 4/4/60)। किन्तु समान्य चिन्तन में अनीश्वरवादी को नास्तिक कहा जाता है।चार्वाक दर्शन के उदय का मूल कारण कदाचित् उपनिषद् दर्शन का उच्च विज्ञानवाद, वैदिक कर्मकाण्ड की अतार्किकता तथा उसका दुरुपयोग, यज्ञों में पशु बलि प्रथा, तात्कालिक सामाजिक व राजनीतिक अव्यवस्था एवं अस्थिरता का विरोध था।चार्वाक, लोकायत अथ वा बार्हस्पत्य दर्शन प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करता है। निस्सन्देह चार्वाक के भौतिकवाद की

तथाकथित परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं भारतीय दर्शन। इस क्रम में यहाँ यह स्मरणीय है कि भौतिकवादी प्रवृत्ति के बीज उपनिषदों में भी देखे जा सकते हैं। यहाँ भौतिकवाद से तात्पर्य है वह विचारधारा जिसके अनुसार विश्व का मूलभूत तत्त्व एक या अनेक रूप, जड़ात्मक है। भौतिकवादी जड़त्व से भिन्न किसी चेतन तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। यही चार्वाक वस्तुत्त्व है।

4.3.1चार्वाक दर्शन के उल्लेख

एक व्यावहारिक सत्य है कि अच्छा तभी अच्छा है जब बुरा होगा, इसी प्रकार बुरा तभी बुरा होगा जब अच्छा विद्यमान होगा। दूसरे शब्दों में, कोई भी एक वाद समाज या शास्त्र में तभी पनपेगा जब विरोधी कोई दूसरा विरोधी वाद विद्यमान होगा। इस आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक परम्परा का विरोधी वाद भी वैदिक काल में अवश्य ही रहा होगा। कदाचित् इसी वाद ने चार्वाक का स्वरूप ग्रहण किया होगा।

ऋग्वेद में इस भौतिकवाद का बीज ढॅूंढा जा सकता है। वहॉ इन्द्र की सत्ता में सन्देह करने वाले तथा तथा अपव्रती लोगों का उल्लेख प्राप्त होता है। परोक्षतः चार्वाकीय सिद्धान्त का हम इसे बीज कह सकते हैं। भौतिकवादी प्रवृत्ति के बीज उपनिषदों में भी देखे जा सकते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ऐसी अनेक धारणाओं की गिनती दी गयी है जो संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास करती हैं। इनमें से एक जगत् का मूल का कारण भूत को मानता है। इसी तरह कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि धन के मोह से मूढ़, बालबुद्धि, प्रमादी व्यक्तियों को परलोक के मार्ग में आस्था नहीं होती, वह केवल इस लोक को मानता है, परलोक को नहीं, ऐसा व्यक्ति पुनः पुनः मेरे वश में आता है (कठ0 1/2/6)। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापीत और इन्द्र-विरोचन संवाद में उल्लेख है कि असुरों का प्रतिनिधि विरोचन देहात्मवाद से ही सन्तुष्ट होकर चला गया था।(छान्दोग्य0 8-7) प्रत्यक्षतः इस वाद का उल्लेख प्रायः सारे महत्त्वपूर्ण साहित्य में प्राप्त होते हैं। बौद्ध पिटकों में लोकायत मत का नाम्ना उल्लेख है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सांख्य और योग के साथ लोकायत दर्शन का तर्क पर आधारित दर्शन के रूप में उल्लेख है। चार्वाक दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ ‘बार्हस्प्त्य सूत्र’ या ‘लोकायतिक सूत्र’ नाम से जाना जाता है। इस पर लिखी गयी भागुरी या वर्णिका नाम की टीका का उल्लेख पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण मिश्र विरचित नाटक प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में यह उद्धरण प्राप्त होता है कि बृहस्पति ने जिस शास्त्र की रचना करके चार्वाक को समर्पित किया था उसका विस्तार चार्वाक तथा उनके शिष्यों के द्वारा किया गया है।

4.3.3 चार्वाक दर्शन के विभिन्न नाम एवं उनके अर्थ

इससे पूर्व के विवरण में चार्वाक मत से सम्बद्ध कई नामों की चर्चा की गयी है। चार्वाक, लोकायत तथा बार्हस्पत्य- ये तीन इनके नाम प्राप्त होते हैं।

चार्वाक शब्द के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। सामान्य अवधारणा है कि चार्वाक चारु-वाक् अर्थात् मिष्टभाषी का संक्षिप्त रूप है। इसका अभिप्राय वह व्यक्ति है, जिसकी वाणी या वचन चारु या मनोहारिणी है। इसमें स्पष्टतः यह संकेत है कि जनसामान्य में यह दर्शन सहज स्वीकृत था। एक अन्य धारणा के अनुसार चार्वाक शब्द चर्व- चबाने या खाने धातु से बना है। इसके अनुसार चार्वाक मौज, मस्ती खाने-पीने मात्र में विश्वास करते थे।

लोकायत अर्थात् लोक $ आयत का तात्पर्य जनसामान्य में प्रचलित होना है। हरिभद्र ने लोकायत का अर्थ उन साधारण लोगों से किया जो विचारशून्य मूर्क्ष की तरह आचरण करते हैं। राधाकृष्णन् की दृष्टि में लोकायत भौतिकवाद के लिये सुसंस्कृत पद है। आयत का अर्थ आयतन अर्थात् आधार मानकर यह भी कहा जाता है कि लोकायत का अर्थ इस मूढ़ एवं लौकिक संसार का आधार है। एक अन्य अनुमान के अनुसार लोकायत एक तकनीकी शब्द है जिसका तात्पर्य विवाद, वितण्डा एवं कुतर्क का विज्ञान है। ऐसा इस कारण कहा गया है कि यह दर्शन छलपूर्ण वाद विवाद में रुचि लेता है और विभिन्न विषयों पर पारम्परिक दृष्टिकोण को चुनौती देता है।

बार्हस्पत्य नाम से अभिप्राय है कि इस दर्शन के प्रणेता बृहस्पति थे। यद्यपि इसका कोई निश्चित साक्ष्य नहीं है कि बृहस्पति इस दर्शन के प्रणेता थे। पुनरपि परवर्ती उपनिषद् में एक कथा प्राप्त होती है कि बृहस्पति ने असुरों को नास्तिक विद्या का उपदेश दिया था कि इसके प्रभाव से असुरों का नाश हो तथा इन्द्र निष्कण्टक अमरावती पर राज्य कर सकें।

4.3.4 चार्वाक दर्शन के साहित्य

दुर्भाग्य से इस दार्शनिक सम्प्रदाय का कोई भी ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। इस दर्शन के सिद्धान्तों व धारणाओं को जानने व समझने के लिये हमें पूर्णतः इसके विरोधियों के द्वारा दी गयी जानकारी पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

जयराशि भट्ट विरचित तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ को छोड़कर इस मत का कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ भी बहुत बाद का है जिसका प्रकाशन 1940 ई0 में हुआ है। किन्तु इस विषय में यह एक अनिवार्य सत्य है कि कोई भी ग्रन्थ, भले ही वह किसी सम्प्रदाय का हो, चार्वाक के कतिपय आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख एवं उनका खण्डन किये बिना अपने को पूर्ण नहीं मानता। इस आधार पर एक सामान्य निर्णय यह अवश्य ही लिया जा सकता है कि प्रायः हर दार्शनिक ग्रन्थ इस वाद का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत बन जाता है। पुनरपि, चार्वाक दर्शन के मतों को प्रसारित करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका सर्वदर्शनसंग्रह, प्रबोधचन्द्रोदय तथा बार्हस्प्त्यसूत्र की रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. चार्वाक के अन्य नाम हैं-

(क) बार्हस्पत्य तथा लोकायत (ख) लोकायत तथा पाशुपत

(ग) पाशुपत तथा बार्हस्पत्य (घ) चार्वाक एवं पाशुपत

2. चार्वाक दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ किस नाम से जाने जाते है?

3. चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध किन्हीं तीन ग्रन्थों के नाम बताएॅं।

4. लोकायत का अर्थ है-

(क) जनसामान्य में प्रचलित होना (ख) सुन्दर वचन

(ग) लोगों का घर (घ) लोक वचन

4.4 चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त

4.4.1 चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा-

भारतीय दर्शन चिन्तन में चार्वाक दर्शन ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से प्रत्यक्षवादी, तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भौतिकवादी और आचारमीमांसा की दृष्टि से सुखवादी विचारधारा है। इसकी विचारधारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष इसका ज्ञानमीमांसीय प्रत्यक्षवाद है। अन्य समस्त भारतीय दर्शन के विपरीत चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है और अन्य प्रमाणों का निषेध करता है।

वस्तुतः इसके ज्ञानसिद्धान्त का जितना विशिष्ट पक्ष एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की स्वीकृति है, उतना ही विशिष्ट पक्ष अन्य प्रमाणों, विशेषतः 'अनुमान प्रमाण' का खण्डन भी है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन के चार्वाकेतर सम्प्रदाय प्रमा के साधन के रूप में प्रत्यक्ष के साथ अनुमान प्रमाण के प्रामाण्य में अवश्य विश्वास करते हैं।

चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक साधन है प्रत्यक्ष- प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम्। चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की वैधता को स्वीकार नहीं करता। प्रत्यक्ष के विषय में चार्वाकों के द्वारा दी गयी कोई भी स्पष्ट परिभाषा प्राप्त नहीं होती। प्रायः वे भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय एवं विषय के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं- चक्षुः, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वक्। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द यह पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। सुख, दुःख आदि का अनुभव भी इस पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर ही आश्रित है।

चार्वाक में प्रत्यक्ष प्रमाणविषयक चिन्तन की स्पष्टता को इस पकार समझा जा सकता है कि रूप के अभाव में जो अदृष्ट है, रस के अभाव में जो अनास्वादित है, गन्ध के अभाव में जो अनाघ्रात है, स्पर्श के अभाव में जो अस्पृष्ट है तथा शब्द के अभाव में जो अश्रुत है ऐसा चिन्तन केवल कल्पनाओं

में ही हो सकता है, यथार्थ में नहीं। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने का कारण इस प्रमाण मंे प्राप्त अभ्रान्तता और निश्चयात्मकता है जो प्रत्यक्षेतर प्रमाणों में सम्भव नहीं है।

अनुमानविषयक चार्वाक चिन्तन- जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कि चार्वाक के द्वारा प्रवर्तित प्रत्यक्ष की परिभाषा प्राप्त नहीं होती। किन्तु इसके द्वारा किया अनुमान का खण्डन सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अनुमान का यह खण्डन मध्वविरचित सर्वदर्शनसंग्रह में प्राप्त होता है। तदनुसार-

दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि करना अनुमान है, पर्वत पर दृष्ट धूम के ज्ञान से पर्वत पर अदृष्ट अग्नि का ज्ञान करना अनुमान है। अनुमान का आधार व्याप्ति है। यह व्याप्ति हेतु और साध्य, लिंग और लिंगी के बीच साहचर्य का नियम है। चार्वाक का इस विषय में कहना है कि अनुमान में दूसरे की उपस्थिति से एक की उपस्थिति का निश्चय किया जाता है। यह तभी सम्भव है जब दोनों वस्तु की नित्य सहवर्तिता का दृढ निश्चय हो। जैसे- धूम और अग्नि का सम्बन्ध- जहॉं जहॉं धूम है, वहॉं वहॉं अग्नि अवश्य है। किन्तु तथ्य यह है कि ऐसा नियम बनाया नहीं जा सकता। पुनः पुनः निरीक्षण करने से केवल यह सिद्ध होता है कि धुएॅं की कुछ घटनाएॅं अग्नि की घटनाएॅं होती हैं, लेकिन धुएॅं की सभी घटनाएॅं अग्नि की घटनाएॅं नहीं हो सकतीं क्योंकि इस बात की पूरी संभावना है कि ऐसी घटनाएॅं हमारे निरीक्षण में आने से रह जाएॅं। परिणामतः संशय के लिये सदैव स्थान बना रहता है और अनुमान की प्रामाणिकता स्थापित नहीं होती। प्रामाणिक अनुमान की तथाकथित घटनाओं- जहॉं धुएॅं से अग्नि का अनुमान किया गया और उस स्थान पर जाने पर यथार्थ अग्नि दिखी- को संयोग ही कहा जा सकता है।

चार्वाक दार्शन का यह स्पष्ट कथन है कि धूम और अग्नि के बीच व्याप्य-व्यापक-भाव की कल्पना निराधार एवं तर्कविरुद्ध है, क्योंकि इस प्रकार के तर्कवाक्यों को प्राप्त करने का कोई वैध साधन नहीं है। चूँकि व्याप्ति हेतु और साध्य का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अतः चार्वाकों की मान्यता है कि अनुमान तभी निश्चयात्मक एवं निर्दोष हो सकता है जब व्याप्ति निर्दोष एवं वास्तविक हो। किन्तु व्याप्ति के विषय में निश्चायक रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है- हम इस व्याप्ति ज्ञान को केवल तभी निश्चायक एवं प्रमाणिक मान सकते हैं जब हम प्रत्यक्ष से धूम्रयुक्त सभी पदार्थों को अग्नियुक्त जान सकें। किन्तु यह बिल्कुल असम्भव है कि हम भूत एवं भविष्य के सभी धूमवान् स्थलों को अग्नियुक्त देख सकें।

प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल वर्तमान से है और हम वर्तमान समय में भी सभी धूमवान पदार्थों को अग्नियुक्त नहीं जान सकते। पुनः, यदि इस प्रकार की व्याप्ति आज सत्य भी हो तो यह भविष्य में भी सत्य होगी- इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, परिणामस्वरूप वह हमें किसी भी सामान्य सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान नहीं करा सकता।

चार्वाक का यह भी कहना है कि प्रत्यक्ष के आधार पर धूमत्व एवं वह्नित्व का ज्ञान नहीं हो सकता।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से केवल विशेषों का ही ज्ञान होता है, सामान्य का नहीं। जब हमारा सारा ज्ञान विशेषों तक ही सीमित है तो हमें विशेषों की सीमा का अतिक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं है विशेषों से सामान्य की कल्पना हमारी बुद्धि की भ्रान्त कल्पना है, वास्तविक ज्ञान नहीं है। धूमत्व एक जाति या सामान्य है जो सभी धूमवान पदार्थों मं े विद्यमान रहता है। अतः जब तक सभी धूमवान एवं वह्निमान पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होगा, तब तक उनके सामान्य धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः कुछ स्थलों पर धूमत्व एवं वह्नित्व के प्रत्यक्ष से धुएँ और अग्नि के मध्य सामान्य सम्बन्ध (व्याप्ति) की स्थापना सम्भव नहीं है।

पुनः, व्याप्ति हेतु और साध्य का निरुपाधिक नियत साहचर्य सम्बन्ध है। चार्वाक का कथन है कि प्रत्यक्ष द्वारा निरुपाधिक सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नह ी ं है। उपाधि दो प्रकार की होती है- आशंकित और निश्चित। यदि उपाधि निश्चित है, जैसे, अग्नि एवं धुएँ में, तो व्याप्ति अवैध होगी। यदि उपाधि की आशंका है तो भी व्याप्ति वैध नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि हम दो वस्तुओं में साहचर्य को देखकर यह नहीं कह सकते कि उनका साहचर्य निरुपाधिक है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार अनुमान और शब्द प्रमाण भी व्याप्ति को सत्यापित नहीं कर सकते हैं। अनुमान प्रमाण से व्याप्ति को स्थापित करना इसलिए असम्भव है, क्योंकि जिस अनुमान के द्वारा हम इसकी स्थापना करेंगे वह भी व्याप्ति पर निर्भर होगा। इस प्रकार हमारा तर्क अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होगा। इस प्रकार एक अनुमान के सत्यापन के लिए किसी अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी और उस अनुमान के लिए किसी अन्य अनुमान की। अनुमान की यह परम्परा धारावाहिक रूप में बनी ही रहेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष का भी प्रसंग उपस्थित होगा।

व्याप्ति की स्थापना शब्द प्रमाण से भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथमतः, शब्द ज्ञान का प्रामाणिक साधन नहीं है और द्वितीय, शब्द प्रमाण के आधार पर व्याप्ति को स्थापित करने के प्रयास में अनुमान शब्द प्रमाण पर निर्भर हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अनुमान ज्ञान का स्वतन्त्र साधन नहीं रह जायेगा। पुनः, कारण-कार्य नियम के आधार पर भी व्याप्ति को स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण-कार्य का सार्वभौम नियम स्वयं एक व्याप्ति है। इस प्रकार चार्वाकों का कथन है कि व्याप्ति की स्थापना किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है।

इस प्रकार चार्वाक अनुमान प्रमाण की वैधता एवं निश्चयात्मकता में सन्देह व्यक्त करते हैं। उनका यह भी कथन है कि अनुमान को वैध प्रमाण तभी माना जा सकता है जब इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान संशयरहित एवं वास्तविक हो। किन्तु अनुमान में इसका सर्वथा अभाव होता है, यद्यपि कुछ अनुमान आकस्मिक रूप से (संयोगवश) सत्य होते हैं।

चार्वाक की शब्द प्रमाणविषयक मान्यता- भारतीय दर्शन के प्रायः सारे दार्शनिक सम्प्रदायों में शब्द

प्रमाण को भी यथार्थ ज्ञान का साधन माना जाता है। आप्त पुरुषों के वचनों एवं श्रुतियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द प्रमा कहते हैं और इसे उपलब्ध कराने वाले असाधारण साधन को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं। सारी आस्तिक दर्शन परम्परा में वेदों को प्रमाण माना जाता है।

चार्वाक दर्शन ने शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया है। किसी पुरुष के आप्त और लोकोपकारक होने के कारण उसके वाक्यों में श्रद्धा रखना अनुमान से सम्भव है, यह अनुमान स्वयं प्रमाण नहीं है। इसलिये अनुमानाश्रित शब्द को भी प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। यदि आप्त पुरुष प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों का वर्णन करते हैं तो यह वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आ जाता है। यदि वे अदृष्ट अश्रुत अज्ञात पदार्थों का वर्णन करें तो इसे उनकी कल्पनामात्र समझा जा सकता है ै यथार्थ नहीं।

चार्वाक की यह भी मान्यता है कि आप्त पुरुषों के द्वारा उच्चरित शब्दों से ज्ञानप्राप्ति होती है, अतः उसे श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही मानना चाहिए, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। पुनः, आप्त पुरुषों के शब्द प्रत्यक्ष विषयों के बोध पर्यन्त ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं। यदि उनसे अप्रत्यक्ष विषयों के बोध की धारणा प्रस्तुत की जाती है तो उनका प्रामाण्य सन्दिग्ध हो जाता है, क्योंकि उन विषयों का प्रामाण्य प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। पुनः, चार्वाकों का विचार है कि शब्द से प्राप्त सभी ज्ञान अनुमानसिद्ध हैं। चूॅंकि अनुमान की ही प्रामाणिकता सन्दिग्ध है इसलिये अनुमान की तरह शब्दप्रमाण की भी प्रमाणिकता सन्दिग्ध है।

चार्वाक वेदों की प्रामाणिकता का सर्वथा निषेध करते हैं। वे वेदों को असत्यता, पुनरुक्ति एवं असंगति दोषों से युक्त कहते हैं। वे वेदों को धूर्त पुरोहितों की कृति मानते हैं। वैदिक यागादि कर्मों में भी उनका विश्वास नहीं है। इन कर्मों को वह धूर्तजनों का कृत्य मानते हैं तथा एक प्रकार से वे उन जनों की जीविका का भी उसे साधन मानते हैं। इनका मानना है कि श्राद्धादि कर्मों से मृत व्यक्ति तृप्त नहीं हो सकता। ये ईश्वर, आत्मा, वेद, परलोक, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य आदि को भी स्वीकार नहीं करते। इनकी दृष्टि में, इनसे प्रायः स्वर्ग, नरक, यज्ञ, आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। चूँकि इस ज्ञान को प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता, अतः ये प्रमाण नहीं हो सकते।

उपमान प्रमाणविषयक मान्यता- चार्वाक उपमान की प्रामाणिता को भी अस्वीकार करते हैं। चूँकि उपमान का आधार सादृश्य ज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। अतः चार्वाक इसके लिए किसी स्वतन्त्र प्रमाण को आवश्यक नहीं मानते। पुनः, कतिपय भारतीय विचारक भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही करते हैं। अतः अनुमान के अप्रामाणिक होने से उपमान भी अप्रामाणिक हो जाता है।

इस प्रकार अन्य भारतीय दर्शन परम्परा में स्वीकृत अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाणों के अप्रामाणिक होने के कारण चार्वाक ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण बचता है।

समीक्षा- चार्वाक दर्शन की प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के विरुद्ध भारतीय दर्शन परम्परा के अन्य सम्प्रदायों में प्रबल प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि इसने भारतीय ज्ञानमीमांसा में न केवल एक नयी विचारधारा को जन्म दिया प्रत्युत समकालीन समस्त विचारधारा की सनातन स्थापना को सर्वथा परिवर्तित कर दिया। परिणामतः इसे अन्य विचारधारा के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। अन्य दार्शनिकों ने चार्वाक के ज्ञानसिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किया-

(1) चार्वाक दर्शन ने प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण स्वीकार करके तथा इतर प्रमाणों का खण्डन करके बौद्धिक दर्शन चिन्तन के विरुद्ध अपना स्वर मुखर किया। उनके उक्त चिन्तन की सबने उपेक्षा की तथा कहा कि इस चिन्तन के आधार पर विश्व में किसी भी प्रकार की तार्किक व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। एकमात्र प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व से केवल खण्डित ज्ञान सम्भव है, उसकी एकता का नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से उन्हें जोड़ने वाले किसी अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

(2) चार्वाक के प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता भी निर्विवाद नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति की सीमा ही प्रत्यक्ष के निर्दुष्टत्व का निर्धारण करती है। निर्दुष्ट प्रत्यक्ष के लिए ज्ञानेन्द्रियों का अनुकूल होना भी परम आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों के प्रतिकूल होने पर प्रत्यक्ष भी सदोष हो जाता है। रज्जु में सर्प की प्रतीति, बालू में जल का आभास आदि दोषपूर्ण प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं। इस प्रकार अनुमान के प्रमाणत्व के खण्डन का आधार ही दूषित होने के कारण प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान का खण्डन नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक्ष की सीमाओं पर बिना विचार किये उसे ही एकमात्र प्रामाणिक ज्ञान घोषित करके चार्वाक ने रूढ़िवाद एवं अन्धविश्वास को ही बढ़ावा दिया है।

(3) जैन दार्शनिकों का कथन है कि चार्वाकों द्वारा अनुमान प्रमाण का खण्डन आत्मघातक है। उनके अनुसार चार्वाक विचारकों द्वारा प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण घोषित करना, परलोक, आदि प्रत्यक्ष विषयों के बारे में किसी भी प्रकार का विवेचन करना, अन्य मतों पर विचार करना तथा अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करना मानो प्रच्छन्न रूप से अनुमान को स्वीकार करना ही है।

(4) चार्वाक विचारकों द्वारा व्याप्ति का निषेध अनुचित है। बौद्ध विचारकों की स्पष्ट मान्यता है कि दो वस्तुओं को जोड़ने वाले सामान्य विचार को तब तक सत्य मानना पड़ेगा जब तक वह सर्वस्वीकृत है। साथ ही वह दैनन्दिन जीवन के किसी स्थापित नियम पर आधारित है। किसी मान्य कथन का विरोध व्यावहारिक जीवन के मूल को ही उखाड़ना है।

उल्लेखनीय है कि चार्वाक विचारक भी पूर्णतः व्याप्ति का खण्डन नहीं कर पाते हैं। उनकी यह मान्यता कि 'प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है', अनुमान प्रमाण नहीं है, उनकी इस आस्था की ओर संकेत करता है कि कतिपय दृष्टान्तों में व्याप्ति सम्भव है, क्योंकि यह आगमनात्मक सामान्यीकरण का फल है।

(5) चार्वाक कृत अनुमानखण्डन का अन्य भारतीय दार्शनिकों ने प्रबल खण्डन किया है। उनके अनुसार बुद्धि द्वारा अनुमान का खण्डन नहीं हो सकता। समस्त बुद्धि-विकल्प कार्य कारणादि नियमों पर आधारित है जिनकी सार्वभौमता, निश्चितता और अनिवार्यता, स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश आत्मतत्त्व से आती है। इन बुद्धि विकल्पों के बिना किसी प्रकार का बुद्धि व्यवहार सम्भव नहीं होता।

(6) यद्यपि सभी विचारक शब्द स्वीकार नहीं करते तथापि आप्त वचन को नितान्त अग्राह्य घोषित करना सांसारिक व्यावहारिक एवं सामाजिक, नैतिक व्यवस्था को निर्मूल कर सकता है।

पुनरपि ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में चार्वाक के अवदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसकी ज्ञानमीमांसा ने भारतीय विचारकों के समक्ष अनेक समस्याएँ उत्पन्न कीं जिनके समाधान के कारण भारतीय दर्शन पुष्ट एवं समृद्ध हुआ। पुनः, चार्वाक विचारकों ने भारतीय दर्शन को रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वासी होने से बचाया। इसके ज्ञानमीमांसा का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष भारतीय चिन्तन के े बहुआयामी दृष्टिकोण एवं वैचारिक स्वतन्त्रता का प्रतिनिधित्व करना है।

4.4.2 चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा-

चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा की ही उपसिद्धि है। अपने प्रत्यक्षवादी ज्ञान-सिद्धान्त के आधार पर चार्वाक केवल उन्हीं तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं जिनका प्रत्यक्ष होता है। वे इस ज्ञान-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में केवल जड़ तत्त्व या भौतिक पदार्थ की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि केवल उसी का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जड़वादी या भौतिकवादी है। इनके ज्ञात तत्त्वमीमांसीय तथ्य इस प्रकार हैं-

(1) चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति।

(2) शरीरेतर नित्य आत्मतत्त्व का निषेध।

(3) ईश्वर तत्त्व का निषेध।

(1) चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति- चार्वाक के तत्त्वचिन्तन में चार महाभूतों की ही स्वीकृति है- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। आकाश का अनुमान होता है, अतः चार्वाक उसे तत्त्व नहीं मानते े। पुनः वह इन महाभूतों को केवल स्थूलरूप मानता है। वह उनके अणुरूपत्व का निषेध करता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। वह इन जड़ तत्त्वों के तन्मात्रत्व को भी नहीं स्वीकार करता क्यां ेकि तन्मात्रत्व के विचार का भी आधार अनुमान है।

चार्वाक दार्शनिकों की मान्यता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि इन्हीं चारों भूतों से हुई है। ये ही जगत् के उपादान कारण हैं। इन भूतों का विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण होने से बाह्य जगत्, भौतिक शरीर, चेतना, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होती हैं। रूप, रस, गन्ध आदि गुणों की उत्पत्ति भी

इन्हीं के संयोग से होती है। इनके संयोग के लिए किसी निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती। जड़ तत्त्व अपने स्वभाव के अनुसार ही संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है।

(2) शरीरेतर नित्य आत्मतत्त्व का निषेध- चार्वाक का मानना है कि चैतन्य भी भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण होने से जीवित शरीर में उत्पन्न होता है। अतः जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर से भिन्न किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। शरीर का चेतना से युक्त होना ही आत्मतत्त्व कहलाने के लिए पर्याप्त है। चैतन्य का प्रत्यक्ष भी शरीर के अन्तर्गत होता है। अतः 'चेतना से विशिष्ट शरीर' ही आत्मा है। व्यक्ति प्रत्यक्ष के आधार पर भी शरीर और आत्मा के तादात्म्य का अनुभव करता है। मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,- ये कथन मैं (आत्मा) और शरीर के तादात्म्य का ही बोध कराते हैं।

इस प्रकार चार्वाक जड़ तत्त्वों के आधार पर आत्मा की भी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार जड़तत्त्वों से शरीर भी उत्पन्न होता है और उसमें पाया जाने वाला चैतन्य भी। यद्यपि जड़तत्त्वों में चैतन्य का अभाव है, तथापि उनके सम्मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार मदिरा के विभिन्न घटकों में से किसी में भी मादकता नहीं है लेकिन उनमें विशेष प्रक्रिया से विकार उत्पन्न होने पर मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार जड़तत्त्वों के विशेष सम्मिश्रण से चेतना उत्पन्न होती है- किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्। इस प्रकार चेतन शरीर से भिन्न आत्मा का कोई प्रमाण नहीं है।

साथ ही चेतन शरीर के आत्मत्व के कारण आत्मा की अमरता भी सम्भव नहीं है। आत्मा की अनित्यता यह सिद्ध करती है किं आत्मा से जुड़ी सभी अवधारणाएँ- पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक एवं कर्मयोग-निराधार हैं।

(3) ईश्वर तत्त्व का निषेध- चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। प्रायः आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों के रक्षक तथा सृष्टि के कर्त्ता, नियामक एवं संरक्षक के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाती है। चार्वाक आध्यात्मिक, धार्मिक, एवं नैतिक मूल्यों को मानसिक भ्रान्ति कहता है। वह सृष्टि की व्याख्या के लिए भी ईश्वर को आवश्यकता नहीं मानता। वह ईश्वर की कल्पना को एक धार्मिक भ्रान्ति कहता है। चूँकि ईश्वर का कोई प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं है। उसके लिए ईश्वर जैसे किसी निमित्त कारण की भी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार, चूँकि जड़तत्त्वों के आन्तरिक स्वभाव से ही संसार की उत्पत्ति होती है। अतः वह स्वभाववादी या यदृच्छावादी है।

समीक्षा- चार्वाक दर्शन के जड़वादी सिद्धान्त के विरुद्ध आस्तिक दर्शनोें में तीव्रतम प्रतिक्रिया हुई। जैन एवं बौद्ध सदृश नास्तिक दर्शनों ने भी चार्वाकों की तत्त्वमीमांसा को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया। भारतीय दर्शनों में चार्वाक तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप प्राप्त होते हैं-

(1) चार्वाक दर्शन की यह मान्यता अनुचित है कि एकमात्र जड़तत्त्व सृष्टि की व्याख्या के लिए पर्याप्त है। जड़तत्त्व सृष्टि का उपादान कारण मात्र हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उद्भव कारण न। जिस प्रकार कुम्भकार की सहायता के बिना मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता उसी प्रकार चेतन निमित्त कारण (ईश्वर) के बिना ये सृष्टि नहीं हो सकती।

(2) चार्वाक दर्शनके आत्मसिद्धान्त के विरुद्ध अन्य भारतीय दर्शनांे ने प्रबल प्रहार किया। उसके आत्म सिद्धान्त के विरुद्ध अधोलिखित आक्षेप प्राप्त होते हैं-

(क) चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा कहना अनुचित है। आत्मा में चेतना और शरीर का तादात्म्य मानना भी अनुचित है। यदि चैतन्य का अर्थ स्वचैतन्य है जो मनुष्यों में है तो इसका तादात्म्य जीवित शरीर से नहीं किया जा सकता। यदि चेतना और शरीर के साहचर्य को नित्य भी मान लिया जाय तो भी यह नहीं सिद्ध होता है कि चेतना शरीर का धर्म है।

(ख) यदि चेतना शरीर का आवश्यक गुण होती तो उसे शरीर से अवियोज्य होना चाहिए तथा उसे शरीरपर्यन्त उसके साथ सम्बद्ध होना चाहिए। किन्तु यह यथार्थ है कि मूर्च्छा या स्वप्नरहित निद्रा में शरीर चेतना से शून्य दिखाई देती है।

(ग) यदि चेतना वस्तुतः शरीर का धर्म होती तो उसका वैसा ही ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए जैसा हमें होता है। किन्तु एक व्यक्ति की चेतना उसका निजी गुण है। अतः उसका जैसा ज्ञान उस व्यक्ति को होता है वैसा दूसरों को नहीं हो सकता।

(घ) शरीर स्वयं भी एक साधन है, अतः उसे वश में रखने वाले चेतन की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि चेतना शरीर में नहीं, अपि तु शरीर के नियन्त्रणकर्त्ता में है। इस प्रकार भौतिकवादी की स्थिति स्वयं उसके विरुद्ध जाती है।

(ङ) चेतना शरीर का गुण नहीं हो सकता। यदि चेतना शरीर का गुण होगी तो शरीर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर, जो स्वयं चेतना का आधार है, चेतना द्वारा नहीं जानी जा सकती। अतः चेतना शरीर का गुण नहीं हो सकती।

(च) जड़तत्त्वों से चेतना की उत्पत्ति नहीं दिखाई देती। जड़तत्त्व से चेतना के उत्पन्न होने का अर्थ है कि असत् से सत् की उत्पत्ति। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तुतः शून्य से शून्य ही उत्पन्न होता है, कोई वस्तु नहीं।

(छ) यदि चेतना शरीर का गुण है तो अन्य भौतिक गुणों के समान चेतना का भी प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता।

(3) मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ- इन कथनों से चार्वाक दर्शन शरीर को ही आत्मा सिद्ध करना चाहता है।

इन कथनों से केवल यह सिद्ध होता है कि शरीर के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो 'शरीर आत्मारहित है' इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इन दोषों के बावजूद चार्वाक तत्त्वमीमांसा का प्रचलित विश्वासों पर पर्याप्त प्रभाव रहा। इसने भूतकाल के प्रति लगाव और भविष्य के आकर्षण को भंग किया। किन्तु, जब वह गंभीर चिंतन करता है तो वह भौतिकवाद से दूर चला जाता है। आश्चर्य है कि चार्वाक दर्शन ने यही कार्य नहीं किया।

अभ्यास प्रश्न

1. चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक साधन है

(क) प्रत्यक्ष (ख) अनुमान
(ग) उपमान (घ) शब्द

2. चार्वाक के अनुसार शब्द प्रमाण नहीं है, क्योंकि

(क) यह एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही है (ख) यह अनुमानाश्रित है
(ग) शब्द आकाश का गुण है (घ) यह उपमानाश्रित है

3. चार्वाक उपमान प्रमाण का निषेध करता है, क्योंकि उसका मानना है कि

(क) अनुमान और उपमान एक ही है
(ख) प्रत्यक्ष उपमान से भिन्न नहीं है (ग) उपमान का आधार सादृश्य ज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है
(घ) उपमान भी प्रमाण हो सकता है।

4. चार्वाक केवल उन्हीं तत्वों को स्वीकार करता है

(क) जिनका अनुमान होता है (ख) जिनका उपमान होता है
(ग) जिनका शब्द होता है (घ) जिनका प्रत्यक्ष होता है

5. चार्वाक आध्यात्मिक, धार्मिक, एवं नैतिक मूल्यों को क्या कहता है?

4.5 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक के चिन्तन को सार्वभौमिक रूप में प्रवर्तित करने के लिये किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ अथ वा साहित्य की रचना नहीं की गयी। बल्कि विभिन्न दार्शनिक स्रातों तथा कुछ परवर्ती रचनाओं से इसके बिखरे सिद्धान्तों को हम समझ पाए। इन्हीं स्रोतों के द्वारा चार्वाकविषयक कुछ विचारों को हम एकत्रित कर पाए। इनकी तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को समझने लिये आज एकमात्र उपलब्ध समग्र कृति सर्वदर्शनसंग्रह है। इस पाठ में प्रस्तुत समीक्षा यह दर्शाती है कि चार्वाक ने स्थापित मान्य सिद्धान्त को न केवल अस्वीकार किया बल्कि अपके दुर्धर्ष तर्कों से उनका खण्डन भी किया। इस इकाई के अध्ययन से आप चार्वाक दर्शन के परिचय एवं सिद्धान्त से सहज ही अवगत हो पाएंगे साथ ही उन्हें अभ्सिव्यक्त भी कर पाएंगे।

4.6 शब्दावली

साध्य- वह परोक्ष तत्व, जिसका अनुमान किया जाना है, साध्य है। इसे व्यापक तथा अनुमेय भी कहते हैं।

लिंग- लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम्। इस प्रकार लीन अर्थात् परोक्ष साध्य का जो ज्ञान कराये वह लिंग है। इसे हेतु भी कहते हैं।

व्याप्ति- हेतु का साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है।

हेतु- व्याप्ति के कारण किसी स्थान विशेष में साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाला साधन हेतु है। इसे लिंग भी कहते हैं।

आप्तपुरुष- आप्त यथार्थ वक्ता को कहते हैं। यह आप्त वाक्य आप्त पुरुष के द्वारा ही सम्भव है। या यथार्थ वाक्यों का प्रयोग करने वाला आप्त पुरुष कहलाता है।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.3 1. क, 2. बार्हस्पत्य सूत्र, 3. बार्हस्पत्य सूत्र, तत्त्वोपप्लवसिंह तथा सर्वदर्शन संग्रह 4. क

4.4 1. क 2. ख 3. ग 4. घ 5. मानसिक भ्रान्ति

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) चार्वाक दर्शन के विभिन्न नाम एवं उनके अर्थो को स्पष्ट करें।

(ख) चार्वाक के प्रमाणविषयक चिन्तन पर एक निबन्ध लिखें।

(ग) चार्वाक की अनुमान विषयक अवधारणा को स्पषृअ करें।

(घ) चार्वाक के प्रमाण चिन्तन पर समीक्षा करें।

(ड) चार्वाक की तत्वमीमांसा का सार प्रस्तुत करते हुए उसकी समीक्षा करें।

इकाई 5 - चार्वाकी सिद्धान्तों की अन्य भारतीय दर्शनों में आंशिक उपस्थिति

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3. चार्वाक दर्शन और आस्तिक सम्प्रदाय
5.3.1 वेद में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.2 उपनिषद् में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.3 गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.4 न्याय वैशेषिक में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.5 अद्वैत वेदान्त में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.4 चार्वाक दर्शन और नास्तिक सम्प्रदाय
5.4.1 जैन दर्शन में चार्वाक की उपस्थिति
5.4.2 रसेश्वर दर्शन में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध यह द्वितीय तथा इस समग्र ब्लॉक की यह पॉचवीं इकाई है। इससे पूर्व के पाठ में आपने चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का सविस्तर ज्ञान प्राप्त किया।

इस पाठ में आप चार्वाक दर्शन के विषय में यह जानेंगे कि इसका उल्लेख हम सामान्यतया किन अन्य दार्शनिक विचारधारा में पाए्ंगे। वस्तुतः इससे पूर्व की चर्चा से आप इतना अवश्य ही जान गये होंगे कि इस विशिष्ट दर्शन का अन्य भारतीय दर्शन की तरह इस दर्शन का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यदि कोई ग्रन्थ था भी तो वह उपलब्ध नहीं होता। इस स्थिति में हम अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित उद्धरणों से इसके सिद्धान्तों को जान पाते हैं। किन्तु यहॉं हम सविशेष अन्य भारतीय दर्शनों में विद्यमान परिचर्चाओं में चार्वाक की स्थिति को आधार बनाकर इस पाठ का परिवर्धन करेंगे।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि सामान्यतया अन्य किन किन भारतीय दर्शनों में चार्वाक चिन्तन प्राप्त होता है।
- समझ पाएंगे कि चार्वाक दर्शन की स्थिति अन्य भारतीय दर्शनों में कैसी है।
- साथ ही, अन्य दर्शनों से इसके मत वैभिन्य को भी जान पाएंगे।

5.3. चार्वाक दर्शन और आस्तिक सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन की आस्तिक विचारधारा के विभिन्न सम्प्रदायों में चार्वाक दर्शन की आंशिक उपस्थिति की यहॉं परिचर्चा की जाएगी।

5.3.1 वेद में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति-

यद्यपि नाम्ना वेद में चार्वाक का उल्लेख प्राप्त नहीं होता तथापि अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के समान ही चार्वाक के सिद्धान्तों का भी बीज यहॉं अवश्य ही दिख जाता है। कई ऐसे विषय हैं जो परवर्ती चार्वाक के सिद्धान्तों के अत्यन्त निकट हैं। तद्यथा-

चार्वाक दर्शन का मूल चिन्तन भूत चैतन्य की स्थापना में निरत है। वेद में भी इसकी तार्किक स्थापना देखी जा सकती है। वेद में, यज्ञ की एक अधिष्ठात्री देवता की कल्पना की जाती है। यहॉं तक कि

प्रत्येक वस्तु के लिये उक्त देवता की कल्पना की जाती है। यह कल्पना कदापि मौलिक नहीं की जा सकती, ऐसा समालोचकों का मानना है (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 400)।

इस प्रकार प्रत्येक वैदिक भौतिक सम्बोधन-स्थल को देवता की कल्पना के द्वारा अभूत चैतन्य का ज्ञापक नहीं बनाया जा सकता। इसलिये भूतचैतन्य-स्थापक सन्दर्भों एवं कथनोपकथनों से समग्र वैदिक कर्मकाण्ड व्याप्त होने के कारण यही उचित मानना प्रतीत होता है कि समग्र वैदिक कर्मकाण्ड चार्वाक सम्मत भूतचैतन्य को ही मान्यता देता हुआ प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि एतदर्थ वेद में कहीं भी भूत शब्द का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार भूतचैतन्य प्रधानक चार्वाक सिद्धान्त सर्वथा वैदिक है अवैदिक नहीं एवं अतिप्राचीन है आधुनिक नहीं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में इन्द्र की सत्ता में सन्देह करने वाले तथा अपव्रत लोगों का उल्लेख है। वहाँ आस्तिक, व्रती लोगों की प्रशंसा तथा यज्ञविहीन अव्रती लोगों की निन्दा है।

5.3.2 उपनिषद् में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति

उपनिषद् वैदिक ज्ञानकाण्ड का सार है। इसे भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत माना जाता है। प्रायः समस्त दार्शनिक विचारधाराओं का प्रतिबिम्बन इसमें प्राप्त होता है। यद्यपि इन समस्त उपनिषदों में सांख्य, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत प्रभृति आस्तिक विचारधाराओं का ही सर्वाधिक सम्पोषण हुआ है। पुनरपि, ऐसा नहीं है कि इसमें आस्तिक विचारधारा के विरुद्ध तथा चार्वाकी विचारधारा के अत्यन्त सन्निकट चिन्तन अवश्य ही प्राप्त नहीं होता है। अतः उपनिषद् में भी कहीं यदि चार्वाक का बीज प्राप्त हो जाए तो यह असम्भव नहीं। उदाहरणार्थ ईशावास्योपनिषत् के छठे मन्त्र में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति सारे भूतों अर्थात् प्राणियों में आत्मदृष्टि रखता है और आत्मा में समग्र भूतदृष्टि रखता है वह किसी में भी घृणा या भेदभाव करता नहीं -

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

इस मन्त्र का निहितार्थ यह है कि इस में भूतात्मवाद की ही विशेषता वर्णित हुई है जो चार्वाक दर्शन का सार है। केनोपनिषद् में इसी भूतात्मवाद के समर्थन में यह कहा गया है कि ‘‘ इस चराचरात्मक भौतिक संसार को यदि सत्य समझा तो ठीक है और यदि ऐसा नहीं समझा तो समझो महान् विनाश प्राप्त है। प्रत्येक भूत को आत्मा समझने वाला ही मर कर अमृत होता है।’’ तद्यथा-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मॉल्लोकादमृता भवन्ति।।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि धन के मोह से मूढ, बालबुद्धि, प्रमादी व्यक्तियों को परलोक के मार्ग या साधन में आस्था नहीं होती, वह केवल इस लोक को मानता है, परलोक को नहीं, ऐसा व्यक्ति बार बार मेरे अर्थात् यम या मृत्यु के वश में आता है (1/2/6)। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापति और इन्द्र विरोचन संवाद में उल्लेख है कि असुरों का प्रतिनिधि विरोचन देहात्मवाद से ही सन्तुष्ट होकर चला गया था (8-7)।

5.3.3 गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति

गीता जो भारतीय चिन्तन परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, कभी भी चार्वाक मत के प्रतिपादन अथ वा समर्थन में कुछ नहीं कहती। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी यदि आनुषंगिक रूप में यहॉं चार्वाक सिद्धान्त के समर्थक कुछ बातें मिल जायें तो चार्वाक सिद्धान्त के लिये उन बातों का महत्त्व अत्यधिक होगा।

वस्तुतः गीता की समस्त पृष्ठभूमि ही चार्वाकीय चिन्तन है। उपदेश्य अर्जुन जहॉं युद्ध को हिंसा समझते हैं उपदेशक कृष्ण इसके विपरीत यह स्थापित करते हैं कि युद्ध क्षत्रियों के लिए पापात्मक हिंसा नहीं प्रत्युत उसके विपरीत धर्मात्मक सदाचरण है। इससे साररूप में यह निर्णय उपस्थित किया गया है कि आचरण की अच्छाई एवं बुराई का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर करणीय है। परिस्थिति ही उसका मापदण्ड है। मरण की समानता को लेकर युद्धगत वीरवध तथा अयुद्धगत प्राणिवध को एक समान मानना उचित नहीं। यदि विचार कर के देखा जाये तो इस प्रकार के आचरणगत अनैकान्तिक निर्णय के कारण ही धर्म की ऐकान्तिकतावादियों ने राजनीति एवं उसके दर्शनभूत चार्वाकीय दृष्टिकोण की निन्दा की है तथा उसके प्रति घृणा का भाव फैलाया है। अतः यह मानना होगा कि गीता पर चार्वाक दृष्टिकोण का प्रभाव अवश्य है।

इसी तरह द्वितीय अध्याय के 42वें पद्य से लेकर 45वें पद्य पर्यन्त पारम्परिक वेदवाद की निन्दा की गयी है। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस प्रसंग में विस्तारपूर्वक वर्णित चार्वाकीय वेदवाद के ऊपर ही आक्षेप उपस्थित किया गया है। चतुर्थ अध्याय के 21वें पद्य में यतचित्तात्मा शब्द में प्रयुक्त आत्म शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ में किया गया है। शंकराचार्य ने भी इसका अर्थ शरीर ही किया है। पंचम अध्याय के 7वें पद्य में विजितात्मा का अर्थ शरीर लिया गया है शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं। आचार्य शंकर ने भी इसका अर्थ विजितदेह अर्थात् अपने देह पर विजय पाने वाला किया है। ध्यातव्य है कि चार्वाक शरीरात्मवाद को ही मानता है। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि गीता चार्वाक मत से भले ही पूर्णतः नहीं किन्तु आंशिक रूप से अवश्य ही प्रभावित है।

अठारहवें अध्याय के 48वें पद्य में कहा गया है कि कोई भी कर्म यदि सहज हो तो सदोष होने पर भी अर्थात् किसी कारणवश अनुचित माने जाने पर भी सहसा उसे नहीं छोड़ देना चाहिए। अर्थात् कोई भी कार्य परित्याज्य नहीं है। इस प्रकार निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि यहॉं चार्वाकीय

विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

5.3.4 न्याय में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति

न्याय दर्शन वस्तुतः प्रमाण पर आधारित एक वस्तुवादी दर्शन है। वस्तुतः दर्शन क्षेत्र में प्रमाणमीमांसीय क्रान्ति लाने का श्रेय भी इसी दर्शन को जाता है। यह कह पाना कि न्याय दर्शन में चार्वाक मत का समर्थन या समन्वय हुआ है तो यह शोध का विषय हो सकता है, किन्तु अपने मत के समर्थन में तथा अपने मत की स्थापना के लिये अन्य मत के खण्डन के क्रम में इस विचारधारा की आंशिक उपस्थिति देखी जा सकती है। तद्यथा-

न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में आत्मा की स्थापना के क्रम में चार्वाक के शरीरात्मवाद का खण्डन प्राप्त होता है- ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह-

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।

तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।।

वस्तुतः विश्वनाथ ने यहॉं चार्वाक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है। शरीर को ही आत्मा मानने पर यह आपत्ति हो सकती है कि मृत अवस्था में शरीर बना रहता है फिर चैतन्य क्यों नहीं रहता? इस पर चार्वाक का कहना है कि न्याय-वैशेषिक के मत में यह माना जाता है कि मुक्त अवस्था में चैतन्य का अभाव मान लिया जाएगा, क्योंकि जिस प्रकार प्राणाभाव न्याय-वैशेषिक के मत में मुक्त दशा में ज्ञान के अभाव का कारण है, इसी प्रकार हमारे मत में भी प्राणाभाव ही मृत शरीर में ज्ञानाभाव का कारण हो जाएगा।

इसी प्रकार आस्तिक नास्तिक विवेचन प्रसंग में, न्याय भाष्य में वात्स्यायन ने एक दृष्टान्त देते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि चार्वाक नास्तिक नहीं थे। वात्स्यायन का मानना है कि ‘‘नास्तिक यदि दृष्टान्त को मानेगा तो वह नास्तिक नहीं रह पाएगा और यदि वह दृष्टान्त को नहीं मानेगा तो किसके सहारे वह अपना विरोधी पक्ष का खण्डन करेगा?’’-

नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति। अनभ्युपगच्छन् किं साधनः परमुपालभेत?- न्यायदर्शन, वात्स्यायनभष्य।

इस कथन से यही सिद्ध होता है कि नास्तिक वही कहलाता होगा जो दृष्टान्त नहीं मानता होगा। दृष्टान्त को न मानने का अर्थ होता है प्रत्यक्ष को न मानना। किन्तु चार्वाक प्रत्यक्ष को तो मानता ही था बिना किसी दृष्टान्त का वह अपने विचारों का भी प्रवर्तन नहीं करता था। इस प्रकार किसी न किसी रूप में न्याय वैशेषिक दर्शन में चार्वाक की आंशिक उपस्थिति देखी जा सकती है।

5.3.5 अद्वैत वेदान्त में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति

ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखकर शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तन किया था। किन्तु अपनी इस विचारधारा का विश्लेषण उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में भी किया। ब्रह्मसूत्र के ही अध्यास प्रकरण में उन्होंने चार्वाक का उल्लेख लोकायत कहकर किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि आचार्य शंकर चार्वाक या लोकायत की विचारधारा से पूर्णतया अवगत थे।

इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के अन्य ग्रन्थ ''सर्वसिद्धान्त संग्रह'' में भी चार्वाक विचार का पर्याप्त विस्तार मिलता है। यद्यपि इस विषय में सन्देह है कि यह आद्यशंकराचार्यविरचित है किन्तु जब तक कोई प्रबल बाधक नहीं प्राप्त होता तब तक इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। शंकराचार्य ने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का ''लौकायतिक पक्ष प्रकरण'' नाम दिया है-

लौकायतिकपक्षे तु तत्वं भूतचतुष्टयम्।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुरित्येव नापरम्।। 298

इस प्रकरण में शंकराचार्य ने लौकायतिक विचारधारा का स्वरूप वर्णन इस प्रकार किया है-

''लौकायतिक पक्ष में तो पृथिवी जल, तेज और वायु ये चार ही तत्व हैं, और नहीं। प्रत्यक्षगम्य ही वस्तुए मान्य हैं, अदृष्ट मान्य नहीं हैं, क्योंकि यहॉं देखा जाता नहीं। जो लोग अदृष्ट मानते हैं वे भी उसे दृष्ट अर्थात् देखी जाने वाली वस्तु कहॉं कहते हैं? यदि किसी ने उस अदृष्ट को देखा है तो फिर वे लोग उसे अदृष्ट क्यों कहते हैं? जिसे कभी कोई भी देख न पाये वह शशशृंग आदि के तुल्य होने के कारण ''सत्'' कैसे हो सकता? सुख और दुःख के सहारे भी धर्म ओर अधर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि लोग सुखी और दुखी स्वभावतः भी हो सकते हैं। अतः स्वभाव से अतिरिक्त और कोई सुख दुःख का कारण नहीं। मयूर के पंखों को भला कौन चित्रित करता है? कोकिलों को भला कौन मधुरकूजन सिखलाता है? मैं मोटा हूँ , मैं तरुण हूँ , मैं तो वृद्ध हो गया, मैं अभी युवक हूँ - इस प्रकार प्रतीतियॉं आत्मा के सम्बन्ध में होती हैं, अतः उक्त विशेषणों से युक्त शरीर ही है आत्मा। उससे भिन्न अन्य और कोई नहीं। भौतिक जड़ वस्तुओं में जो चेतना देखी जाती है उसे पान सुपारी चूना और खैर आदि के संयोग से होने वाले लाल रूप के समान सांयोगिक समझना चाहिए। इस लोक से अन्य कोई स्वर्ग या नरक नहीं है। शिव-लोक आदि की बातें वंचकों एवं अज्ञों की कल्पनामात्र हैं। युवती संगमज सुख के अतिरिक्त कोई स्वर्गीय अनुभव नहीं है। महीन कपड़े, सुगन्धित मालाए एवं चन्दन लेपन इत्यादि जनित सुखों को भी स्वर्गीय सुख कहा जा सकता है। मोक्ष मरण ही है और वह भी शरीर से होने वाले प्राणनिर्गमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी प्रकार का आयास नहीं करना चाहिए। तप, उपवास आदि के द्वारा अपने को सुखाना अज्ञान का ही काम है। पातिव्रत्य, सुवर्णदान, भूमिदान, मन्त्रपूर्वक परिमार्जित भोजन

आदि के औचित्य की कल्पना उन दुर्बलों के द्वारा की गयी जो कि बुद्धिमान् थे और दारिद्र्य के कारण अपना पेट भरना चाहते थे। देवमन्दिर, जलपान, व्यवस्था, यज्ञ, कूप, उद्यान आदि की प्रशंसा भला पथिकों छोड़कर और कौन करता है? इसीलिये बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेदपारायण, त्रिदण्डधारण, भस्मलेपन आदि को बुद्धि एवं सामर्थ्यहीन व्यक्तियों की जीविका बतलाया है। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य एवं दण्ड नीति आदि दृष्ट उपायों द्वारा सांसारिक भोगों का अनुभव करें।'' (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 446-447)

इस सन्दर्भ में, वेदान्तिक दृष्टि से शंकराचार्य के द्वारा चार्वाक के मतों के समर्थन का विश्लेषण यहाँ आवश्यक है। ध्यातव्य है कि शंकर ने चार्वाक के इन मतों का उल्लेख खण्डन के लिये किया है मान्यता देने के लिये नहीं। किन्तु उनके इस मत वर्णन में कुछ ऐसी बातें अवश्य कही गयी है जिससे उसके अतिप्राचीन स्वरूप का एवं मान्यता का आभास प्राप्त होता है। बिन्दुशः इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

(क) शंकराचार्य ने सर्वमतसंग्रह में लोकायत पक्ष न कहकर इसके लिये लौकायतिक पक्ष उद्धृत किया है जिससे एक सुव्यवस्थित एवं दीर्घकालिक लोकादृत विचारधारा की अनुभूति होती है।

(ख) बृहस्पति के सन्दर्भ में उदधृत मत, कि अग्निहोत्र आदि कुछ असमर्थोंं के जीविकार्थ प्रवर्तित है, में अग्निहोत्र आदि की अकरणीयता नहीं बतलायी गयी है। क्योंकि व्यावहारिक रूप से जीवनोपाय सर्वार्थ आवश्यक है।

(ग) सार रूप में कथित यह वाक्य कि बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार आदि को अपनाकर सुखी बनें, से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोकायत विचारधारा अति प्राचीन काल में उच्छृंखल नहीं, पूर्णसंयत एवं सुशृंखल थी।

अस्तु, लक्ष्य या विषय कुछ भी हो किन्तु शंकराचार्य के द्वारा चार्वाक दर्शन के मतों का इस प्रकार उद्धृत किया जाना निस्सन्देह चार्वाक के विषय में व्याप्त आधुनिक विश्वास का प्रतीप रूप प्रवर्तित करता है। ऐसा नहीं है कि केवल शंकर ने ही चार्वाक का विरोध किया बल्कि अन्य दर्शन ने भी पुरजोर इसका विरोध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. यज्ञ में कल्पना की जाती है

(क) वेद की (ख) एक अधिष्ठात्री देवी की

(ग) इन्द्र की (घ) सूर्य की

2. केनोपनिषद् में समर्थन मिलता है-

(क) देहात्मवाद का (ख) इन्द्रियात्मवाद का

(ग) भूतात्मवाद का (घ) इनमें से कोई नहीं

3. गीता के पॉचवें अध्याय में प्रयुक्त विजितात्मा शब्द का अर्थ शंकराचार्य ने लिया है-

(क) विजित देह (ख) विजित मन

(ग) विजित इन्द्रिय (घ) विजित चित्त

4. शंकराचार्य के द्वारा प्रवर्तित लोकायतिक विचारधारा का प्रवर्तन प्राप्त होता है-

(क) सर्वदर्शनसंग्रह (ख) षड्दर्शनसमुच्चय

(ग) सर्वार्थसिद्धि (घ) सर्वमतसंग्रह

5. विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में शरीरात्मवाद का खण्डन किया है। इस वाद का प्रवर्त्तन किया है-

(क) विश्वनाथ ने (ख) चार्वाक ने

(ग) शंकर ने (ग) महावीर ने

5.4 चार्वाक दर्शन और नास्तिक सम्प्रदाय

यद्यपि चार्वाक स्वयं नास्तिक सम्प्रदाय में परिगणित है तथापि कुछ अन्य नास्तिक विचारधारा हैं जो चार्वाक का तो विरोध करते ही हैं साथ ही, उनके मत को उद्धृत करते हुए उन मतों से सहमति भी प्रकट करते हैं। इसी सन्दर्भ में यहॉ नास्तिक विचारधारा में चार्वाक की उपस्थिति का अन्वेषण किया जा रहा है।

5.4.1 जैन दर्शन में चार्वाक की उपस्थिति

जैन दर्शन के आचार्य हरिभद्र सूरि विरचित षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाक एवं इसके सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होता है। यहॉ चार्वाक मत का स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया गया है-

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः।

धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः।। षड्दर्शनसमुच्चय, चार्वाक मत

''अर्थात् लोकायतों का कहना है कि न देवों का अस्तित्व है और न निर्वृति अर्थात् स्वर्ग या अपवर्ग है। धर्म और अधर्म भी नहीं है और इसलिये उनके फल भी नहीं हैं। चार्वाक स्त्रियों से भी कहते हैं कि हे भद्रे! जितना तुम देखती हो या तुम्हारे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य है, उन्हें ही प्रामाणिक समझो। शास्त्र के आधार पर जो लोग स्वर्ग अपवर्ग , पाप पुण्य आदि का उपदेश देते हैं उसे तुम भयानक जंगली जानवर के पॉव के समान समझो-

एतावानेव लोकोयं यावानिन्द्रिगोचरः।

भद्रे! वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः।। षड्दर्शनसमुच्चय, चार्वाक मत

हे रमणी! खाओ, पीओ मौज करो जो बीत जाएगा वह तेरा नहीं होगा। गया समय फिर लौटता नहीं। जब तक यह शरीर वर्द्धिष्णु है फलतः युवावस्था युक्त है, तभी तक वास्तविक है। और पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चार भूत ही हम चार्वाकियों के मत में तत्व हैं। ये स्वयं चैतन्य के आश्रय हैं। चार्वाक का यह भी मानना है कि पृथिवी आदि भूतों का संघात होने पर देहादि संभव होता है। मद्य के अंग भूत भात आदि के सड़ने से मदशक्ति के समान भौतिक देहों में आत्मता होती है अर्थात् चैतन्य होता है। इसलिये दृष्ट ऐहिक फलों को छोड़कर जो लोग अदृष्ट पारलौकिक फलों के लिये प्रवृत होते हैं यह उनकी अत्यन्त विमूढता है, अर्थात् अज्ञान है ऐसा चार्वाकियों का मानना है। साधनीय देवपूजन आदि आचरण और निवृति अर्थात् त्याग से जो कुछ लोगों को प्रसन्नता होती है वह शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं अतः वह निरर्थक है''-

साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।

निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात्परा न हि।। षड्दर्शनसमुच्चय, चार्वाक मत (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 446-447)

5.4.2 रसेश्वर दर्शन में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति

यद्यपि रसेश्वर दर्शन को दार्शनिक प्रस्थान के रूप में सार्वभौमिक स्वीकृति नहीं है पुनरपि, सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने एक दर्शन प्रस्थान के रूप मं े इसे उद्धृत किया। समालोचकों की दृष्टि में माधवाचार्य ने वहाँ जिस रूप में इस विचारधारा का प्रवर्तन किया है वह किसी न किसी रूप में चार्वाकीय विचारधारा का ही विस्तार प्रतीत है।

सर्वदर्शनसंग्रह के रसेश्वर दर्शन विवेचन प्रसंग में कहा गया है कि ''छः दर्शनों के'' अन्दर मुक्ति की बातें कही गयी ह वह सत्य है किन्तु शरीरपात अर्थात् मरण के अनन्तर। इसलिये अन्य दर्शनीय मुक्ति हस्तगत आमलक के समान प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हो पाती। इसलिये रसायनात्मक रस अर्थात् शुद्ध पारद के द्वारा शरीर की रक्षा करनी चाहिए अर्थात शरीर को नित्य बना लेना चाहिए-

षड्दर्शनेपि क्तिस्तु दशितापिण्डपातने।

करोमलकवर्त्मतापि प्रत्यक्षानोपपद्यते।।

तस्मात्ति रक्षत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः।।3।।

वहाँ ''अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती'' इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसेश्वर दर्शन भी प्रत्यक्ष को उसी प्रकार प्रमाण मानता है जिस प्रकार चार्वाक दर्शन। शरीर को नित्य मान लेने पर भूतात्मवाद, फलतः भूत चैतन्य स्वतः प्राप्त हो जाता है और प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणता भी इस चिन्तन को स्वीकार है ही। ध्यातव्य है कि ये दोनों मौलिक सिद्धान्त ही चार्वाक के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार रसेश्वर दर्शन को जो परमेश्वर तादात्म्यवादी कहा गया है वह भी चार्वाक के महासमवायात्मक भूताद्वैत की तत्त्वता की मान्यता के साथ संगत हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1. वात्स्यायन के अनुसार नास्तिक का अर्थ है-

(क) आत्मा को नहीं मानने वाला (ख) ईश्वर को न मानने वाला

(ग) वेद की निन्दा करने वाला (घ)दृष्टान्त को नहीं मानने वाला

2. चार्वाक स्त्रियों को भी सम्बोधित करते प्रतीत होते हैं। यह उद्धरण हमे मिलता है-

(क) षड्दर्शनसमुच्चय में (ख) सर्वदर्शनसंग्रह में

(ग) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में (घ) सर्वमत संग्रह में

3. समालोचकों की दृष्टि में चार्वाकीय विचारधारा का विस्तार है-

(क) जैन दर्शन (ख) बौद्ध दर्शन

(ग) सर्वदर्शन (घ) रसेश्वर दर्शन

4. ''अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती'' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि

(क) चार्वाक प्रत्यक्ष को नहीं मानता है

(ख) बौद्ध दर्शन ही प्रत्यक्ष को मानता है

(ग) रसेश्वर दर्शन प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है

(घ) इनमें से काई नहीं।

5. रसेश्वर दर्शन के अनुसार शरीर को नित्य बनाने के लिये किस तत्त्व से शरीर की रक्षा करनी चाहिए?

5.5 सारांश

इससे पूर्व की इकाई में आपने चार्वाक दर्शन के मूल सिद्धान्तों को जाना। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक विचारधारा किसी एक काल में किसी आकस्मिक घटना के कारण विकसित नहीं हुआ बल्कि यह विचारधारा वैदिक काल से ही समानान्तर रूप में चली आ रही है। यही कारण है कि वेद से लेकर समकालीन सारे दर्शन चिन्तन में इसकी उपस्थिति देखी जाती है। वेद में तो साथ साथ यह शास्त्रार्थ चलती दिखाई देती हैं। यास्काचार्य विरचित निरुक्त में तो कौत्स के प्रश्नों में स्पष्टतया इसका प्रतिबिम्बन देखा जाता है। अस्तु, इन दर्शनों में कहीं तो इसकी उपस्थिति विस्तृत रूप में देखी जाती है कहीं आंशिक रूप में। यह उपस्थिति या तो चार्वाक दर्शन के समर्थन में है तो कहीं उन उन दर्शनों में अपने मत की स्थापना क्रम में विरोधी लक्ष्य बनकर विद्यमान है। इसलिये प्राप्त उद्धरणों के आधार पर वेद, उपनिषद्, वेदान्त, न्याय वैशेषिक, जैन आदि दार्शनिक विचारधाराओं में चार्वाक की उपस्थिति का अन्वेषण किया गया है।

इस पॉचवें इकाई के अध्ययन से चार्वाक के मतों को जानकर आप अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने में सक्षम हो पाएॅंगे साथ ही यह भी जान पाएॅंगे कि अन्य दार्शनिक विचारधाराओं की दृष्टि में चार्वाक की स्थिति क्या है?

5.6 शब्दावली

देहात्मवाद- जिस सिद्धान्त में देह अथ वा शरीर को आत्मा माना जाता है, उसे देहत्मवाद या शरीरात्मवाद कहा जाता है। ध्यातव्य है कि चार्वाक देह या शरीर को ही आत्मा मानते हैं।
भूतात्मवाद- देहात्मवाद या शरीरात्मवाद की तरह ही भूत अर्थात् प्राणी को आत्मा के रूप में मानना भूतात्मवाद है।
रसेश्वर- माधवाचार्य विरचित सर्वदर्शनसंग्रह में नवम दर्शन के रूप में रसेश्वर को एक दर्शन माना है। इसे आयुर्वेद दर्शन भी कहा जाता है। इस में पारद अथ वा रस से जीवन्मुक्ति की बात कही जाती है। इसकी गणना माहेश्वर के चार सम्प्रदायों में की जाती है।
अध्यास- यह एक प्रकार का भ्रम है। अवास्तविक तत्त्व के ऊपर वास्तविक तत्त्व का आरोपण

अध्यास है। यथा- सीपी के ऊपर रजत का आरोपण। यह अद्वैत वेदान्त के द्वारा प्रवर्तित एक चिन्तन है जिसके आधार पर वह ब्रह्म के अद्वैतत्व की स्थापना करते हैं।

अग्निहोत्र- वैदिक परम्परा में गृहस्थाश्रम में अनुष्ठीयमान एक विशिष्ट यज्ञ है। चार्वाक ने वैदिक कर्मकाण्ड पर वाचिक प्रहार के क्रम में अग्निहोत्र करने वाले को बुद्धि तथा पुरुषार्थ से रहित कहा है।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.3 1. ख, 2. ग, 3. क, 4. घ, 5. ख

5.4 1. घ, 2. क, 3.घ, 4. ग, 5. शुद्ध पारद

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
6. सर्वानन्द पाठक, चार्वाक षष्टि, नवनालन्दा विहार रिसर्च पब्लिकेशन्स

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) प्रारम्भिक दार्शनिक विचारधारा में चार्वाक दर्शन की आंशिक उपस्थिति को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति पर एक निबन्ध लिखें।

(ग) नास्तिक विचारधारा में किस प्रकार चार्वाक के मत को ढूंढा जा सकता है? सोदाहरण समझाएं।

(घ) रसेश्वर दर्शन के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए चार्वाक दर्शन के साथ उसके साम्य को स्पष्ट करें।

(ड) अन्य भारतीय दर्शन के विशिष्ट सन्दर्भ में चार्वाक के स्थान का निर्धारण करें।

इकाई 6 - चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक व सांसारिक जीवन से सम्बन्ध

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3. चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा
6.3.1 भूमिका
6.3.2 चार्वाक दर्शन की मोक्षविषयक अवधारणा
6.3.3 चार्वाक दर्शन की धर्मविषयक अवधारणा
6.3.4 चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा
6.4 चार्वाक दर्शन के व्यावहारिक सिद्धान्त
6.4.1 रूढ़ि का विरोध
6.4.2 सुुख का अन्वेषण
6.4.3 भोगार्थ ऋण की कामना
6.4.4 तनावमुक्ति के प्रयास
6.5 सारांश
6.6 शब्दावली
6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध यह तीसरी तथा इस समग्र ब्लॉक की यह छठी इकाई है। इससे पूर्व के पाठ में आपने चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का सविस्तर ज्ञान प्राप्त किया। उसे जानकर आप निस्सन्देह चार्वाक की ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा को भली भॉंति समझ लिया होगा। आपने यह भी जाना होगा कि अपनी मान्यता की स्थापना के लिये वे किसी भी शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते, परम्परा एवं शास्त्र के विरुद्ध जा सकते है। साथ ही, अपने तर्क को ही प्रधान मानते हैं।

अस्तु, उक्त परिचर्चा से सर्वथा भिन्न इस इकाई में हम चार्वाक दर्शन की बहुचर्चित विचारधारा का न केवल सांसारिक जीवन से सम्बन्ध के विषय में जानेंगे प्रत्युत व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध तथा इसकी उपादेयता के विषय में भी जानने का प्रयास करेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- बता सकेंगे कि आज चार्वाक दर्शन क्यों प्रासंगिक है।
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन रूढ़ियों का विरोध करता है, सुख को ही एकमात्र प्राप्तव्य समझता है तथा काम के प्रति समर्पित है।
- पुरुषार्थ के विषय में किस प्रकार अन्य दार्शनिक विचारधारा से भिन्न विचार रखता है।
- एतदर्थ सर्वप्रथम हमें चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा अथ वा नीतिमीमांसा समझनी पड़ेगी। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व के पाठ में आचारमीमांसाविषयक पाठ प्रस्तावित था, पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये जिसका विवेचन वहॉं नहीं किया गया। आपलोगों के बोधार्थ उसकी परिचर्चा यहीं की जा रही है-

6.3. चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा

6.3.1 भूमिका

चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा की परिणति है। इसमें मानव का स्वरूप और पुरुषार्थ का स्वरूप पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। भारतीय विचारधारा में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। धर्म मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। अर्थ एवं काम धर्म से नियन्त्रित होता है। चूँकि चार्वाक तत्त्वमीमांसा में मनुष्य का आध्यात्मिक स्वरूप भौतिक बन जाता है, अतः उसके प्राप्तव्य अभीष्ट की प्राथमिकता भी बदल जाती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष गौण हो जाता है, धर्म लक्ष्यविहीन हो जाता है,

काम परम पुरुषार्थ बन जाता है और अर्थ उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन। यहाँ उक्त चारों पुरुषार्थों की चार्वाकीय विवेचना प्रस्तुत की जा रही है-

6.3.2 चार्वाक दर्शन की मोक्षविषयक अवधारणा-

भारतीय विचारधारा में मोक्ष दुःखों के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है, यही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है।वहाँ इसी को परम पुरुषार्थ कहा गया है। कुछ विचारकों के अनुसार मोक्ष इसी जीवन में प्राप्तव्य है तो कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त इसकी उपलब्धि होती है। बौद्ध दर्शन का निर्वाण, सांख्य एवं योग दर्शन का कैवल्य, जैन, न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त विचारधाराओं का मोक्ष मानव जीवन का परम लक्ष्य है। मीमांसक विचारक स्वर्ग को, जो पूर्ण आनन्द की अवस्था है, मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं।

चार्वाक के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है- मरणमेव अपवर्गः अथ वा मरणमेव मोक्षः। सर्वदर्शनसंग्रह में मोक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- देहच्छेदो मोक्षः। अर्थात् देह या आत्मा का विनाश ही मोक्ष है। यदि मोक्ष से तात्पर्य आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना है तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवित शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा का कोई स्वरूप ही नहीं है। यदि मोक्ष का अर्थ जीवन काल में ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है तो यह असम्भव है, क्योंकि शरीर-धारण और सुख-दुःख में अवियोज्य सम्बन्ध है। चार्वाक के अनुसार सुख की कामना तथा मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की अवधारणा निराधार है, क्योंकि यह परलोक की अवधारणा पर आधारित है और परलोक के लिए कोई प्रमाण नहीं है। अतः मोक्ष की धारणा न केवल भ्रमजन्य है बल्कि तर्कविरुद्ध भी है।

6.3.3 चार्वाक दर्शन की धर्मविषयक अवधारणा –

भारतीय विचारधारा में धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों का प्रणयन ही धर्म की स्थापना के लिये किया गया है। इसे ही जगत् की प्रतिष्ठा कहा गया है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) में इसका मूर्धन्य स्थान है। धर्म का प्रमाण वेद है। किन्तु चार्वाक दर्शन के अनुसार धर्म मूर्खतापूर्ण मतिभ्रम एवं एक प्रकार का मानसिक रोग है न ईश्वर का अस्तित्व है एवं न नित्य आत्मा का। धार्मिक अन्धविश्वासों एवं पक्षपातों के कारण मनुष्य को परलोक, ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि की कल्पना करने की आदत बन जाती है।

चार्वाक वेदों की घोर निन्दा करता है। उनके अनुसार वेद अविश्वसनीय हैं, क्योंकि वे असत्यता, असंगति एवं पुनरुक्ति के दोषों से भरे पड़े हैं। वेद के रचयिता तीन है- भाण्ड, धूर्त और निशाचर। अग्निहोत्र, तीनों वेद, तपस्वी के त्रिदण्ड और शरीर में भस्म लगाना- ये सब उन लोगों की जीविका के साधन हैं जो ज्ञानशून्य एवं पुंस्त्वविहीन हैं। वेदों में प्राप्त धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, यज्ञ, आत्मा, ईश्वर, परलोक, पुनर्जनम आदि अतीन्द्रिय विषयों की कल्पनाएँ जनसाधारण को धोखा देने के लिए हैं।

चार्वाक वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ, यागादि का भी घोर विरोध करते हैं। वे वैदिक कर्मकाण्डों का उपहास करते हैं। उनके अनुसार स्वर्ग पाने के लिए, नरक से बचने के लिए तथा प्रेतात्माओं को तृप्त करने के लिए वैदिक कर्मकाण्ड निरर्थक हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है तो व्यक्ति पशुओं के बजाय अपने माँ-बाप की बलि क्यों नहीं कर देते जिससे वे स्वर्ग जा सकें। वैदिक श्राद्ध-कर्म पर व्यंग्य करते हुए चार्वाक कहते हैं कि यदि श्राद्ध में अर्पित किया हुआ पदार्थ प्रेतात्मा की भूख मिटा सकता है तो पथिक भोजन-सामग्री लेकर यात्रा पर क्यों निकलता है? उसके कुटुम्बजनों को घर से ही उसकी भूख मिटाने के लिए भोज्य पदार्थ अर्पित कर देना चाहिए। तद्यथा-

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।

निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम्।। सर्व0 15

6.3.4 चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा –

चार्वाक चारों पुरुषार्थों में काम को परम पुरुषार्थ मानता है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जो कर्म काम की पूर्ति करे या सुख प्रदान करे वही उचित है। उनके अनुसार व्यक्ति द्वारा इन्द्रिय सुखों का उपयोग ही जीवन का लक्ष्य है। उसका आदर्श है, जब तक जीवित रहें सुख से रहें, उधार लेकर घी पियें क्योंकि देह के भस्म हो जाने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

चार्वाक दर्शन के अनुसार पारलौकिक और आध्यात्मिक सुख की आशा में ऐहिक सुख का परित्याग करना पागलपन है। उनकी यह भी मान्यता है कि दुःख के भय से सुख का त्याग करना मूर्खता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति भिक्षुकों द्वारा माँगे जाने के भय से भोजन पकाना नहीं छोड़ता, अथवा पशुओं द्वारा नष्ट किये जाने के भय से खेती करना नहीं छोड़ता उसी प्रकार दुःख के भय से सुख का परित्याग नहीं करना चाहिए। फिर, यदि सुख और दुःख परस्पर मिले हों तो सुख का ग्रहण और दुःख का परित्याग वैसे ही उचित है जैसे भूसे और गेहूँ मिले रहते हैं, किन्तु गेहूँ ले लिया जाता है और भूसा पशुओं के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन केवल और केवल सुख का चिन्तन करता हुआ प्रतीत होता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि चार्वाक दर्शन की इन मान्यताओं ने मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचारों तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों से बिलकुल हटाकर विषयभोग की दुनियाँ में केन्द्रित कर दिया। उसने विश्व को नियन्त्रित करने वाले

ईश्वर तथा मनुष्य को सन्मार्ग पर लाने वाली अन्तर्दृष्टि का तो निषेध किया ही, परलोक, लोकोत्तर जीवन तथा पुनर्जन्म को भी अस्वीकार करके कर्मवाद के सिद्धान्त का भी तिरस्कार किया। चार्वाक दर्शन सुख की प्राप्ति के लिए इतना अधीर हो उठता है कि वह दुःख से बचने की भी कोशिश नहीं करता। फलस्वरूप उसने दर्शनशास्त्र को जीवन की साधना के स्तर से भी च्युत कर दिया। इस क्रम इसे इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि चार्वक ने किसी दर्शन या विचार का प्रवर्तन नहीं किया बल्कि उस काल में व्याप्त सामाजिक व्यवस्था का लोगों की मानसिकता के अनुरूप् विरोध किया।

वस्तुतः उक्त विवेचन से ही हम इस दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक जीवन से सम्बन्ध की स्थापना कर सकते हैं। यह चिन्तन एक ऐसा विचार है जो लोगों को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। लोगों की रुचि के अनुकूल है। इस सन्दर्भ में, व्यावहारिक व सांसारिक जीवन के वर्तमान स्वरूप को समझना परमावश्यक है। इसके सवरूप को मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के सन्दर्भ में नहीं समझा जाना चाहिए।

वर्तमान व्यवहार, व्यवस्था व संसार के स्वरूप की व्याख्या कर पाना सर्वथा दुष्कर है। इसका स्वरूप प्रतिक्षण बदलता रहता है इसलिये यह कह पाना कि यह ऐसा है यह वैसा है सर्वथा आपेक्षिक है। पुनरपि प्रतिदिन के प्रतिक्षण बदलते स्वरूप को ध्यान में रखकर एक सर्वस्वीकृत स्वरूप अवश्य ही निर्धारित किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

(1) चार्वाक के अनुसार मोक्ष है-

(क) पुनर्जन्म (ख) स्वर्ग (ग) मृत्यु (घ) कर्मबन्धन

(2) वेदों में प्राप्त धर्म, अधर्म आदि विषयों की कल्पनाएँ जनसाधारण के लिए ------ है।

(3) चार्वाक दर्शन का आदर्श वाक्य क्या है?

(4) चार्वाक दर्शन ने आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों को केन्द्रित कर दिया-

(क) उच्चतर मूल्यों में (ख) विषयोपभोग में

(ग) परमात्मा की प्राप्ति में (घ) कर्मकाण्ड में

(5) चार्वाक मे कर्मवाद सिद्धान्त का-

(क) समर्थन किया (क) प्रचार किया

(ग) अपमान किया (घ) सिद्धान्त दिया

6.4 चार्वाक दर्शन के व्यावहारिक सिद्धान्त

6.4.1 रूढ़ि का विरोध -

यहॉं रूढ़ि से तात्पर्य समकालीन समाज में व्याप्त किसी ऐसी पारम्परिक भ्रान्त धारणा से है जिसका सम्बन्ध तर्क या विश्वास पर आधारित किसी मान्यता से न होकर उस समाज में प्रवर्तित अन्धविश्वास पर आधारित किसी अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात व अतिमायिक मान्यता से है। यथा- यात्रा पर निकलते समय बिल्ली के द्वारा रास्ता काटने पर अशुभ व अनिष्ट की संभावना कर बैठना। या पुरुष की बाईं ऑंख के फड़कने से अनिष्ट तथा दाईं ऑंख के फड़कने से अभीष्ट की प्राप्ति होना।

इससे पूर्व के पाठों में सम्यक्तया यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि चार्वाक लगभग सभी रूढ़ियों का उपहास उड़ाते हैं। सविशेष वेद एवं वैदिक आचार उनके कठोर प्रहार के विशिष्ट लक्ष्य रहे। वेद पर प्रहार का अर्थ इस प्रसंग में उस में निहित कट्टर कर्मकाण्ड की भर्त्स्ना किया जाता रहा है। आज भी यह विवाद का ही विषय है कि क्या उस तथाकथित कर्मकाण्ड से स्वर्गादि की प्राप्ति संभव है? आज भी हमारे समाज मे यज्ञ, त्रिदण्ड भस्म इत्यादि के सहारे जीविकोपार्जन करने वाले की कमी नहीं। इसी व्यवस्था के विरोध में कालान्तर में कबीरदास ने अपना स्वर मुखरित किया था कि

पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।

ता ते चकिया भली कूट खाए संसार।।

मृत्यु के उपरान्त सम्पादित किये जाने वाले श्राद्धादि के विशिष्ट सन्दर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि श्राद्धकर्म में मरे हुए के लिये पिण्डदान रूप भोजन क्यों दिया जाता है। यदि पिण्डदान से मृतात्मा सन्तृप्त होता होगा तो यात्रा पर जाने वाले यात्री अपने साथ क्यों भोजन ले जाते हैं? क्यों नहीं घर बैठे उनके स्वजन श्राद्धप्रक्रिया के द्वारा उन्हें भोजन पहुंचा देते हैं?

भले ही चार्वाककालीन समाज में यह कथन वेद विरुद्ध रहा हो किन्तु आज यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उक्त समस्त क्रिया, प्रक्रिया व प्रतिक्रिया विलुप्तप्राय हो रही हैं। कहीं तीन दिनों में ही मृतात्मा के उक्त समस्त संस्कार कर दिये जाते हैं तो कहीं उसी दिन उस कार्य को सम्पन्न कर शोकाकुल परिवार निश्चिन्त से हो जाते हैं। हॉं, आज भी मिथिला, वाराणसी आदि प्रदेशों के कट्टर पण्डित समवाय में इसकी बीभीषिका देखी जाती है जहॉं श्राद्ध के नाम पर लाखों रूपये का अपव्यय होता है।

किसी भी समाज के पिछड़ेपन के कई कारणों में से एक कारण उसका रूढ़िग्रस्त होना है। रूढ़ि समाज की मानसिक दासता है जो प्रगतिवादी चिन्तन के मार्ग को सदैव अवरुद्ध करता है।

अकर्मण्यता व निष्कर्मण्यता को इसी से बढ़ावा मिलता है। रूढ़ि का कोई कार्य कारण परिणाम नहीं होता। ऐसी स्थिति में, चार्वाक के द्वारा प्रवर्तित यह क्रान्ति वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक व्यवस्था के लिये सर्वथा उपादेय है। इसका यह अर्थ नहीं कि रूढ़ि सर्वथा त्याज्य है या वेदादि का विरोध करना ही आधुनिक संसार का सृजन करता है बल्कि इसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि समाज किसी ऐसी एकनिष्ठ विचारधारा का अनुवर्तक न रहे जो प्रगति व विकास के मार्ग में बाधक बने प्रत्युत विचारों की स्वतन्त्रता ऐसी प्रगति व विकास में साधक बने।

6.4.2 सुख का अन्वेषण-

अन्य सांसारिक वस्तुओं की इच्छा जिसकी इच्छा होने के कारण होती है वह भावात्मक वस्तु है सुख - इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखस्य लक्षणम् (तर्कसंग्रह न्या0 बोधिनी)। इस धरा पर रहने वाला प्रत्येक मानव सुख के अन्वेषणमात्र में रहता है। उपनिषद् स्पष्टतया सुखप्राप्ति की बात करती है। वहॉ भले ही आत्यन्तिक अथ वा पारमार्थिक सुख की बात कही जा रही हो किन्तु मूल में एक ऐसे अभीष्ट की अभिलाषा संचित है जो जन्म जन्मान्तर के दुःखों का निषेध करती है। दुःख का निषेध व सुख की प्राप्ति का चिन्तन प्रायः समस्त भारतीय दर्शन चिन्तन में विद्यमान है। चार्वाक भी सुख की अवधारणा प्रस्तुत करता है।

चार्वाक दर्शन सुख की व्याख्या सर्वथा नूतन पद्धति से करता है। वे दुःख, कष्ट, पीड़ा आदि को इसी जीवन में प्राप्तव्य मानते हैं। चूंकि स्वर्ग, पुनर्जन्म आदि को वे नहीं मानते इसलिये समस्त भोक्तव्य, अभोक्तव्य आदि को इसी जन्म की अनिवार्यता मानते हैं। अतः सुख को ही परम लक्ष्य मानते हुए वे उसी को एकमात्र प्राप्तव्य मानते कहते हैं।

चार्वाक के अनुसार मानवमात्र का आदर्श सुख है। सुख इच्छित वस्तु की प्राप्ति है। इस सुख की प्राप्ति काम से होती है। काम मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः सुख प्राप्ति के लिये कामतृप्ति आवश्यक है। कामतृप्ति तथा सुख प्राप्ति वस्तुतः एक ही है। खाओ, पीओ तथा मौज करो यही मानव की ऐषणा है। इसलिये चार्वाक इसे अपनाने की प्रेरणा देता है। तदनुसार यही मनुष्य का आदर्श होना चाहिए। इस क्रम में चार्वाक किसी मर्यादा अथ वा नैतिकता की रेखा नहीं खींचता। सर्वदर्शनसंग्रह में इस सुख को ही पुरुषार्थ कहा गया है- अंगनाद्यालिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। अर्थात् स्त्री के आलिंगन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है।

एतदर्थ शास्त्रीय चिन्तन, धार्मिक अनुष्ठान, आध्यात्मिक निष्ठा आदि को वे आडम्बर मात्र कहते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में प्रवर्तित इन्द्रियसुख को यद्यपि वे स्वीकार करते हैं पुनरपि परस्परापघातकं त्रिवर्गं सेवेत के कथ्य का वे अनुसरण नहीं करते। इनत तथ्यों को वे केवल मन के राज्य की कल्पना कहते है। ध्यातव्य है कि यद्यपि यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् की अवधारणा समस्त बन्धन को तोड़ने वाली होती है तथापि उसकी मौलिक अवधारणा को सामान्य तर्कमात्र से निराकृत नहीं किया जा

सकता। आधुनिक समस्त संसार इसी सुखवाद के प्रति उन्मुख है। भले ही, इस उच्छृंखल सुखवाद का प्रत्यक्षतः अहित दिखता हो किन्तु अप्रत्यक्षतः किसी भी विचारधारा में इसका विरोध नहीं देखा जाता। प्रायः सारे समकालीन अथ वा आस्तिक विचारधारा में असत्य भाषण का विरोध है, लेकिन व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की दृष्टि से केवल इसका ही अनुपालन मात्र दिखता है। सुरापान, सुन्दरीसमागम आदि को महापाप की संज्ञा दिये जाने पर भी मनुष्य इस में लीन दिखते हैं, इन्हें त्याज्य नहीं मानते।

तात्पर्य यह है कि एक विचारधारा नैतिकता की लम्बी चौड़ी परिभाषा व उदाहरण प्रस्तुत करके भी उसके अनुपालन में असमर्थ है दूसरी ओर चार्वाक कटुसत्य ही सही किन्तु उसके अनुपालन की शिक्षा दे रहा है तो नैतिकता का उल्लंघन कहना लांछना मात्र प्रतीत होता है। वस्तुतः समाज की नैतिकता किसी सिद्धान्त से निर्धारित नहीं की जा सकती। मनुष्य आवश्यकतानुरूप अपनी यथासंभव नैतिकता का निर्धारण करता है। इस दृष्टि से, निस्सन्देह चार्वाक दर्शन के सुख का अन्वेषण आधुनिक व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की सुन्दरतम व्याख्या करता प्रतीत होता है। ऐसी व्यवस्था से बचना व बचाना कठोर आत्मनिग्रह ही होगा।

6.4.3 भोगार्थ ऋण की कामना-

इससे पूर्व रूढ़ि एवं सुख की अवधारणा के विषय में आपने पढ़ा। इससे एक बात स्पष्ट हुई कि चार्वाक का सुख उच्छृंखल है। वह इसकी प्राप्ति के लिये किसी भी सीमा तक जा सकता है। यद्यपि किसी भी सीमा- इस प्रकार का कथन अनिर्वचनीय होता है पुनरपि प्राप्त उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध पद्य का एक चरण सुख की प्राप्ति के लिये ऋणग्रहण तक करने का परामर्श दे देता है। यहाँ ऋण का अर्थ है अपनी उपयोगिता की सिद्धि के लिये किसी पर से आवश्यकतानुरूप वस्तु ग्रहण करना। ध्यातव्य है कि सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित चार्वाक दर्शन की प्रस्तावना में उद्धृत कारिका में उक्त चरण प्राप्त नहीं होता। तदनुसार-

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योयगोचरः।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

पुनरपि पूर्ववर्णित चरण को ही आधार मानकर यहाँ विवेचन किया जा रहा है। स्पष्टतः इस विचारधारा की मान्यता है कि सुख प्राप्त्यर्थ अवश्य ही ऋणादि ग्रहण कर लेना चाहिए। यद्यपि ऋणादि ग्रहण में की महती समस्या उसे पुनः लौटाने की होती है किन्तु इससे डरना नहीं चाहिए क्योंकि मृत्यु के उपरान्त मृत व्यक्ति से ऋण माँगेगा कौन? यहाँ ऋण का अर्थ है सुखोपभोगार्थ सर्वविध सुविधा का अनियन्त्रित उपभोग। कालान्तर में यह परम लक्ष्य सिद्ध हुआ।

यदि आधुनिक सन्दर्भ में इसका विश्लेषण किया जाय तो भारतीय चिन्तन धरा में आज से 2500 वर्ष

पूर्व बोया गया व्यावहारिक बीज समस्त आर्थिक व्यवस्था का आधार बन चुका है। सारी बैंकिंग प्रणाली इसी ऋण सिद्धान्त पर आधारित है। उपभोक्ता बैंक से ऋण ग्रहण करता है। घर, गाड़ी, टी वी आदि आधुनिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करता रहता है। इस बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत भी मृत्यु के उपरान्त ऋण वापस करने के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट छूट की व्यवस्था रहती है।

ध्यातव्य है कि उक्त प्रणाली का प्रारम्भ न तो चार्वाक दर्शन के सांगोपांग अध्ययन के उपरान्त प्रारम्भ किया गया न ही चार्वाक ने उक्त प्रणाली के लिये अपने इस सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था। यह एक संयोग मात्र है कि चार्वाक के द्वारा प्रारम्भ की गयी यह अवधारणा आज भी सर्वथा प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है। प्रत्यक्षतः भले ही इस विचारधारा पर कठोर प्रहार किया जाता रहा हो, परोक्षतः आज भी इसका अनुपालन होता दिख रहा है।

6.4.4 तनावमुक्ति के प्रयास -

समाज में हर गति व मति वाले लोग रहते हैं जो किसी न किसी रूप में किसी न किसी क्षण विविध समस्याओं से ग्रस्त रहते हैं। आस्तिक विचारधारा के दार्शनिको का यह मानना है कि ये समस्याएं तीन प्रकार की होती हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इन समस्याओं का साक्षात्कार हमें करना ही पड़ता है। इन समस्याओं, दुःखों अथ वा कष्टों के कारण होते हैं। कदाचित् वे कारण होते हैं एषणाओं की प्राप्ति न होना। यही तनाव का मूल कारण भी होता है। हम जब तक वर्जनाओं में बँधे होते हैं तब तक इस मनोवैज्ञानिक कष्टों को प्राप्त होते रहते हैं।

चार्वाक ने इसके लिये स्वतन्त्रता से जीने का एक मन्त्र दिया। एक ऐसे निःसंकोच जगत् का स्वरूप प्रदान किया जहॉं किसी मर्यादा के अधीन नहीं रहना पड़ता। सुख की प्राप्ति के लिये कुछ भी किया जाना, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि का पूर्णतया निषेध करना, पाप पुण्य की अवधारणा को न मानना आदि उक्त वर्जनाओं से छुटकारा का प्रयासमात्र है। भले ही आधुनिक स्थिति परिस्थिति में यह हमें उचित प्रतीत होता हो किन्तु इसे ही परम सत्य नहीं माना जाना चाहिए।

इस समस्त सन्दर्भ में चार्वाक चिन्तन को विशुद्ध बुद्धिवादी व तर्क की धरा पर खड़ा चिन्तन समझा जाना चाहिए। बुद्धि का ऐसा सूक्ष्म प्रयोग चार्वाकवादी धारणा को एक नये ही रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु सत्य के सम्बन्ध में एक विरल संकेत मात्र है जो हमें प्राप्त होता है। समान्यतया तो इस दर्शन चिन्तन का हमें विरूप चित्रण ही प्राप्त होता है।

दूसरी ओर चार्वाक युगों तक उपहास के पात्र बने रहे हैं। उन पर संभव असंभव, प्रत्येक प्रकार के दोषारोपण किये जाते रहे। परम्परा के विरुद्ध विचारधारा को मोड़ने का आक्षेप उन पर लगाया गया। किसी ने उसे नास्तिक शिरोमणि कहा तो किसी ने धूर्त शिरोमणि कह कर उपहास उड़ाया। एक

दार्शनिक ने तो उन्हें पशुओं से भी अधिक पाशविक कहा है। उनके लिखित ग्रन्थों के भी जलाये जाने की अपुष्ट बातें की जाती रही। यहाँ तक कि इस विचारधारा को आगे पनपने नहीं दिया गया।

किन्तु आज हमारे लिये वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इस प्राचीन भारतीय भौतिकवादी दर्शन के मूल ग्रन्थों के अभाव में इसके अवदान का मूल्यांकन हमें बिना किसी पूर्वाग्रह के उपलब्ध सामग्री के गहन परीक्षण के द्वारा करना चाहिए। चार्वाक दर्शन को जिस विकृत रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है उससे हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

1. रुढ़ि का अर्थ है-

(क) शास्त्र समर्थित सिद्धान्त (ख) तर्क पर आधारित सिद्धान्त

(ग) अन्धविश्वास पर आधारित सिद्धान्त (क) इनमें से कोई नहीं

2. चार्वाक की दृष्टि में सुख है-

(क) ईश्वर की प्राप्ति (ख) स्त्री सुख

(ग) मृत्यु (घ) पापमुक्त होना

3. वात्स्यायन के द्वारा प्रवर्तित इन्द्रियसुख का लक्षण क्या है?

4. चार्वाक के ऋणसिद्धान्त का ही अपरूप कहा जाना चाहिए-

(क) चौर्य सिद्धान्त को (ख) अदृश्य होने की कला को

(क) धन संचय को (घ) बैंक से ऋण ग्रहण करने को

5. क्या चार्वाक दर्शन किसी न किसी रूप में तनाव से छुटकारा दिलवाने का प्रयास करता है?

6.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक एवं उनके अनुयायियों ने वैदिक काल से चली आ रही समस्त रूढ़ियों का विरोध किया। ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग आदि का विरोध कर उन्होंने चिन्तन की धारा को एक नयी दिशा दी। सुख एवं काम को सर्वाधिक महत्त्व देकर चार्वाक ने समकालीन आवश्यकता को पहचाना। किसी भी अदृष्ट को फल का नियामक न समझकर उन्होंने मानव को सदा के लिये चिन्ता विमुक्त करने का प्रयास किया। एक तरह से समाज में व्याप्त समस्त

वर्जनाओं को इन्होंने वर्जित करने का प्रयास किया। कदाचित् यही इसकी प्रासंगिकता भी है। इसके साथ ही यह भी आपको समझ लेना चाहिए कि यह सिद्धान्त सनातन नहीं बन पाया तथा यथाकाल अन्य दार्शनिक विचारों का विरोध इन्हें सहते रहना पड़ा।

इस इकाई के अध्ययन से आप चार्वाक के मतों को जानकर सहज ही जान पाएॅंगे कि चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक जीवन से कैसे सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं।

6.6 शब्दावली

आपकी सुविधा के लिये यहॉं इस पाठ में प्रयुक्त में जटिल व दुरुह शब्दों का सरलीकृत रूप दिया जा रहा है। आशा इनके माध्यम से भाषा व सिद्धान्तगत जटिलता को अत्यन्त सरलता से समझ पाएंगे। तद्यथा-

ज्ञानमीमांसा- चिन्तन की एक प्रक्रिया जिसमें सत्ता को ज्ञान अथ वा प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जाता है ज्ञानमीमांसा कहलाती है।

तत्त्वमीमांसा- दर्शन चिन्तन की प्रक्रिया जिसमें समस्त सृष्टि प्रक्रिया को समझने व समझाने का प्रयास किया जाता है। ज्ञानमीमांसा की तरह यह भी दाश्रनिक विचारधारा का अनिवार्य अंग है।

पुरुषार्थ- भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में मानवमात्र के परम लक्ष्य को पुरुषार्थ कहा जाता है। पुरुषार्थ चार हैं- धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष।

निर्वाण- इसका अर्थ है दिये का बुझ जाना। यह बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह एक प्रकार से आत्यन्तिक दुःख का विनाश होना।

कैवल्य- सांख्य एवं योग योग दर्शन में मोक्ष के लिये कैवल्य शब्द का प्रयोग होता है। कैवल्य का अर्थ है अकेला हो जाना या सरल भाषा में अपनी सारी दुकान समेट लेना। निर्वाण की तरह कैवल्य भी मोक्ष का ही पर्याय है।

अपवर्ग- संस्कृत व्याकरण में इसका अर्थ है कार्यसिद्धि। किन्तु न्याय एवं वैशेषिक में मोक्ष के लिये अपवर्ग का प्रयोग किया जाता है जहॉं इसका अर्थ है दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाना।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.3 1. ग, 2. धोखा,

3. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

4. ख 5. ग

6.4 1. ग, 2. ख, 3. परस्परापघातकं त्रिवर्गं सेवेत।

4. घ, 5. हॉ

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा पर एक निबन्ध लिखें।

(ग) चार्वाक विचारधारा किस प्रकार रूढ़ियों का विरोध करता प्रतीत होता है?

(घ) वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की दृष्टि से चार्वाक दर्शन की उपादेयता पर प्रकाश डालें।

खण्ड 5- न्याय दर्शन

इकाई 1 न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 न्याय दर्शन परिचय
1.3.1 वैचारिक पृष्ठभूमि
1.3.2 भारतीय तर्क परम्परा व पद्धति
1.3.3 न्याय ग्रन्थों का विकासानुक्रम
1.4 न्याय दर्शन का इतिहास
1.4.1 सृष्टि विवेचन और न्याय
1.4.2 कार्यकारणवाद और न्याय
1.4.3 न्याय दर्शन का पदार्थ विचार
1.4.4 न्याय के षोडष पदार्थ
1.4.5 न्याय दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.8 निबन्धात्मक प्रश्न
1.9 संदर्भ ग्रन्थ

1.1प्रस्तावना

आप जानते हैं कि भारतीय दर्शन के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय आते हैंः 1. आस्तिक सम्प्रदाय 2. नास्तिक सम्प्रदाय। आस्तिक दर्शन उसे कहा गया है जो वेदों में विश्वास करता हो। इसके विपरीत नास्तिक दर्शन वेदों में विश्वास न रखने वाले दर्शनों को कहा जाता है। इस विभाजन के आधार पर सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, न्याय और वैशेषिक को आस्तिक दर्शन कहा गया है, तथा जैन, बौद्ध और लोकायत नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत माने गए हैं।

आस्तिक माने जाने वाले भारतीय दर्शनों में भी न्याय दर्शन अपनी विश्लेषणात्मक विशिष्टताओं के लिए जाना जाता है, यहां काल्पनिक अवधारणाएं नहीं, अपितु तार्किक जांच और आलोचनात्मक विधि हमारा स्वागत करते हैं, लेकिन विश्लेषण की इस खरी जमीन पर आगे बढ़ने के पहले उसकी ‘सूक्ष्म, दुर्गम और पारिभाषिक‘ विवेचन पद्धति को आत्मसात करने की श्रमसाध्य प्रक्रिया से भी गुजरना पड़ता है।

‘न्याय दर्शन का इतिहास‘ न्याय दर्शन के आपके अध्ययन क्रम की पहली इकाई है। किसी दर्शन के इतिहास से आप को पता चलता है कि किस वैचारिक भूमि में वह दर्शन पल्लवित और पुष्पित हुआ है, और चिन्तन-मनन की किस परम्परा को उसने अपनी विशिष्टता के बतौर अंगीकार करके समुन्नत किया है। इसलिए न्याय के इतिहास की इस इकाई में भी आप इस दर्शन के उद्भव और विकास की क्या वैचारिक पृष्ठभूमि थी, इसकी मुख्य विषय वस्तु क्या थी, कौन से दार्शनिक तत्व इसको विशिष्ट बनाते हैं और और अन्य भारतीय दर्शनों के प्रति इसका क्या दृष्टिकोण था, इत्यादि प्रश्नों का प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

1.2उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास के अध्ययनोपरान्त आप विषय के निम्न बिन्दुओं से अवगत हो सकेंगेः

1. न्याय भारतीय दर्शन की किस परम्परा का वाहक है और भारतीय दार्शनिक इतिहास में उसका क्या महत्व है?
2. न्याय दर्शन का प्रारम्भिक परिचय हासिल कर लेंगे।
3. न्याय का उद्भव किस वैचारिक पृष्ठभूमि में हुआ, इसका विश्लेषण कर सकेंगे।
4. न्याय दर्शन का विकासानुक्रम क्या था, और उसके मुख्य तत्व क्या हैं, बता सकेंगे।
5. इसके मुख्य प्रवर्तकों और ग्रन्थों से परिचित हो जाएंगे।

1.3 न्याय दर्शन परिचय

वैचारिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शन का इतिहास अति प्राचीन है और प्रचुर दर्शन सामग्री की उपलब्धता उसकी विशेषता है, जिसे देखने से भारतीय समाज की लगभग ढाई हजार वर्षों की गहन दार्शनिक गतिविधियों का परिचय मिलता है। यह तो सर्वविदित है कि हमारे उपनिषदों की विषयवस्तु दार्शनिक चिन्तन-मनन पर केन्द्रित है, जिसके कारण औपनिषदिक युग को दार्शनिक गतिविधियों के प्रारम्भ का युग माना जाता है। इनका सटीक काल निर्धारण कर पाना तो मुश्किल है, फिर भी ईसापूर्व सातवीं शताब्दी को ही आम तौर पर उनका काल माना जाता है। उपनिषदों की परिपक्व दार्शनिक विषयेवस्तु को देखते हुए यह कहना गलत न होगा कि उनके प्रौढ़ होने के पहले भी चिन्तन-मनन की लम्बी प्रक्रिया भारत में रही होगी, भले ही आज हमारे लिए उसकी कोई स्पष्ट ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करना संभव न हो।

इस तरह यह तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक और पूर्वऔपनिषदिक काल से लेकर सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में नव्य न्याय का प्रतिनिधित्व करने वाले गदाधर और उनके टीकाकारों के उदय काल तक, भारतीय दर्शन ने एक गौरवपूर्ण यात्रा तय की है। इस कालावधि में दर्शन शास्त्र पर अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सामर्ने आइं, अनेक दार्शनिक चर्चाओं का सूत्रपात हुआ, और अत्यन्त कुशलता के साथ उनका विवेचन किया गया था। न्याय दर्शन इस समृद्ध परम्परा का अंग होने के साथ-साथ उसको गहराई तक प्रभावित करने वाला दर्शन भी था। न्याय और वैशेषिक दर्शनों की परस्पर समानताएं तो सर्वविदित हैं, अन्य दर्शनों के साथ भी इसका जुड़ाव कुछ कम नहीं रहा है। मीमांसा और पूर्वमीमांसा ने भी इसके कुछ सिद्धान्तों को अपनाया था, तो कुछ का खंडन किया था। यह कहना गलत न होगा कि तार्किक पद्धतियों के अपने उन्नत विकास के कारण बाद में न्याय दर्शन समस्त भारतीय दर्शनों की गवेषणा का जरूरी सहायक बन गया था। न्याय दर्शन की इस ऐतिहासिक व दार्शनिक विशिष्टता के कारण, उसे समझने के लिए भारतीय तर्क परम्परा पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना हमारे लिए उपयोगी होगा।

भारतीय तर्क परम्परा और पद्धति

मनुष्य तर्कशील प्राणी है। वह कुछ चीजों का सत्य जानने के बाद स्थिर नहीं हो जाता, बल्कि बहुतेरी अन्य चीजों के सत्यासत्य सम्बन्धी निष्कर्षों की ओर आगे बढ़ता रहता है। तर्कशीलता की यह प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं चलती, अपितु सामाजिक और सामूहिक स्तरों पर भी आगे बढ़ती रही है, और दर्शन शास्त्र के उद्भव और विकास का कारण बनती है। भारतीय इतिहास में ऐसी सार्वजनिक चर्चाओं अथवा शास्त्रार्थ के सन्दर्भ उपनिषदों में खूब मिलते हैं, लेकिन भारत की अन्य साहित्यिक-दार्शनिक धाराएं, उनकी शाखाएं-प्रशाखाएं भी इस सन्दर्भ में पीछे नहीं हैं। भारतीय बौद्ध

परम्परा इसका उदाहरण है, जहां मिलिन्द पह और कथा वस्तु जैसी रचनाएं अपनी तर्कशीलता से लोगों को आकर्षित करती रही हैं।

भारत में पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से ही खगोलशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिष व धर्मशास्त्र, औषधि, गणित व अन्य विषयों पर चिन्तन-मनन की एक समृद्ध परम्परा मिलने लगती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, सुश्रुत की चरकसंहिता व कौटिल्य के अर्थशास्त्र इसी दौर की वे रचनाएं हैं, जो अपनी तार्किकता और विचारशीलता की वजह से इतने दिनों बाद भी भारत के गौरव ग्रन्थों के रूप में विश्वविख्यात हैं। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, न्याय दर्शन के वात्स्यायन और वाक्पदीयम के रचनाकार भर्तृहरि जैसे रचनाकारों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तर्कशास्त्र के जटिल सिद्धान्तों का कौशलपूर्ण प्रयोग किया है। पदार्थ के क्षण-क्षण में उत्पन्न व विनष्ट होने वाले अस्तित्व पर विचार करते हुए वे इस अवधारणा को सूत्रबद्ध कर सके थे, कि किसी चीज की सत्ता या तो है, अथवा नहीं है। वात्स्यायन आत्यन्तिकता के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, और कहते हैं कि कोई भी सत्ता एक साथ शाश्वत या अशाश्वत नहीं हो सकती।

माना जाता है कि भारतीय तर्कशास्त्र का अस्तित्व बौद्धों के अभ्युदय काल से पहले ही हो चुका था। भारतीय ग्रन्थांे में इस शास्त्र को अनेक नामों से जाना जाता था, जिनमें हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वाद विद्या, न्याय विद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, आदि शब्दावली शामिल है। न्याय का एक पुराना नाम आन्वीक्षिकी भी है, और कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिन चार विद्याओं का जिक्र किया है, उनमें आन्वीक्षिकी को समस्त विद्याओं का प्रदीप, समस्त कर्मों का उपाय और समस्त धर्मों का आश्रय बताया गया हैः

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।

भारतीय दार्शनिक तर्क परम्परा की प्राचीन उपस्थिति से परिचित होने के बाद यह जानना भी जरूरी है कि हमारी इस तर्क परम्परा की पद्धतिमूलक विशेषता भी उल्लेखनीय है। यहां पक्ष को, जिसे पारम्परिक शब्दावली में पूर्वपक्ष कहते हैं, प्रस्तुत करने के बाद उसके प्रतिपक्ष यानी कि विरोधी या प्रतिवादी के पक्ष को रखने, और इस तरह उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम में दार्शनिक चिन्तन को आगे बढ़ाने की परम्परा रही है। यह पद्धति भी पुरानी है, जिसका परिचय हमें औपनिषदिक काल से ही मिलने लगता है। उपनिषदों की प्राचीन परम्परा में इस पद्धति के लिए वाकोवाक्य शब्दावली का प्रयोग मिलता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रश्नोत्तर के माध्यम से विवाद। ध्यान देने वाली बात है कि वाकोवाक्य की पदावली यूनानी दर्शन की उस डायलेक्टिक्स (द्वंद्वात्मकता) से काफी मिलती-जुलती

है, जो दुनिया भर में आज भी चिन्तन पद्धति के रूप में लोगों को आकर्षित करती है।

भारतीय तर्कपरम्परा का गहराई से अध्ययन करना, और पश्चिम में तर्कशास्त्र के विकास से उसकी तुलना करना एक दिलचस्प विषय हो सकता है, और ऐसे प्रयास न्याय दर्शन के उद्भव और विकास को समझने के लिए भी उपयोगी होंगे। लेकिन हम यहां केवल इतना ही समझेंगे कि भारत में अपनी पद्धतिमूलक विशेषता के साथ तर्कशास्त्र की एक समृद्ध परम्परा मौजूद थी, जो शायद अरस्तू के तर्कशास्त्र की चर्चित पश्चिमी परम्परा के समान ही काफी समुन्नत थी।

हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि भारतीय तर्कशास्त्र या तर्कविज्ञान की परम्परा, उसकी पद्धतिमूलक विशेषता का न्याय दर्शन के साथ क्या सम्बन्ध रहा है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि न्याय दर्शन के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है, बल्कि हम तो यह भी कह सकते हैं कि उसके मूल आधारों को तैयार करने वाली पहली कृति ही न्याय सूत्र थी। इतना तो आप जानते होंगे कि न्याय सूत्र के रचनाकार महर्षि गौतम हैं और उनके इस सूत्र का रचना काल लगभग दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी तरफ यह जानना भी जरूरी है कि गौतम के न्याय सूत्र की सबसे प्रथम सांगोपांग व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय वात्स्यायन को जाता है, जिनके भाष्य को न्याय दर्शन के सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य का दर्जा आज तक यथावत बना हुआ है। हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक इतिहास में वाकोवाक्य की विद्या से युक्त दार्शनिक परम्परा का प्रथम सुष्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करने का श्रेय न्याय दर्शन को, और उसके दो मनीषियों अर्थात् महर्षि गौतम और वात्स्यायन को जाता है।

वैचारिक पृष्ठभूमि के इस संक्षिप्त परिचय के बाद हम अब न्याय दर्शन के परिचयात्मक इतिहास की ओर आगे बढ़ सकते हैं।

न्याय दर्शन- परिचय

आपस्तम्ब ने न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के रूप में किया है। न्याय की उत्पत्ति 'नी' धातु से हुई है। इसके अर्थ की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि इसी के द्वारा शब्दों और वाक्यों के निश्चित अर्थों का बोध होता है। इस न्याय के आधार पर ही वैदिक शब्दों का उच्चारण निश्चित किया जाता है। संक्षेप में आप यह समझ सकते हैं कि वैदिक शब्दों के उच्चारण को भी न्याय की संज्ञा दी जाती थी। न्याय को कभी-कभी तर्कविद्या और वाद-विद्या, अर्थात वाद-विवाद सम्बन्धी विज्ञान का नाम भी दिया गया है। बहस अथवा वाद बौद्धिक जीवन का प्राण है। सत्य के अन्वेषण के लिए इस विधि का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

उपनिषदों के अध्ययन के समय आप देखेंगे कि उस समय ऐसी विद्वत परिषदें हुआ करती थीं जिनमें दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि गौतम के न्याय शास्त्र का जन्म

भी ऐसे ही वाद-विवादों अथवा शास्त्रार्थों की परम्परा से हुआ, जिसे उस काल में राजदरबारों तथा दार्शनिकों में समान रूप से लोकप्रियता प्राप्त थी।

जयन्त अधिकार पूर्वक कहते हैं कि यद्यपि गौतम का न्यायदर्शन तर्कशास्त्र के विषय को एक सन्तोषजनक रूप में उपस्थित करता है, फिर भी गौतम से पूर्व भी तर्कशास्त्र विद्यमान था, जैसे जैमिनी से पूर्व पूर्वमीमांसा और पाणिनि से पूर्व व्याकरण विद्यमान था। महाभारत में भी तर्क शास्त्र और आन्वीक्षिकी का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थों में तर्कविद्या का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता अपितु केवल नाममात्र का उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय में आए अनुमान सुत्त के नाम से जरूर यह प्रकट होता है कि अनुमान शब्द का प्रयोग सम्भवतः अनुमान प्रमाण के लिए हुआ होगा। ललितविस्तर ने न्याय शास्त्र का वर्णन हेतुविद्या के नाम से किया गया है। जैन आगमों ने भी भारतीय न्याय शास्त्र की प्राचीनता को प्रमाणित किया है।

राधाकृष्णन के अनुसार न्याय शास्त्र का आरम्भ बौद्ध काल से पूर्व हो गया था, यद्यपि उसकी वैज्ञानिक विवेचना बौद्धकाल के आरम्भ में और मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहले हुई थी।

न्याय ग्रन्थों का विकासानुक्रम

संस्कृत साहित्य के इतिहास की किसी भी पुस्तक पर अगर आप एक सरसरी निगाह डालें, तो आप न्याय दर्शन के ऐतिहासिक विकासानुक्रम की रूपरेखा से परिचित हो जाएंगे। यहां उसका संक्षिप्त वर्णन आपके लिए सार्थक और पर्याप्त होगा। आप पहले ही जान चुके हैं कि न्याय दर्शन का पहला सूत्रग्रन्थ अक्षपाद गौतम लिखित 'न्यायसूत्र' है, जिस पर प्राप्त होने वाला पहला प्रामाणिक भाष्य वात्स्यायन (400 ई.) का है, जो चौथी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। वात्स्यायन के ग्रन्थ के प्रथम बड़े आलोचक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङनाग थे। न्याय दर्शन के पक्ष से दिङनाग का खंडन करने वाला प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ 'न्यायवार्तिक' था, जिसके रचयिता राजा हर्षवर्धन के समकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक उद्योतकर थे। उद्योतकर के ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले दार्शनिक वाचस्पति मिश्र (841 ई.) थे। ध्यान देने वाली बात यह है कि स्वयं अद्वैत वेदान्ती होने के बावजूद वाचस्पति मिश्र को सभी दर्शनों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है। इस क्रम में दार्शनिक जयन्त भट्ट का भी नाम लिया जाता है, जिनकी रचना का नाम 'न्याय मंजरी' है। यहां तक का विकास-काल न्याय दर्शन के इतिहास का प्राचीन युग माना जाता है।

न्याय दर्शन के इतिहास का नवीन युग अर्थात नव्य न्याय के युग की शुरुआत बारहवीं सदी के आसपास मानी जा सकती है, जिसकी शुरुआत पूर्वी बंगाल के निवासी एक अत्यन्त प्रतिभाशाली दार्शनिक गंगेश उपाध्याय और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्व चिन्तामणि' की रचना के साथ हुई थी। कहा जाता है कि इस महान ग्रन्थ ने पिछले ग्रन्थों को पीछे छोड़ दिया था, और सब लोग स्वीकार करते हैं

कि गंगेश उपाध्याय की प्रतिभा का स्पर्श पाने के बाद ही न्याय का तर्कशास्त्र अपने परिपक्व स्वरूप को पा सका था। हालांकि उनकी आलोचना भी की जाती है, और कहा जाता है कि अपनी तार्किक बारीकियों के बावजूद उनके बाद के न्याय ग्रन्थ दार्शनिक ज्ञान के लिहाज से निस्तेज हो गए थे, और शब्दजाल के व्यूह में उनकी दार्शनिक गवेषणा ढंक सी गई थी। गंगेश उपाध्याय के ग्रन्थ पर वासुदेव सार्वभौम और रघुनाथ की टीकाएं महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। वासुदेव सार्वभौम (1500 ई.) नैयायिकों की प्रसिद्ध 'नदिया शाखा' का प्रथम नैयायिक था, और रघुनाथ व प्रसिद्ध धर्मगुरु चैतन्य उसके शिष्य थे। माना जाता है कि गंगेश के ग्रन्थ पर रघुनाथ की टीका 'दीधित' सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके बाद नैयायिकों की इसी शाखा से जुड़े गदाधर मिश्र (1650 ई.) ने जो टीका लिखी वह सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हुई है, और उसे गंगेश उपाध्याय के बाद नव्य न्याय के क्षेत्र में दूसरा सबसे बड़ा स्थान दिया जाता है।

न्याय के वैचारिक ग्रन्थों के विकासानुक्रम के इस संक्षिप्त इतिहास को जानने के बाद एक और चर्चा भी जरूरी है, क्योंकि उसके बगैर न्याय दर्शन की समझ अधूरी रह जाएगी। दार्शनिक विवेचनाओं में सामान्यतया न्याय-वैशेषिक की चर्चा संयुक्त रूप में उपस्थिति होती है, और आपके मन में भी यह प्रश्न आया होगा कि ऐसा क्यों किया जाता है। पहले तो शायद इसका सबसे बड़ा कारण उनका यथार्थवादी यानी कि वस्तुओं के वस्तुगत अस्तित्व को मानने वाला दृष्टिकोण है। लेकिन दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिपादन शैली और सिद्धान्तों की भिन्नताओं के बावजूद उनके ही प्रवक्ताओं ने आगे चलकर उन्हें एकाकार कर दिया था। शिवादित्य मिश्र रचित 'सप्तपदार्थी' में न्याय और वैशेषिक का समन्वित रूप सबसे पहले दिखाई पड़ता है। न्याय और वैशेषिक के इतिहास के उत्तर काल में इन दोनों दर्शनों का संयुक्त प्रतिपादन ही हमें प्राप्त होता है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण लगभग एक ही कालावधि में लिखे गये लोकप्रिय ग्रन्थ अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह' और विश्वनाथ के भाषा परिच्छेद या 'कारिकावली' हैं।

टिप्पणीकार इन दर्शनों के इतिहास के इन दो चरणों (उदाहरण के तौर पर प्राचीन न्याय और नव्य न्याय) के अलावा एक तीसरे चरण की भी चर्चा करते हैं। कहा जाता है कि यह वह चरण था जब न्याय-वैशेषिक का स्वतन्त्र विश्वदर्शन लगभग विस्मृत कर दिया गया था, और उसे मुख्यतः तर्कशास्त्र मानते हुए वेदान्त दर्शन के अध्ययन मंे सहायक माने जाने वाले दर्शन की गौण स्थिति में पहुंचा दिया गया था। न्याय-वैशेषिक दर्शनों व उनके तर्कशास्त्र की अनेक समानताओं के बावजूद उनमें महत्त्वपूर्ण अन्तर भी थे, जिनकी संक्षिप्त चर्चा आप अगली इकाइयों में पढेंगे।

आपने यह देखा कि न्याय दर्शन का आविर्भाव किन परिस्थितियों में और तर्कशास्त्र की किस परम्परा के अन्तर्गत हुआ, और इसका बीजारोपण व पल्लवन किन-किन दार्शनिक ग्रन्थों के जरिये हुआ है। अब हम न्याय की विषय वस्तु के परिचयात्मक इतिहास की ओर, यानी कि उसके मुख्य तत्त्वों के परिचय और उनके ऐतिहासिक विकास को समझने की ओर आगे बढेंगे।

1.4 न्याय दर्शन का इतिहास

न्याय शास्त्र

हम देख चुके हैं कि न्याय शास्त्र का इतिहास बीस शताब्दियों में फैला हुआ है। गौतम का न्याय सूत्र पांच अध्यायों में बंटा हुआ है, जिसमें प्रत्येक अध्याय के दो-दो परिच्छेद हैं। इस न्याय सूत्र का भाष्य वात्स्यायन ने लिखा है। वात्स्यायन के अनुसार ग्रन्थ उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा की विधि का अनुसरण करता है। प्रथम अध्याय में सामान्यतः सोलह विषयों का वर्णन है, जिन पर अगले चार अध्यायों में विस्तार से विचार किया गया है। न्याय सूत्र वैदिक विचार धारा के निष्कर्षों को तर्क सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा करता है, और उसे उपनिषदों के धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के साथ जोड़ता है, और इस प्रकार वह आस्तिक यथार्थवाद का तर्कपूर्ण समर्थन करता है। गौतम के न्याय सूत्र, खासकर उसके प्राचीनतम माने जाने वाले सूत्र ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचनाएँ हैं, हालाँकि न्याय के कुछ सूत्र निश्चित रूप से ईसा काल के बाद रचे गये प्रतीत होते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि वात्स्यायन का न्याय भाष्य न्याय सूत्र की सर्वाधिक चर्चित व सशक्त शास्त्रीय टीका है।

सृष्टि विचार और न्याय

सृष्टि की उत्पत्ति के कारण अर्थात कारणकार्यवाद की विवेचना सभी दर्शनों की चिन्ता का मुख्य विषय रहा है। स्वाभाविक तौर पर यह विषय दार्शनिकों के मतभेदों और विभाजनों के केन्द्र में रहा है। कार्यकारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कारण की अनुपस्थिति में कार्य का होना असम्भव है। लेकिन दार्शनिक विवाद यहीं तक सीमित नहीं रहता, और वह आगे बढ़कर प्रश्न करता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी क्या अपने कारण में विद्यमान रहता है, अथवा ऐसा नहीं होता। दार्शनिकों द्वारा इस प्रश्न के जो उत्तर दिए गये, उनके आधार पर दर्शन में एक व्यापक विभाजन करना सम्भव है। जो दार्शनिक मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है, वे सत्कार्यवादी कहे जाते हैं, और जो ऐसा नहीं मानते वे असत्कार्यवादी कहलाते हैं।

इस प्रश्न को केन्द्र में रखकर एक जटिल बहस भारतीय दार्शनिक इतिहास में होती रही है, जिसे आप संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं। असत्कार्यवादियों के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व 'असत' है, अर्थात् अपने कारण में विद्यमान नहीं है, और इसलिए कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही प्रारम्भ होती है। अपने इसी तर्क के कारण असत्कार्यवादियों को आरम्भवादी भी कहा जाता है। उनकी तार्किक दलील को पारम्परिक तौर पर इस तरह अभिव्यक्त किया जाता हैः उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है, तो सत् होने के कारण वह उत्पन्न माना जाएगा, और इस तरह उसकी दोबारा उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति होगी, जो व्यर्थ या निरर्थक है। अतः कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरम्भ होती है। कार्य एक नूतन कृति है, एक नवीन सृष्टि

है। यदि घड़ा मिट्टी में, कपड़ा धागे में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिए परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? या फिर धागे खुद ही वस्त्र का काम क्यों नहीं करते? और दूध का स्वाद दही जैसा क्यों नहीं होता?

असत्कार्यवाद का प्रतिपक्ष सत्कार्यवाद कहलाता है, जिसकी मान्यता यह है कि अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। सत्कार्यवादियों के संक्षिप्त तर्क को आम तौर पर इस रूप में व्यक्त किया जाता हैः कार्य कारण में बीज रूप से अन्तर्निहित रहता है, तथा कारण कार्य में स्वभाव रूप से विद्यमान रहता है, इस तरह कार्य कोई नयी सृष्टि नहीं है, बल्कि उसकी उत्पत्ति का अर्थ केवल उसका अभिव्यक्त होना है। संक्षेप में सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित होता है, और कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैंः कारण की अवस्था उसका अव्यक्त रूप है, जबकि कार्य की अवस्था उसका व्यक्त रूप है। इस प्रकार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् है, और अपनी इसी मान्यता के कारण इसको सत्कार्यवाद नाम से जाना जाता है।

आप जानते हैं कि दार्शनिक वाद-विवाद जल्दी थमने का नाम नहीं लेता, शायद इसीलिए समाज में दार्शनिकों को 'बाल की खाल निकालने' वाला भी समझ लिया जाता है। बहरहाल, दर्शन के छात्रों को तो कार्यकारणवाद सम्बन्धी बहस के अगले प्रश्न से भी परिचित होना पड़ेगा, जो आगे बढ़कर जिज्ञासा करता है कि कारण का कार्य के रूप में परिवर्तन वास्तविक या तात्त्विक परिवर्तन है, अथवा अवास्तविक या अतात्त्विक परिवर्तन है। जिन दार्शनिकों ने इस परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक माना है उन्हें 'परिणामवादी' कहा गया है, जबकि इस परिवर्तन को अवास्तविक अथवा अतात्त्विक मानने वालों को 'विवर्तवादी' कहा गया है।

यहां दार्शनिक खण्डन-मण्डन की इस जटिल प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के बजाय हम केवल अब तक के तर्कों को याद रखते हुए, उनके आधार पर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जो वर्ग-विभाजन किया गया है, उसका एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे। यह वर्गीकरण कुछ इस प्रकार हैः

सांख्य व योग- सत्कार्यवादी,

न्याय व वैशेषिक-असत्कार्यवादी,

वेदान्ती व बौद्ध- विवर्तवादी,

जैन व मीमांसक- सदसत्कार्यवादी

लोकायत- स्वभाववादी।

इस प्रकार, हम यहां एक असत्कार्यवादी दर्शन के इतिहास से, उसके विकासानुक्रम से परिचित होने की चेष्टा कर रहे हैं।

कार्यकारणवाद के सन्दर्भ में बौद्ध, सांख्य और नैयायिक

आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि न्याय के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सांख्य व बौद्ध मतों के उसके खण्डन-मण्डन से जुड़ी है। बौद्ध कहा करते थे कि कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, जैसे यदि दूध से दही बनता है, तो दही बनने के बाद कारण तत्त्व दूध का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परन्तु न्याय दर्शन के अनुयायी बौद्धों के इस मत का खण्डन करने के क्रम में एक जटिल तर्क सामने लाते हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैः कारण रूप के विशेष तत्त्व कार्य के तत्त्व पुंज में भी विद्यमान रहते हैं, और कारण के तत्व पुंजों की स्वतन्त्र क्रिया के परिणामस्वरूप कार्य के तत्त्व पुंज की उत्पत्ति हमारे अनुभव और साधारण ज्ञान के विपरीत हैं। दूध में जो श्वेत तत्त्व है वह दही में भी पाया जाता ह, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि एक क्षण में ही पहला पदार्थ (कारण) नष्ट हो गया, और दूसरा पदार्थ (कार्य) उत्पन्न हो गया।

दूसरी ओर, हम देखते हैं कि नैयायिकों के सिद्धान्त के प्रारम्भिक स्वरूप से ही सांख्य दर्शन की मान्यता के खण्डन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, लेकिन नैयायिकों के इस प्रतिपक्ष को जानने के पहले हमें संक्षेप में यह जान लेना होगा कि सांख्य दर्शन के अनुयायियों का पक्ष क्या था। सांख्य के अनुयायी यह मानते थे कि कार्य केवल कारण का प्रकटीकरण है, और कारण की अवस्था भविष्य में सम्पन्न होने वाले सारे कार्यों की अनुगुप्त स्थिति समाहित किये रहती है। वे अपनी दलील को लोकप्रिय ढंग से व्यक्त करते हुए कहते थे- 'तिल में तेल पहले से विद्यमान रहता है'। नैयायिकों ने सांख्य के अनुयायियों की इस लोकप्रिय दलील को आधारहीन बताया था और कहा था कि तिल का प्रयोग हम तेल की तरह नहीं कर सकते, या मिट्टी के पिण्ड को घड़ा समझकर हम उसमें पानी नहीं भर सकते हैं।

न्याय दर्शन के उद्भव से जुड़े इस दार्शनिक खण्डन-मण्डन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के बाद चलते-चलते शायद एक और बात का उल्लेख भी आपको दिलचस्प लगेगा, जो इस दर्शन के नामकरण से जुड़ी है। अनुमान लगाया जाता है कि न्याय शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वानों द्वारा की जाने वाली वेदविषयक वार्ताओं व विवादों के सन्दर्भ में हुई होगी। आप ने भी ऐसी कथाएं पढ़ी होंगी, जो भारत के प्राचीन काल में ऐसी अनेक प्रतिद्वन्द्वी शाखाओं के अस्तित्व को दर्शाती हैं, जो अपने प्र्रतिपक्षियों को हराकर अपने मत को समाज में स्थापित करने के लिए मनोयोगपूर्वक शास्त्रार्थ किया करती थीं।

अब हम न्याय दर्शन की विषय वस्तु के दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होंगे और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने की कोशिश करेंगे। न्याय दर्शन का पदार्थ विचार

न्याय दर्शन के पदार्थों से परिचित होने के पहले हमें यह ध्यान देना चाहिए कि वैशेषिकों के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के विपरीत नैयायिक विश्व को ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखते हैं। न्याय

दर्शन के सोलह पदार्थों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि न्याय ने अपना ध्यान किसी वस्तु के गुणों के वास्तविक अध्ययन पर केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि तर्क और द्वन्द्ववाद की उस प्रक्रिया पर केन्द्रित किया है, जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वैशेषिकों के सात पदार्थों को न्याय दर्शन ने अपने दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के अन्दर समाहित कर लिया है। ज्ञान की पद्धति पर नैयायिकों के इसी केन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हुए विश्लेषक कहते हैं कि प्रमाण और प्रमेय, यानी कि न्याय के पहले दो पदार्थ ही उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय की जिज्ञासा इस प्रश्न पर केन्द्रित नहीं है कि वस्तुएं स्वतः क्या हैं, बल्कि उसका जोर इस बात पर है कि कैसे उनकी जानकारी या उनके ज्ञान की सिद्धि संभव है। यहां यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि न्याय को वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व पर किंचित मात्र भी सन्देह नहीं था, बल्कि वह मिथ्या ज्ञान के दुष्प्रभावों के प्रति ज्यादा चिंतित था। वह मानता था कि मिथ्या ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है, इसलिए वह वस्तुओं पर विचार करने के नियमों की छानबीन में लग गया था। यह बात न्याय दर्शन के बाकी चौदह पदार्थों के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वे सभी सत्य की खोज में सहायक हैं, या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी हैं। इसीलिए कहा जाता है कि न्याय दर्शन में ज्ञान पर सर्वोच्च बल दिया गया है। कहा गया है, 'ऋते सत्यान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना जीवन मुक्ति सर्वथा असम्भव है।

न्यायशास्त्र में पदार्थों के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। गौतम के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थात दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष सोलह पदार्थों के सत्य को जानने के बाद ही हो सकती है। ये पदार्थ थे- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान। इन पदार्थों में प्रमाण को सबसे पहला स्थान दिया गया है। जबकि ज्ञान की अर्थात प्रमेय को गौण स्थान प्रदान किया गया है। स्पष्ट है कि न्याय प्रणाली प्रथमतः सही ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति निरूपित करने वाला दर्शन है। गौतम सही ज्ञान प्राप्त करने के साधन अर्थात प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। न्याय दर्शन तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता और विज्ञान की परम्परा से सम्बन्ध है। यह दर्शन पदार्थ के मूलतत्त्व की अपनी-अपनी परिकल्पनाओं के आधार पर वस्तु-जगत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। नैयायिकों ने परमाणुओं के रूप मं े पदार्थ की परिकल्पना की है। इसीलिए इनके सिद्धान्त परमाणु सिद्धान्त भी कहलाते हैं।

न्याय में स्वीकृत षोडश पदार्थ

गौतम जब न्याय सूत्र का प्रणयन करते हैं तो सत् के रूप में सोलह पदार्थों की विवेचना करते हैं-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वभासच्छलजातिनिग्रह स्थानीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

अर्थात प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा,

हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

इन सोलह पदार्थों का ही विस्तृत विवेचन न्यायसूत्र में उपलब्ध होता है। अगली इकाई में आप इसका वृहद अध्ययन कर सकेंगे। इस इकाई में इनका एक संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, ताकि अगली इकाइयों का अध्ययन आपके लिए सरल और सुग्राह्य बनाया जा सके।

प्रमाणः 'प्रमाण की विवेचना न्याय दर्शन का प्रमुख विषय है, जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है उसे प्रमाण कहते हैं। वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। गौतम ने कहा हैः प्रमीयतेऽनेन' इति प्रमाणः अर्थात प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है, आम भाषा में जिसका अर्थ हुआ कि ज्ञान के मुख्य साधन को प्रमाण कहते हैं। इसके द्वारा ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान सम्भव होता है। न्याय दर्शन के अन्तर्गत चार प्रमाण स्वीकृत किये गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण। इनका विस्तृत विवेचन अगली इकाई में किया जाएगा।

प्रमेयः आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्याभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम। 'प्रमा' अर्थात यथार्थ ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। इनकी संख्या बारह बताई गई है, और इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैंः आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग।

संशयः समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'। अर्थात विशेषापेक्ष विमर्श ही संशय कहलाता है, जैसे स्थाणु (ठूँठ) और पुरुष (मनुष्य) में कुछ धर्म समान होने के कारण (दिखने में कुछ समानता के कारण) जब भाव (सन्देह) उत्पन्न होता है कि यह ठँूठ है अथवा पुरुष, तो नैयायिकों की भाषा में इसे संशय कहा जाता है।

प्रयोजनः 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते

प्रमाता (ज्ञान प्राप्त करने वाला) जिस अर्थ को अनुकूल या प्रतिकूल निश्चय कर प्रवृत्त हो (आगे बढ़े), उसे प्रयोजन कहते हैं।

दृष्टान्तः 'लौकिकपरीक्षकणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'।

अर्थात लौकिक पुरुष और विशेष पुरुष अगर किसी वस्तु को एक सा समझते हों, तो उसे दृष्टान्त कहा जाता है। आम भाषा में कहंे तो वादी तथा प्रतिवादी जिस विषय में एकमत हों उसे दृष्टान्त कहा जाता है। आगे की इकाई में इसके भेदों का आप विस्तार से अध्ययन करेंगे।

सिद्धान्तः 'तन्त्राधिकरणम्युपगमसंस्थितिः सिद्धन्तः'। विशेष रूप से परीक्षण किया गया अथवा प्रामाणिक रूप से स्वीकृत विषय सिद्धान्त कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है जिसका विस्तृत विवेचन हम अगली इकाई में करेंगे।

अवयवः ‘प्रतिज्ञाहेतूदाहरणापनयनिगमान्यवयवाः‘। आप पहले ही जान चुके हैं कि न्याय दर्शन में चार प्रमाण गिनाए गए हैं, जिनमें दूसरा प्रमाण अनुमान कहा जाता है। अनुमान प्रमाण के पांच भेद या खण्ड हैं, जिन्हें अवयव कहा जाता है। सामान्य तौर पर कहें तो जिन वाक्यों के माध्यम से हम अनुमान ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अवयव कहलाते हैं, जिनके नाम हैंः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

तर्कः अविज्ञातत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। भली-भांति न जाने हुए अर्थ को जानने की जिज्ञासा के कारण उस पर सम्यक विचार करना तर्क कहलाता है।

निर्णयः विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। विचार प्रक्रिया पूरी होने के पश्चात पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना ‘निर्णय‘ कहलाता है। न्याय दर्शन में वाद-विवाद के तर्क की अवस्था तक पहुंचने तक किसी निष्कर्ष पर व्यक्ति नहीं पहुंचता, जबकि निर्णय की अवस्था पर पहुंचते ही वह निष्कर्ष या निश्चय प्राप्त कर लेता है।

वादः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पंचावयोपपन्न पक्षप्रतिपक्ष परिग्रहो वादः। शास्त्रार्थ के समय वादी तथा प्रतिवादी दो पक्ष होते हैं, ये दोनों जब तत्त्वज्ञान के लिए शास्त्रार्थ करते हैं तो उसे वाद कहते हैं। वाद के दौरान पांचों अवयवों वाली युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं। निवृत्त का निषेध तथा व्यवस्थित की स्थापना ही वाद का लक्ष्य है।

जल्पः यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्पः। जब दोनों पक्ष शास्त्रार्थ में विजय की अभिलाषा रखते हुए अपने ही पक्ष को सिद्ध करने के लिए कथा करते हैं तो यह जल्प कहलाती है।

वितण्डाः स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। स्वपक्ष की स्थापना से विरहित होकर परपक्ष की स्थापना कथा वितण्डा कहलाती है, यानी कि जब प्रतिवादी अपनी खीझ में पूरी तरह निरर्थक विवाद करने लगे, तो उसे वितण्डा कहा जाता है।

हेत्वाभासः हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्वेतुवदाभासमानाः। ते इमे सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। हेत्वाभास का अर्थ होता है हेतु न होते हुए भी हेतु की प्रतीति होना। इस हेतु से जो अनुमान ज्ञान होता है वह अयथार्थ अनुमान है। उदाहरण के तौर पर वितण्डा के सभी हेतु अयुक्त होने के कारण हेत्वाभास रह जाएंगे।

छलः ‘वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्‘ अर्थात प्रतिवादी के अभिमत अर्थ से विरुद्ध कल्पनोपपादन वचनविधान छल कहलाता है। यह स्थिति तब आती है जब प्रतिवादी वादी के वाक्यों का विरुद्धार्थ करके उसको छल में डालने का प्रयत्न करता है, यानी कि अन्य अभिप्राय से कही गई बात को अन्य अर्थ में लेना छल कहलाता है। जैसे किसी ने कहा- ‘नवकम्बलोऽयं देवदत्तः‘ (देवदत्त के पास नया कम्बल है) यहां प्रतिवादी ‘नवकम्बल‘ का अर्थ नया कम्बल न कर नौ

कम्बलों वाला कर देता है। छल तीन प्रकार का होता है, जिन्हें वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल कहा गया है।

जतिः साधर्म्यवैधर्म्याम्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। जब प्रतिवादी व्याप्ति निरपेक्ष साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करने लगता है, वह जाति अवस्था में आ जाता है।

निग्रहस्थानः विप्रतिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति की अवस्था 'निग्रहस्थान' कहलाती है। विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' कहा जाता है। अर्थात वादी जहां प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का आवश्यक खण्डन न करे, वह निग्रहस्थान कहलाता है। आम भाषा में कहें तो निग्रहस्थान वह अवस्था है जब प्रतिवादी को रोककर शास्त्रार्थ बन्द किया जाता है।

न्याय दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

हम न्याय दर्शन के ग्रन्थों के विकासानुक्रम को पहले ही जान चुके हैं। अब न्याय दर्शन के प्रमुख आचार्यों के विषय में भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना हमारे लिए लाभदायी रहेगा। लेकिन इनकी रूपरेखा को देखने के पहले भारतीय दर्शन सम्बन्धी दो सामान्य बातें ध्यान में रखना उपयोगी होगा। पहली बात इन आचार्यों की ऐतिहासिक तिथि से सम्बन्धित है। स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में हमारे प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों का तिथि निर्धारण काफी जटिल मसला बना हुआ है, और इसलिए ऐसा करते समय हमें अधिकांशतया अनुमान पर भरोसा करना पड़ता है। दूसरी बात इन मनीषियों के आत्मचरित से सम्बन्धित है। कारण चाहे जो रहे हों, लेकिन हमारी ज्ञान परम्परा में मनीषियों द्वारा अपने बारे में कुछ कहने का चलन नहीं मिलता है। इसलिए ग्रन्थों के रचयिताओं के निजी जीवन के बारे में नगण्य जानकारियां ही हमें प्राप्त हो सकी हैं।

प्राचीन न्याय के आचार्य

1. गौतमः न्याय सूत्र के रचयिता का नाम गौतम है। इनका दूसरा नाम अक्षपाद है। सर्वाधिक विद्वान इनको मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में हैं। न्याय सूत्र पांच अध्याय में विभक्त है, और प्रत्येक अध्याय के दो आह्निक (भागों) में।
2. वात्स्यायनः न्याय सूत्र के सर्वप्रमुख भाष्यकार हैं। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इससे पूर्व भी कोई व्याख्या ग्रन्थ था।
3. उद्योतकरः दिङनाग के विचारों का खण्डन करने के लिए उद्योतकर ने न्याय भाष्य की व्याख्या के रूप में न्यायवार्तिक लिखा
4. वाचस्पति मिश्रः न्यायवार्तिक के क्लिष्ट होने के कारण वाचस्पति ने 'तात्पर्य टीका' का

प्रणयन किया। वैशेषिक को छोड़कर पंचदर्शनों पर इनकी विरचित टीकाएं प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पांडित्यपूर्ण हैं।

5. जयन्त भट्टः इनकी रचना न्यायमंजरी है। विरोधी मतावलम्बियों का खण्डन जयन्त भट्ट ने रोचक भाषा में किया है।

6. भासर्वज्ञः 'न्याय सार' की रचना कर भासर्वज्ञ ने न्याय जगत में अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया। स्वार्थ तथा परार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धि मुक्ति की कल्पना जैसे इनके सिद्धान्त नैयायिक जगत में सर्वथा अपूर्व हैं।

7. उदयानाचार्यः उदयन की 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्य टीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं- आत्मतत्त्व विवेक तथा न्याय कुसुमांजलि। न्याय कुसुमांजलि मुख्य रूप से ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में प्रमाण जुटाने के उद्देश्य से लिखी गई।

नव्य न्याय के आचार्य

नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय एक ऐसे रत्न थे जिन्होंने प्राचीन न्याय की धारा पलट कर 'नव्य न्याय को जन्म दिया। न्याय सूत्र जहां पदार्थों के विवेचन पर बल देता है वहीं नव्य न्याय में प्रमाण विचार सर्वप्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। इनकी रचना तत्त्व चिन्तामणि सर्वाधिक लोकप्रिय है। तत्त्वचिन्तामणि के रचना काल से न्याय परम्परा का नव्य युग प्रारम्भ होता है। गंगेश के अनुयायियों में गिनाने योग्य हैं वासुदेव, सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर तथा जगदीश।

अभी तक आपने देखा कि न्याय दर्शन मुख्य रूप से तर्क विद्या पर बल देता है। तर्कप्रधान प्रणाली के आधार पर ही इस दर्शन का नाम तर्क अथवा न्याय पड़ा। इसीलिए वात्स्यायन ने भी लिखा है कि 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्ः साङवीक्षा' अर्थात् प्रमाणों से अर्थ परीक्षण न्याय कहलाता है। वे प्रमाण, प्रत्यक्ष तथा आगम के अनुकूल अनुमान को ही आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं।

बोध प्रश्न

न्याय दर्शन के प्रवर्तक कौन थे?

वितण्डा किस श्रेणी में आती है?

न्याय के अनुसार पदार्थों की संख्या कितनी है?

निःश्रेयस किसे कहते हैं?

1.5 पारिभाषिक शब्द

आन्वीक्षिकी - तर्क विद्या

पक्षाभास- पक्ष की तरह प्रतीत होने वाला

दृष्टान्ताभास- दृष्टान्त अथवा उदाहरण की तरह प्रतीत होने वाला

नव्य न्याय- न्याय दर्शन की अवान्तर प्रणाली

अवयव- अंग

अन्तरंग साक्ष्य- भीतरी साक्ष्य

प्रविधि- तरीका

1.6 सारांश

आपने अभी तक न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास पढ़ा। इसको पढ़ने के बाद आपको यह ज्ञात हुआ कि न्याय दर्शन वेदों में विश्वास रखने के कारण आस्तिक दर्शन की श्रेणी में आता है। तर्क प्रधान होने के कारण इसका दूसरा नाम आन्वीक्षिकी भी है। परमाणुओं के संयोग से निर्मित इस जगत की व्याख्या के कारण इसे वस्तुवादी दर्शन भी कहा जाता है। न्याय शास्त्र भी दो भागों में बंटा हुआ है। प्राचीन न्याय और नव्य न्याय। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक महर्षि गौतम तथा नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय थे। न्याय दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना भी तीसरी शताब्दी से पहले हो चुकी थी। न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों की संक्षिप्त चर्चा भी हम इस इकाई में कर चुके हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन आप आगे की इकाई में करेंगे।

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. गौतम, 2. कथा, 3. सोलह, 4. मुक्ति

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास पर प्रकाश डालिए।

न्याय दर्शन के अनुसार सोलह पदार्थों का संक्षेप में वर्णन कीजिए प्रमाण किसे कहते हैं, व्याख्या कीजिए।

इकाई 2. न्याय दर्शन तर्कभाषा - प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण एवं उनका स्वरूप- मूल पाठ, अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य,
2.3 न्याय दर्शन- परिचय
2.4 प्रमेय, विस्तृत व्याख्या
2.5 प्रमाण विस्तृत व्याख्या
2.5.1 प्रत्यक्ष प्रमाण
2.5.2 अनुमान प्रमाण
2.5.3 उपमान प्रमाण
2.5.4 शब्द प्रमाण
2.6 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या
2.6.1 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या
2.6.2 समवायि कारण
2.6.3 असमवायि कारण
2.6.4 निमित्त कारण
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

न्याय दर्शन की पूर्व इकाई में आप प्राचीन न्याय और नव्य न्याय के इतिहास तथा उनकी तत्त्वमीमांसा का विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं। वहां आपने यह देखा होगा कि सूत्र पद्धति का अनुसरण कर लिखे गए ग्रन्थ प्राचीन न्याय, और उसके विपरीत स्वतन्त्र रूप से लिखे गए ग्रन्थ नव्य न्याय की श्रेणी में आते हैं। इस आधार पर तर्कभाषा को नव्य न्याय का ग्रन्थ माना जाता है।

आपने यह भी पढ़ा है कि न्याय एक वस्तुवादी दर्शन है, जिसकी मूल प्रस्थापनाएं तर्क के द्वारा सिद्ध की जाती हैं। तर्क पर अत्यधिक जोर देने के कारण ही इसे तर्क विद्या भी कहा जाता है। तर्कप्रधान ग्रन्थ होने के कारण न्याय शास्त्र पर आधारित ग्रन्थों का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। आप न्याय दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का पहली इकाई में अध्ययन कर चुके हैं, और प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय के इतिहास पर भी दृष्टि डाल चुके हैं।

महर्षि गौतम का 'न्याय सूत्र' न्याय दर्शन का पहला ग्रन्थ है, जिसे हम प्राचीन न्याय कहते हैं। प्राचीन और नव्य का भेद करते समय आपने यह भी देखा कि गौतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का ज्ञान आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सोलह पदार्थों के सत्य को जान लेने के बाद ही निःश्रेयस अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर पाना सम्भव था। नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय ने 'तत्व चिन्तामणि' नामक लोकप्रिय ग्रन्थ लिखा था, जिसे प्राचीन न्याय की धारा पलटने वाला ग्रन्थ माना गया है। 'तत्वचिन्तामणि' के रचना काल को ही न्याय परम्परा के नव्ययुग का प्रारम्भ माना जाता है। न्याय सूत्र जहां सोलह पदार्थों के विवेचन पर बल देता है वहीं नव्य न्याय ज्ञान के साधन को अर्थात प्रमाण विचार को सर्वप्रमुख स्थान पर आसीन करता है।

आपको पता है कि हम इस इकाई में न्याय दर्शन के प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण और स्वरूप सम्बन्धी अपने अध्ययन को तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर आगे बढ़ाएंगे। हमारी आधार पुस्तक तर्कभाषा पं. केशव मिश्र द्वारा प्रणीत बारहवीं शताब्दी का एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें न्याय के मुख्य पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है। तर्कभाषा में न्याय और वैशेषिक दोनो ही दर्शन सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। न्याय शास्त्र के समस्त विषयों का सम्पूर्ण वर्णन न होने के कारण 'तर्कभाषा' को न्याय का 'प्रकरण ग्रन्थ' यानी कि सम्बन्धित ग्रन्थ कहना ही उचित होगा। प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्ध शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों की वैचारिक संरचना समान है, इसलिए प्रकरण ग्रन्थ प्रायः न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों के पदार्थों का सम्मिलित वर्णन करते हैं। हालांकि उनमें कुछ ग्रन्थ न्याय को

प्रधान और वैशेषिक को गौण स्थान देते हैं, तो अन्य ग्रन्थ अपने विवेचन में वैशेषिक को प्रमुख व न्याय को गौण स्थान देते हैं।

पहली इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि न्याय दर्शन में प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों का वर्णन मिलता है, जबकि वैशैषिक दर्शन में द्रव्य इत्यादि सात पदार्थों का वर्णन किया गया है। न्याय को प्रधानता देने वाले ग्रन्थ न्याय के प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों का प्रमुखता से प्रतिपादन करते हैं। न्याय के इन पदार्थों में प्रमेय को दूसरा पदार्थ माना गया है, जिसके अनेक भेद भी गिनाए जाते हैं, इन भेदों में एक 'अर्थ' प्रमेय भी है, जिसके वर्णन में वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित द्रव्य इत्यादि छह पदार्थों के भी विवेचन समाहित मिलते हैं। न्याय के प्रकरण ग्रन्थों में तर्कभाषा को एक न्यायप्रधान ग्रन्थ माना जाना चाहिए।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप न्याय शास्त्र मे वर्णित सोलह पदार्थों से परिचित होंगे। इसके अध्ययन के बाद आप-

- न्याय के द्वितीय पदार्थ यानी कि प्रमेय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नव्य न्याय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग प्रमाण शास्त्र के विस्तृत विवेचन से परिचित होंगे।
- दार्शनिक भाषा में कारण किसे कहते हैं, उनके कितने भेद होते हैं, इसका अध्ययन कर सकेंगे।

2.3 न्याय दर्शन- परिचय

न्याय दर्शन सम्बन्धी बुनियादी बातों को हम अध्ययन की प्रथम इकाई में जान चुके हैं, लेकिन प्रमेयों के विस्तृत वर्णन में जाने के पहले उन्हें दोहरा लेना लाभदायक होगा। आपको यह याद होगा कि वैशेषिकों के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के विपरीत नैयायिक विश्व को ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखते हैं। न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि न्याय ने अपना ध्यान किसी वस्तु के गुणों के वास्तविक अध्ययन पर केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि तर्क और द्वन्द्ववाद की उस प्रक्रिया पर केन्द्रित किया है, जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वैशेषिकों के छह पदार्थों को न्याय दर्शन ने अपने दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के अन्दर समाहित कर लिया है। ज्ञान की पद्धति पर नैयायिकों के इसी केन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हुए विश्लेषक कहते हैं कि प्रमाण और प्रमेय, यानी कि न्याय के पहले दो पदार्थ ही उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय की जिज्ञासा इस प्रश्न पर केन्द्रित नहीं है कि वस्तुएं स्वतः क्या हैं, बल्कि उसका जोर इस बात पर है कि कैसे उनकी जानकारी या उनके ज्ञान की सिद्धि संभव है। यहां यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि न्याय को

वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व पर किंचित मात्र भी सन्देह नहीं था, बल्कि वह मिथ्या ज्ञान के दुष्प्रभावों के प्रति ज्यादा चिंतित था। वह मानता था कि मिथ्या ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है, इसलिए वह वस्तुओं पर विचार करने के नियमों की छानबीन में लग गया था। यह बात न्याय दर्शन के बाकी चौदह पदार्थों के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वे सभी सत्य की खोज में सहायक हैं, या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी हैं। इसीलिए कहा जाता है कि न्याय दर्शन में ज्ञान पर सर्वोच्च बल दिया गया है। कहा गया है, 'ऋते सत्यान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना जीवन मुक्ति सर्वथा असम्भव है।

न्यायशास्त्र में पदार्थों के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। गौतम के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थात दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष सोलह पदार्थों के सत्य को जानने के बाद ही हो सकती है। ये पदार्थ थे- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान। इन पदार्थों में प्रमाण को सबसे पहला स्थान दिया गया है। जबकि ज्ञान के विषय को अर्थात 'प्रमेय' को गौण स्थान प्रदान किया गया है। स्पष्ट है कि न्याय प्रणाली प्रथमतः सही ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति निरूपित करने वाला दर्शन है। गौतम सही ज्ञान प्राप्त करने के साधन अर्थात प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। न्याय दर्शन तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता और विज्ञान की परम्परा से सम्बन्ध है। यह दर्शन पदार्थ के मूलतत्त्व की अपनी-अपनी परिकल्पनाओं के आधार पर वस्तु-जगत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। नैयायिकों ने परमाणुओं के रूप में पदार्थ की परिकल्पना की है। इसीलिए इनके सिद्धान्त परमाणु सिद्धान्त भी कहलाते हैं।

गौतम जब न्याय सूत्र का प्रणयन करते हैं तो सत् के रूप में सोलह पदार्थों की विवेचना करते हैं-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वभासच्छलजातिनिग्रह स्थानीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

अर्थात प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने अपने प्रथम सूत्र में ही न्याय के सोलह पदार्थों का जिक्र करते हुए कहा है कि ''प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति।'' अर्थात प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

2.4 प्रमेय, विस्तृत व्याख्या

आपने देखा होगा कि तर्कभाषा में पहले विस्तार के साथ प्रमाण निरूपण किया गया है, और उसके बाद न्याय दर्शन के द्वितीय पदार्थ अर्थात प्रमेय का विवेचन वहां किया गया है। सबसे पहले वह न्याय के इस सूत्र को उद्धृत करती है-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्

यहां न्याय दर्शन के दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के बारह भेद मिलते हैं, और उनके नाम इस प्रकार हैं- 1. आत्मा 2. शरीर 3. इन्द्रिय 4. अर्थ 5. बुद्धि 6. मन 7. प्रवृत्ति 8. दोष 9 प्रेत्यभाव 10. फल 11 दुःख और 12 अपवर्ग। आप न्याय दर्शन की इस अध्ययन इकाई में प्रमेय, प्रमाण और कारण की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करेंगे, और इनका विस्तृत अध्ययन अगली इकाइयों में कर सकंेंगे।

टाइए अब हम प्रमेयों का अध्ययन शुरू करें। जैसा आप जान चुके हैं, पहला प्रमेय आत्मा है, तर्कभाषाकार ने जिसके बारे में कहा हैः

तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्ती तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः। तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।

केशवमिश्र आत्मा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा वह है जिसमें आत्मत्व रहता है। वह देह, इन्द्रिय आदि से पृथक रहती है, और प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएं अवस्थित रहती हैं, और वह नित्य व व्यापक है। अपनी आत्मा की अनुभूति आप मानस प्रत्यक्ष से करते हैं, तथा दूसरे की आत्मा का ज्ञान बुद्धि आदि युक्ति द्वारा अनुमान से प्राप्त होता है। गुण गुणी के आश्रित रहते हैं, और बुद्धि इत्यादि गुण अनित्य हैं व आत्मा के आश्रित हैं। ध्यान देने की बात कि यहां आत्मा स्वयं में चेतन स्वरूप नहीं मानी गई है, बल्कि चेतना उसका आगन्तुक गुण माना गया है।

दूसरा प्रमेय शरीर को माना गया है। शरीर का लक्षण करते हुए केशव मिश्र कहते हैं-

'तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्।

'तर्कभाषा' में आत्मा के भोग के आश्रय को 'शरीर' कहा है, उन्होने शरीर के लिए अन्त्यावयवी विशेषण लगाकर स्पष्ट कर दिया है कि उनका प्रयोजन शरीर के किसी अंग से न होकर अन्त्य अवयवी सम्पूर्ण शरीर है। सुःख दुःख में से किसी एक के साक्षात्कार को भोग कहा जाता है, और उस भोग का आश्रय ही शरीर कहा जाता है। तर्कभाषाकार ने न्यायसूत्रकार की परम्परा में शरीर को चेष्टा का भी आश्रय बताया है।

तीसरे प्रमेय का नाम 'इन्द्रिय' है। तर्कभाषाकार कहते हैं

'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम'। तानि चेन्द्रियाणि षट्। घ्राणरसन चक्षुस्त्वक्रोतमनांसि।'

इन्द्रिय का विवेचन करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं कि शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से

गृहीत न होने वाले ज्ञान का (करण) साधन 'इन्द्रिय' कहलाता है। उन्होंने छह इन्द्रियों को मानते हुए उनके लक्षण गिनाए हैं, और घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र जैसी पांच बाह्येन्द्रियों के अलावा एक अन्तरिन्द्रिय मन को भी शामिल किया है।

न्याय शास्त्र के दूसरे पदार्थ प्रमेय के बारह भेदों को जानने के क्रम में अभी तक आपने आत्मा, शरीर और इन्द्रिय क्या हैं, इस प्रश्न का उत्तर जाना है। अब हम आगे बढ़ते हुए न्यायशास्त्र के चौथे प्रमेय 'अर्थ' की चर्चा करेंगे, जिसका विवेचन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है-

अर्थाः षट्पदार्थाः ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः।

अर्थात् अर्थ की संख्या छः होती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- द्रव्य, गुण, कर्म , सामान्य, विशेष और समवाय। इस तरह हम देखते हैं कि तर्कभाषाकार ने वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का निरूपण इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत कर दिया है, हालांकि यह भी ध्यान देने वाली बात है कि तर्कभाषाकार ने वैशेषिक दर्शन के सातवं पदार्थ अभाव का यहां उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने यहां स्पष्ट किया है कि प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थ वैशेषिक के इन पदार्थों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, लेकिन प्रयोजनवश उन्हें अलग से बताया जा रहा है। इस प्रयोजन को वात्स्यायन ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि प्रमाण आदि पदार्थों का निरूपण न्याय में न किया जाय तो न्याय विद्या के स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा करना मुश्किल हो जाएगा।

जैसा आप जान चुके हैं, पांचवे प्रमेय का नाम बुद्धि है। बुद्धि का विवेचन तर्कभाषा इस प्रकार करती है-

बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याभिधीधते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसको सम्बोधित किया गया है, वह बुद्धि है। अथवा अर्थ के प्रकाशक को बुद्धि कहते हैं। वह अनुभव और स्मरण दो प्रकार की होती है। अनुभव भी दो प्रकार का होता है- यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान भी यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, या फिर यथार्थ का अनुमानस्वरूप अनुभव हो सकता है- उदाहरणस्वरूप धुएं को देखकर आग के यथार्थ का अनुभव। हम यहां पर इनका विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि वह आपकी अगली अध्ययन इकाइयों का विषय है।

छठा प्रमेय मन है। मन का लक्षण तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया हैः

अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव। अर्थात अन्तरिन्द्रय को मन कहा जाता है, और ऐसा कहा जा चुका है।

जैसा कि हम देख चुके हैं इन्द्रिय प्रमेय का वर्णन करते हुए तर्कभाषाकार ने छह इन्द्रियों को गिनाया

था, जिनमें पांच बाह्येन्द्रियों के बाद मन को छठी इन्द्रिय बताया गया था।

सातवां प्रमेय प्रवृत्ति है, जिसके बारे में तर्कभाषा में कहा गया हैः

प्रवृत्तिः धर्माधर्मंमयीयागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

धर्म अधर्म रूप यागादि क्रिया (और उससे उत्पन्न धर्माधर्म) प्रवृत्ति कहलाते हैं। यह प्रवृत्ति ही जगत के व्यवहार का साधक होती है।

आठवां प्रमेय द्वेष है। तर्कभाषाकार कहते हैं

दोषाः रागमोहाः।

न्याय शास्त्र के अनुसार राग, द्वेष और मोह ये तीन दोष होते हैं। राग इच्छा को कहते हैं 'द्वेष' क्रोध को कहते हैं। मोह मिथ्या ज्ञान अर्थात विपर्यय को कहते हैं।

नवां प्रमेय प्रेत्यभाव है। तर्कभाषा इसका वर्णन करते हुए कहती हैः पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः अपूर्वदेहसंघातलाभः।मर कर पुनः उत्पन्न होना ही प्रेत्यभाव कहलाता है, और पुनर्जन्म की यह अवस्था आत्मा के पूर्वशरीर की समाप्ति और नवीन शरीर की प्राप्ति है।दसवां प्रमेय फल है, जिसके बारे में तर्कभाषा कहती हैः

फलं पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारः। अर्थात सुख या दुःख में किसी के भोग के अनुभव रूप को फल कहते हैं। ग्यारहवां प्रमेय दुःख है। तर्कभाषा कहती हैः

पीड़ा 'दुःखम' अर्थात पीड़ा को दुःख कहते हैं।

अन्तिम प्रमेय अपवर्ग है जिसे मोक्ष भी कहा जाता है। अपवर्ग का लक्षण तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है-मोक्षोऽपवर्गः। स च एकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। अर्थात् मोक्ष इक्कीस प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति है।

अब आप तर्कभाषा के विवेचन के आधार पर न्याय शास्त्र के दूसरे पदार्थ प्रमेय के बारह भेदों का सामान्य परिचय प्राप्त कर चके हैं। हम अध्ययन की वर्तमान इकाई में ही प्रमाण शास्त्र के विवेचन की चर्चा करेंगे। नव्य न्याय का ग्रन्थ होने के कारण तर्कभाषा प्रमेय की अपेक्षा प्रमाणों के विवेचन पर अधिक बल देती है। गौतम प्रणीत न्यायसूत्र के जिस सूत्र में पदार्थों की गिनती बताई गई है, वहांसबसे पहले पदार्थ के रूप में प्रमाण का उल्लेख किया गया है, जो उसके महत्व को भी उद्घाटित करता है। इस सूत्र में पदार्थों का क्रम इस प्रकार गिनाया गया है-

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प- वितन्डा-

हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः।

2.5 प्रमाण विस्तृत व्याख्या

प्रमाण का लक्षण करते हुए केशव मिश्र कहते हैं- प्रमाकरणं प्रमाणम्। अर्थात् प्रमा (ज्ञान) के करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं, अर्थात ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। इसके बाद आपको प्रश्न करना चाहिए कि प्रमा क्या है। तर्कभाषाकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है- यथार्थोनुभवः प्रमा अर्थात यथार्थ अनुभव प्रमा है। तर्कभाषा ने प्रमा को यथार्थ (अनुभव) बताकर उससे संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान को अलग कर दिया है, वहीं उसे अनुभव बताकर उसे स्मृति से भी अलग कर दिया है। प्रमेयों की चर्चा करते समय हमने ऊपर पहले ही जान लिया है कि ज्ञान या बुद्धि के दो भेद हैं- अनुभव और स्मृति। संक्षेप में पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा कहलाता है। करण (साधन) क्या है इसको स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार ने कहा है-

साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।

अर्थात साधकतम को करण कहते हैं और अतिशयत साधक अर्थात सर्वोत्कृष्ट कारण को करण कहते हैं। कारण की व्याख्या को अधिक स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं कि कारण वह है कार्य के होने के पहले जिसकी सत्ता का होना अनिवार्य है। न्याय दर्शन में तीन प्रकार के कारण गिनाए गए हैं, लेकिन उनका अध्ययन हम अभी स्थगित रखेंगे, क्योंकि पहले प्रमाण-विचार का अध्ययन कर लेना हमारे लिए उपयोगी होगा।

आइए अब हम प्रमाणों के अपने अध्ययन को हम आगे बढ़ाते हैं। यह जान लेने के बाद कि 'प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं', अब हम यह जानेंगे कि वे कितने प्रकार के होते हैं। न्याय दर्शन में प्रमाण के चार भेद बताए गए हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। तथा च न्यायसूत्रम-

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।

स्वाभाविक तौर पर सबसे पहले आप प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन से परिचित होना चाहेंगे। केशव मिश्र ने प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन इस प्रकार किया है-

सक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा- सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्।तस्याः करणम् त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचिद् ज्ञानम्।

साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। और साक्षात्कारिणी प्रमा इन्द्रियजन्य होती है। वह सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की होती है। उसके करण तीन प्रकार के होते हैं- 1.

कभी इन्द्रिय , कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे की इकाई में करेंगे।

प्रमाण का दूसरा भेद अनुमान प्रमाण है, जिसकी अब हम चर्चा करेंगे। नैयायिक अनुमान प्रमाण को महत्वपूर्ण मानते हैं। अनुमान का लक्षण करते हुए तर्कभाषाकार केशव मिश्र कहते हैं-

लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरमर्शोऽनुमानम् तच्च धूमादिानमनुमितिं प्रति करणत्वात्। अगन्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्। किं पुनलिंगं कश्च तस्य परामर्शः उच्यते। व्याप्ति वलेनार्थगमकं लिंगम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिंगम्। तथाहि यत्र धूमसतत्राग्निरिति साहयर्च नियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति। अतो व्याप्तिवलेनाग्नयुपमाकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिंगम्।

तस्य तृतीयानं परामर्षः। तथाहि प्रथमं तावन्महानसादेऽभूयो -भूयो धूमं पश्यन् वहिनं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्रग्निरिति।

लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति हो, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग (चिन्ह को देखकर ज्ञान का बोध) हो, उसे अनुमान कहते हैं। इस तरह अनुमान का अर्थ है लिंग परामर्श, और यह लिंग परामर्श धूमादि ज्ञान है, (धुएं को देखकर हम अग्नि का ज्ञान कर लेते हैं)। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है। लिंग और परामर्श की व्याख्या करते हुए केशव मिश्र कहते हैं व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो उसे लिंग कहते हैं। जैसे धूम अग्नि का लिंग है। जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है, यह साहचर्य नियम है। इसी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। इसलिए व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने से धूम अग्नि का लिंग होता है। अनुमान प्रमाण का विशद विवेचन न्याय शास्त्र में किया गया है, लेकिन हम यहां उसकी चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाएंगे, क्योंकि उसका विस्तृत अध्ययन आपको न्याय दर्शन की अपनी पांचवी इकाई में करना है।

तर्कभाषा के अनुसार तीसरा प्रमाण उपमान प्रमाण है। केशव मिश्र ने उपमान का लक्षण इस प्रकार किया है-

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्य विशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। यथा गवयमजाननपि नागरिका 'यथा गौस्तया गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्क्रत्वा वनं गतो वाक्यार्थ स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमिति करणतवात्। गोसादृश्य पिण्डज्ञानानतरमयमसो गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध प्रतीतिरूपमितिः।

अतिदेश वाक्य (यथा गौस्तया गवयः) के अर्थ के स्मरण के साथ गो सादृश्य विशिष्ट पिण्ड अर्थात सवय प्राणी का ज्ञान उपमान प्रमाण है। गौ के धर्म (चरित्र) को गवय (नील गाय) में अतिदेश (व्याप्त) करने वाला वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है। भाषा की वजह से जटिल लगने वाले इस वाक्य को एक उदाहरण के जरिए तर्कभाषाकार ने आसानी से समझाने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि गवय

(नील गाय) को न जानने वाला कोई नागरिक किसी वनवासी पुरुष से 'जैसी गाय होती है वैसा गवय होता है' जैसा (अतिदेश) वाक्य सुनने के बाद अगर वन में जाता है, और वहां किसी गोसादृश्य पिण्ड (नील गाय) को देखता है, और उस पिण्ड को देखकर उसे वनवासी से सुना हुआ (अतिदेश) वाक्य याद आ जाता है, तब उस वाक्य का स्मरण उस गोसादृश्य पिण्ड (नील गाय) के ज्ञान का कारण बनता है। यह अतिदेश वाक्य उपमिति का कारण होने से उपमान प्रमाण कहलाता है। गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड के ज्ञान के बाद यह पिण्ड ही गवयपदवाच्य है। इस प्रकार की संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति ही उपमिति है।

इस प्रमाण को सरल भाषा में आप इस तरह दोबारा समझ सकते हैं। किसी शहरी बाशिन्दे ने जंगल में रहने वाली नील गाय को कभी न देखा हो, लेकिन उसने किसी वनवासी पुरुष की यह बात सुन रखी हो कि जैसी गाय होती है वैसा गवय अर्थात नील गाय होती है। वह अगर इस सादृश्य ज्ञान का बोध करने के बाद जंगल जाए, और वहां नील गाय मिलने पर वह वनवासी के उस कथन को याद करके उसे पहचान ले, तो इस तरह उसका प्राप्त ज्ञान सादृश्य ज्ञान के द्वारा हुआ है, और सादृश्य ज्ञान के द्वारा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही उपमिति कहलाता है।

शब्द प्रमाण चौथा प्रमाण है। तर्कभाषा में शब्द प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

आप्त वाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यता सन्निधिमतां पदानां समूहः। अतएव 'गौरश्वः' पुरुषे हस्ती इति पदानि न वाक्यम्। परस्परांविरहात्। 'वह्निना सिंचेदिति' न वाक्यं योग्यता वरिहात्। न ह्यग्निसंकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति। तथाहि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धे अग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिंचेदिति न वाक्यम्।

एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम्। सतयामपि परस्पराकांक्षायां सतयामपि परस्परान्वययोग्यतायं परस्परसान्निध्याभावात्। यानि तु साकांक्षाणि योग्यावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव काक्यम्। यथा- ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् इत्यादि। यथा च नदीतीरे पंच फलानि सन्ति।

आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। यथाभूत अर्थ का उपदेश करने वाला पुरुष आप्त पुरुष कहलाता है, और उसका वाक्य शब्द प्रमाण माना गया है।

यहां प्रश्न उठता है कि वाक्य क्या है। तर्कभाषाकार ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि आकांक्षा, योग्यता और पदसन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, इसलिए परस्पर आकांक्षा विरहित होने से गाय, घोड़ा, मनुष्य हाथी आदि पद वाक्य नहीं कहे जाते हैं। दूसरी ओर किसी पदसमूह में अगर योग्यता का अभाव है तो वह वाक्य नहीं होगा, उदाहरण के लिए 'अग्नि से सींचता है'

पदसमूह वाक्य नहीं है, क्योंकि अग्नि में सींचने की क्षमता अथवा योग्यता का अभाव रहता है। इसी प्रकार यदि आप एक-एक प्रहर के बाद अर्थात् बहुत रुक-रुक कर, अलग-अलग उच्चरित करें

और कहें 'गाय को ले आओ', तब भी यह पदसमूह (गाय को ले आओ) वाक्य नहीं कहलाएगा, क्योंकि परस्पर अन्वय और योग्यता होने के बाद भी इस वाक्य में पदसन्निधि का अभाव है।

अब तक आपने यह अच्छी तरह समझ लिया होगा कि आकांक्षा युक्त, योग्यता युक्त और सन्निधियुक्त पद ही वाक्य कहलाते हैं- जैसे स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करे इत्यादि वैदिक वाक्य। और जैसे नदी तीर पर पांच फल हैं, यह लौकिक वाक्य, और जैसे अविलम्ब से उच्चरित वही 'गाय को ले आओ' इत्यादि पद वाक्य हो जाते हैं।
प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों प्रमाणों के वर्णनोपरान्त तर्कभाषाकार कहते हैं-
वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भव।
अर्थात चारों प्रमाणों का वर्णन हो गया। इनके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हैं। अन्य प्रमाण इन्हों चारों प्रमाणों में अन्तर्भूत हैं।

बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. तर्कभाषा के आधार पर प्रमेयों की संख्या बताइए
2. उपमिति का क्या आधार होता है
3. शब्द प्रमाण के लिए क्या आवश्यक होता है
4. 'वन्हिना सिन्चेत' में किसका अभाव है

इसी अध्ययन इकाई में प्रमेय, प्रमाण के निरूपण के बाद आप न्यायसम्मत कारण के स्वरूप का अध्ययन भी करेंगे। कारण और कार्य में आनन्तर्य सम्बन्ध होता है। दैनिक जीवन में भी आप अनुभव करते हैं कि बिना कारण के कोई कार्य घटित नहीं होता। दार्शनिक सम्प्रदाय कारणवाद की विशद व्याख्या करते हैं। उनका मत है कि सृष्टि भी अकारण उत्पन्न नहीं हुई है। कारणवाद का सिद्धान्त भी प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदायों में अलग-अलग है। जहां सांख्य सत्कार्यवाद की विवेचना करता है वहीं नैयायिक असत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। वेदान्ती विवर्तवाद को मानते हैं और बौद्ध क्षणिकवाद को स्वीकार करते हैं। इस इकाई के अन्तर्गत आप नैयायिकों के कारणवाद का अध्ययन करेंगे जो असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद के नाम से जाना जाता है।

2.6 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या

न्याय कारण की गति प्रक्रिया के पूर्व कार्य की स्थिति को स्वीकार नहीं करता ह,ै परन्तु इस दर्शन

की यह मान्यता अवश्य है कि कारण के गुणों द्वारा कार्य के गुणों का आविर्भाव होता है। कारण की परिभाषा बताते हुए तर्कभाषाकार केशव मिश्र कहते हैं-

यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्-यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

अर्थात् कार्य से पहले जिसकी सत्ता निश्चित हो, उसको कारण कहते हैं। लेकिन जैसे तन्तु और करघा आदि पट के कारण हैं। यह वर्णन अतिव्याप्त है, क्योंकि यह अनेक ऐसी बातों पर लागू होता है जिन्हें कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए इस विवेचन में 'नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च' पद का विशेष महत्व है। कारण का विवेचन करते हुए यदि नियत शब्द नहीं रखा जाए, केवल पूर्वभाव ही रखा जाए, तो कुम्हार के द्वारा घड़ा बनाते समय जितनी वस्तुएं उपस्थित होंगी, वे सभी घट का कारण कहलाने लगेंगी, उदाहरण के लिए घड़ा बनाने के समय अगर कोई पुरुष दर्शक अथवा गधा इत्यादि कोई जानवर वहां उपस्थित हो जाए, तो घटोत्पत्ति के पूर्व-कारण का लक्षण उनमें भी सन्निहित हो जाएगा। इसीलिए तर्कभाषा के विवेचन का 'नियत' पद महत्वपूर्ण है। तन्तु व करघा इत्यादि का पूर्वभाव नियत है, अर्थात् जब पट की उत्पत्ति होगी, उसके पहले तन्तु व करघा इत्यादि की उपस्थिति आवश्यक होगी। इसलिए कपड़े के निर्माण में तन्तु करघा इत्यादि 'नियतपूर्वभावी' होने के कारण पट के कारण कहलाते हैं। इसकी व्याख्या तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है-

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः। तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसंगात्।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियत-पश्चादभावित्वं कार्यत्वम्।

इसलिए तर्कभाषाकार के अनुसार 'अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावित्व' यह कारण का लक्षण है और अनन्यथासिद्ध नियत पश्चादभावित्व कार्यत्व का लक्षण है।

आपके मन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठेगा कि यह अन्यथासिद्ध क्या है। कारण के विवेचन में यह पद विशेष महत्व का है और इसको जाने बिना आप न्याय दर्शन के कारणवाद को ठीक से नहीं समझ पाएंगे। कारण की उपर्युक्त परिभाषा को यथार्थ बनाने के लिए कुछ अपवाद बताए गए हैं, जिन्हें 'अन्यथासिद्ध' कहा गया है। इन्हें छोड़ने के बाद जो भी किसी कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो, वह उसका कारण है। न्याय वैशेषिक के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय मुक्तावली के आधार पर तर्कभाषाकार ने पांच प्रकार के अन्यथासिद्ध गिनाए हैं, हालांकि उनका अन्तर अस्पष्ट और अनिश्चित लगता है।

प्रथम अन्यथासिद्ध है 'येन सह पूर्वभावो' जिस धर्म के सहित कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे दण्ड घट का कारण है। दण्डत्व धर्म विशिष्ट दण्ड ही घट का कारण है इसलिए दण्डत्व का कारण के रूप में अलग से कथन प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

'कारणमादाय वा यस्य' यह द्वितीय प्रकार के अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वय-व्यतिरेक न हो, अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक हो, वह द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे घट के प्रति दण्डरूप का स्वतः अन्वय-व्यतिरेक नहीं है अपितु कारण के दण्ड के द्वारा अन्वय व्यतिरेक है। इसलिए दण्डरूप घट के प्रति दूसरे प्रकार का अन्यथा सिद्ध हुआ।

तीसरे अन्यथासिद्ध का लक्षण मुक्तावलीकार ने इस प्रकार दिया है-

'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्'- इसका अर्थ यह है कि किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो सके वह तृतीय अन्यथासिद्ध होता है। जैसे घट के निर्माण के पूर्व आकाश उपस्थित रहता है, लेकिन आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है। उसकी सिद्धि शब्द के समवायि कारण के रूप में अनुमान द्वारा होती है।

चौथा अन्यथासिद्ध है- जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृहयते- अर्थात् कारण का कारण चौथे प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे कुम्हार घट का कारण है लेकिन कुम्हार का पिता घट का कारण नहीं है, इसलिए वह अन्यथासिद्ध है।

'अतिरिक्तमथापि यदभवेनियतावश्यक पूर्वभाविनः' यह पांचवा अन्यथासिद्ध है। अभिप्राय यह है कि नियतावश्यक पूर्वभावी अर्थात नियत पूर्ववर्ती से अतिरिक्त जो कुछ है वह सब पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध है। जैसे पटोत्पत्ति के पूर्व 'दैवादागत रासभ' अर्थात अचानक उपस्थित होने वाला गधा इत्यादि।

पांचों अन्यथासिद्ध में पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध सबसे महत्वपूर्ण कहलाता है। इसके विशेष महत्व के कारण ही तर्कभाषाकार ने नियत पद से सूचित किया। यदि ऐसा नहीं होता तो अनन्यथासिद्ध पद से ही कारण का लक्षण पूरा हो जाता, नियत पद रखने की आवश्यकता नहीं पडती।

अन्यथासिद्धों के पांच प्रकारों के बीच के भेदों में अस्पष्टता दिखाई देती है और इस लिए उन्हें सामान्यतया 'औपाधिक बातों' के शीर्षक के तहत समझ लिया जाता है। अन्यथासिद्धों की इस योजना के सामान्य स्वरूप को समझने के लिए एक या दो उदाहरणों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा। पहला यह है कि कारण के गुण कार्य के गुण नहीं हैं, उदाहरण के लिए डंडा घड़ा का कारण है, लेकिन डंडे का रंग घड़े का कारण नहीं है। दूसरा, यह कि कारण का कारण भी कारण नहीं माना जा सकता, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि कुम्हार घड़े का कारण है, लेकिन कुम्हार का पिता घड़े का कारण नहीं है।

कारण का विवेचन जानने तथा विवेचन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के उपरान्त कारण के भेद पर भी विचार करना उचित होगा। तर्कभाषा में तीन प्रकार के कारण बतलाए गए हैं-

तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि-असमवायि-निमित्त-भेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटसय समवायि कारणम्। यत्स्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते न

तुर्यादिषु।
वह कारण तीन प्रकार का होता हैं समवायि कारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण। समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कार्य के कारण को समवायि कारण कहा जाता है, जैसे पट तन्तु का समवायि कारण हैं, क्योंकि तागे में ही समवाय सम्बन्ध से पट पैदा होता है, करघे आदि में नहीं।
इस पर प्रश्न यह पैदा होता है कि तागे के साथ सम्बन्ध के समान करघे आदि के साथ भी पट का सम्बन्ध है, तब फिर क्यों तागों मंे ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है, और तुरी आदि में नहीं होता।
आप देखेंगे कि नैयायिक इसका उत्तर बहुत ही तर्कसम्मत ढंग से देते हैं। नैयायिकों का कहना है, कि ठीक है पट का तुरी और तागे दोनों के साथ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता हैं एक संयोग और दूसरा समवाय। उन्होंने आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध होता है, और अन्यों के बीच का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होता है, समवाय नहीं।
अब ये अयुतसिद्ध क्या कहलाते हैं यह प्रश्न किया गया है। इसका उत्तर यह है कि जिन दो में एक 'अविनश्यदवस्थ' अर्थात् दूसरे के आश्रित ही रहता है, वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अर्थात् जिनको एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता, वे दोनों परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं, जैसे मेज से उसका स्वरूप अलग नहीं किया जा सकता। इस उदाहरण में मेज गुणी है और रूप उसका गुण। इसलिए गुण और गुणी परस्पर अयुतसिद्ध हैं और इनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है।
अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति और नित्य द्रव्य तथा विशेष ये पांच अयुतसिद्ध हैं और इनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है।
तर्कभाषाकार द्वारा अयुतसिद्ध के लक्षण में प्रयुक्त 'अविनश्यदवस्था' की व्याख्या भी आवश्यक है। उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-
यथा अवयवावयियिनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवा-वतिष्ठनतेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठनतेऽवयव व्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारण सामग्रीसान्निध्यम्।
जैसे अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान, जाति और व्यक्ति तथा नित्यद्रव्यं और विशेष। अवयवी आदि यथाक्रम अविनश्यदवस्था में अवयवादि के आश्रित ही रहते हैं। विनष्यदवस्था में अवयवी आदि निराश्रित हो जाते हैं। विनश्यता तो विनाशकरणों का एकत्रीकरण है।
अब दूसरा कारण असमवायिकारण है, जिसकी व्याख्या तर्कभाषाकार ने इस प्रकार की है-
असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृत सामर्थयं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु,

समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात् अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभवित्वेनं पटं प्रति कारणत्वाच्च। असमवायि कारण उसको कहते हैं जो समवायि कारण में रहता हो, और जिसमें निश्चित रूप से कार्योत्पादन की क्षमता भी विद्यमान हो, अर्थात् जिसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' यानी कि अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती हो। 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' की विशद व्याख्या इस इकाई में आप पहले ही पढ़ चुके हैं। जैसे पट के मामले में तागे समवायि कारण हैं, लेकिन तागों का संयोग गुण है, इसलिए वह पट का समवायि कारण नहीं है, बल्कि उसका असमवायि कारण है। और यह पट के समवायि कारण यानी कि तागों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने से समवायि कारण में प्रत्यासन्न कहलाएगा और अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व के लक्षण से युक्त होने से असमवायिकारण कहलाता है। संक्षेप में तन्तुसंयोग के बिना पट की उत्पत्ति असम्भव है और समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न भी है, इसलिए तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण हुआ।

तीसरा कारण क्या है? अब हम इस पर विचार करते हैं। तर्कभाषा के अनुसार निमित्त कारण उसको कहते हैं जो न समवायि कारण है और न असमवायि कारण है। फिर भी जो कारण है अर्थात जिसमें 'अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्वम्' कारण का यह लक्षण घटता है। जेसे वेमादि पट के निमित्त कारण हैं । यह तीन प्रकार के समवायि, असमवायि और निमित्त कारण भाव पदार्थों के ही होते हैं। अभाव का तो केवल एक निमित्त कारण ही होता है। उस अभाव का कहीं भी किसी भी पदार्थ के साथ समवाय सम्बन्ध न होने से कोई पदार्थ उसका समवायि कारण नहीं हो सकता, और जब समवायि कारण ही नहीं तब असमवायिकारण भी नहीं हो सकता, इसलिए अभाव का केवल निमित्त कारण ही होता है। त्रिविध कारण केवल भाव पदार्थों के होते हैं अभाव के नहीं। तर्कभाषाकार ने कहा है-

निमित्त्कारणम् तदुच्चयते। यन्न समवायिकारणं नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्, तदेतद् भावनामेव त्रिविध कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं तस्य कचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।

कारणों के बारे में तर्कभाषा के पाठ पर आधारित इस चर्चा के बाद हमारे लिए सरल शब्दों में एक और बात को समझ लेना उपयोगी होगा। सभी दर्शनों में भावात्मक कार्यों के लिए दो प्रकार के कारणों को माना गया है, एक कारण को उपादान कारण कहा जाता है तो दूसरे कारण को निमित्त कारण के नाम से जाना जाता है। न्याय दर्शन में निमित्त कारण तो लगभग वैसे ही माना जाता है जैसा बाकी दर्शनों में। लेकिन उपादान कारण के मामले में न्याय की स्थिति अन्य दर्शनों से भिन्न है। न्याय दर्शन द्रव्य और उसके गुणों में भेद करता है, और इसी भेद के अनुरूप वह समवायि कारण और असमवायि कारण के भेद को भी स्थापित करता है। संक्षेप में समवायि कारण हमेशा कोई द्रव्य होता है और असमवायि कारण कोई गुण या कर्म होता है। इसीलिए नैयायिक दो के स्थान पर तीन तरह के कारणों की योजना प्रस्तुत करते हैं।

2.7 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आपने प्रमेयों के नाम, प्रमाण और कारण के स्वरूप का अध्ययन तर्कभाषा के अनुसार किया और आपने देखा कि बारह प्रमेय गिनाए गए हैं- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

प्रमाण चार हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमिति और शब्द प्रमाण।

इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से जिस यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाण का दूसरा मुख्य साधन अनुमान है। किसी वस्तु के लिंग (विशिष्ट) चिन्ह के आधार पर प्राप्त ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसे धुएं (लिंग) को देखकर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना।

न्याय दर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है। अर्थात अज्ञान को ज्ञान के उदाहरण से जानना ही उपमान है।

प्रमाणों की चर्चा में आपने चौथे प्रमाण के रूप शब्द प्रमाण का अध्ययन किया। संक्षेप में 'शब्द प्रमाण' अथवा साक्ष्य वह ज्ञान है जो हम विश्वसनीय, सत्यवक्ता, श्रद्धेय एवं सम्माननीय व्यक्तियों केकथन द्वारा प्राप्त करते हैं।

प्रमेयों के नाम और प्रमाणों की चर्चा के उपरान्त हमने कारण के स्वरूप पर भी विचार किया है। नैयायिकों के अनुसार कारण का लक्षण है- 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च तत्कारण' अर्थात् कार्य से पहले जिसकी सत्ता निश्चिित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो, उसे कारण कहते हैं। 'नियत पूर्वभावित्वम'् और 'अन्यथासिद्ध' जैसे पदों की व्याख्या भी इसी इकाई में आपने विस्तार से पढ़ी। कारण का लक्षण बताने के बाद नैयायिकों ने तीन प्रकार के कारण बतलाए हैं- समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. प्रमेय- ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं।
2. प्रमाण- साधन अर्थात जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
3. प्रमा-यथार्थ अनुभव का नाम
4. निर्विकल्पक - नाम रूप इत्यादि के बिना जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।
5. सविकल्पक- नाम रूप इत्यादि के साथ जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।
6. लिंग- विशिष्ट चिन्ह जिसके द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है।
7. व्यप्ति- साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। उदाहरण स्वरूप जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है यह साहचर्य नियम है अर्थात् बिना आग के धुआं नहीं हो सकता। यही साहचर्य

नियम नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति कहलाता है।

8. आकांक्षा- सार्थक सम्बन्ध- अर्थ प्रतिपादन द्वारा अन्य पदों के बारे में आकांक्षा उत्पन्न होती है।

9. योग्यता- योग्यता से तात्पर्य पद समूह में कार्य की योग्यता से है। जैसे अग्नि में सींचने की योग्यता नहीं है।

10. सन्निधि- पदों का शीघ्रता से उच्चारण सन्निधि कहलाता है

11. समवाय- अलग न किए जा सकने वाले सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। जैसे मिट्टी और घड़ा।

12. अन्यथासिद्धि- अन्य प्रकार से सिद्ध किया जाने वाला कार्य अन्यथा सिद्ध कहलाता है।

बोध प्रश्न 2.

1. अपवर्ग किसके अन्तर्गत आता है?
2. परामर्श शब्द का प्रयोग किस प्रमाण में किया गया है?
3. प्रमाणों की संख्या कितनी है?
4. निर्विकल्पक क्या है?
5. पट का समवायि कारण कौन सा है।
6. घड़े का निमित्त कारण बताइए।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

1. बारह
2. सादृश्य ज्ञान
3. आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि
4. योग्यता का

बोध प्रश्न 2.

5. प्रमेय के अन्तर्गत
6. अनुमान प्रमाण में
7. चार
8. प्रत्यक्ष

9. तन्तु

10. कुम्हार

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990

डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987

गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992

दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988

शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991

राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस

शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986

चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980

2.11 निबन्धात्मक प्रश्नः

1. प्रमाण चतुष्टय का संक्षेप में वर्णन कीजिए
2. असमवायिकारण क्या है? लक्षण और उदाहरण के साथ समझाइए।
3. अन्यथा सिद्ध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

इकाई- 3 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष

इकाई की रूपरेखाः

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 प्रमाण परिभाषा एवं व्याख्या

3.4 प्रत्यख प्रमाण

3.4.1 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

3.4.2 सविकल्पक प्रत्यक्ष

3.5 षोड़ा सन्निकर्ष

3.5.1 संयोग सन्निकर्ष

3.5.2 संयुक्त समवाय सन्निकर्ष

3.5.3 संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष

3.5.4 समवाय सन्निकर्ष

3.5.5 समवेत समवाय सन्निकर्ष

3.5.6 विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष

3.6 अलौकिक प्रत्यक्ष

3.7 सारांश

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

3.9 बो ध प्रश्नों के उत्तर

3 .10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1प्रस्तावना

पूर्व की अध्ययन इकाइयों में आप न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास, प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय की तत्त्व मीमांसा पढ़ चुके हैं। इसके अतिरिक्त नव्य न्याय के प्रमुख ग्रन्थ व अपनी आधार-पाठ्य पुस्तक तर्कभाषा के आधार पर आप न्याय दर्शन के दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेयों के नाम जानने के अतिरिक्त न्याय दर्शन के प्रथम पदार्थ अर्थात प्रमाण, व न्याय दर्शन के कारण व उसके स्वरूप पर विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। आप नव्य न्याय के सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त अर्थात प्रमाणों के स्वरूप तथा कारण के स्वरूप पर विचार मंथन कर चुके हैं। आपने अपने इस अध्ययन को तर्कभाषा में वर्णित मूल पाठ व उनकी व्याख्या के आधार पर संचालित किया है, जिससे इन सिद्धान्तों को प्रामाणिक तौर पर समझने में आपको सहायता हुई होगी। प्रमाणों का संक्षिप्त अध्ययन करते समय आपने न्याय सम्मत चार प्रमाणों के बारे में जो जानकारी प्राप्त की थी, उसके अनुसार न्याय दर्शन में वर्णित प्रमाणों के चार भेद इस प्रकार थे- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वर्तमान इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण के बारे में विस्तृत अध्ययन करेंगे।

पूर्व इकाइयों के अपने अध्ययन के आधार पर आप को स्मरण होगा कि न्याय दर्शन की दो शाखाएं हैं, एक को प्राचीन न्याय कहते हैं और दूसरे को नव्य न्याय। प्राचीन न्याय जहां पदार्थ मीमांसा पर जोर देता है, वहीं नव्य न्याय का केन्द्रीकरण प्रमाण मीमांसा पर है। गौतम प्रणीत न्याय सूत्र प्राचीन न्याय का ग्रन्थ है, तो गंगेश उपाध्याय कृत तत्त्व चिन्तामणि नव्य न्याय का आधार गन्थ माना जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ मीमांसा के प्रणेता महर्षि गौतम हैं और प्रमाण मीमांसा के प्रणेता गंगेश उपाध्याय हैं। तर्क भाषा नव्य न्याय का ग्रन्थ है, और अभी तक के विवेचनों से आप यह भली-भांति समझ गए होंगे कि नव्य न्याय का ग्रन्थ होने के कारण प्रमाण विचार ही उसका मुख्य उद्देश्य है। अपनी तीसरी अध्ययन इकाई में आपके द्वारा पढ़े गए चार प्रमाणों में पहले प्रमाण अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण का आप वर्तमान इकाई के अन्तर्गत विस्तृत अध्ययन करेंगे।

3.2उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप न्याय दर्शन में वर्णित प्रत्यक्ष प्रमाण के विस्तृत अध्ययन के पश्चात-

1. प्रमाण का अर्थ बता सकेंगे।

2. प्रमाण के पहले भेद प्रत्यक्ष प्रमाण की तर्कभाषा आधारित परिभाषा के आधार पर उसकी स्पष्ट व्याख्या कर सकेंगे

3. इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष क्या होता है, इसकी जानकारी आपको हो सकेगी।

4.इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के कितने भेद होते हैं और वे कौन-कौन से हैं, इसका निर्धारण भी आप करेंगे ।

3.3 प्रमाण परिभाषा एवं व्याख्या

नैयायिक सर्वप्रथम प्रमाण विचार प्रस्तुत करते हैं। नैयायिकों के अनुसार यथार्थ ज्ञान का बोध कराने वाला प्रमाण कहलाता है। जैसा कि आप अपने पूर्व अध्ययन से जान चुके हैं कि न्याय दर्शन अपनी चर्चा को बेहद तार्किक और वैज्ञानिक ढंग से आगे बढ़ाता है, इसीलिए उसे हेतु विद्या या आन्वीक्षिकी भी कहा जाता है। अपनी इस प्रसिद्धि के अनुरूप न्याय दर्शन ने प्रमाण विश्लेषण को भी अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी तार्किक युक्तियों का विधान और सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करने की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत होती है। ज्ञान न्याय का सर्वोच्च विषय है। नैयायिक मिथ्या ज्ञान को ही निःश्रेयस अर्थात जीवनमुक्ति के मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध मानते हैं। उनके विधान के अनुसार प्रमाण के द्वारा ही यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

तर्कभाषा को आधार बनाते हुए अब हम सबसे पहले प्रमाण के पहले भेद अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा तर्कभाषाकार केशव मिश्र इस प्रकार करते हैं-

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रिजा। साच्च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।

अर्थात प्रमा का जो साधन है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा अथवा ज्ञान इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, और इन्द्रिय के सम्पर्क से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है- पहला सविकल्पक दूसरा निर्विकल्पक। जिसमें निर्विशेष वस्तुमात्र का ग्रहण होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है, अर्थात जहां हमें वस्तु के स्वरूप की प्रतीति मात्र होती है, उसके नाम जाति इत्यादि के विस्तार का हमें ज्ञान नहीं होता, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाती है। इसके विपरीत नाम जाति इत्यादि के विस्तार से युक्त ज्ञान को न्याय दर्शन में सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा गया है।

सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

दैनिक व्यवहार में आने वाली प्रायः सभी वस्तुएं सविकल्पक प्रत्यक्ष के ही उदाहरण हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान के अन्तर को सरल शब्दों में आप के उदाहरण के जरिए आसानी से समझ सकते हैं। मान लीजिए कहीं पर एक घड़ी है, जिसको एक बालक देखता है, और उसके साथ एक प्रौढ़ पुरुष भी उस घड़ी का साक्षात करता है। घड़ी का साक्षात करते समय घड़ी के स्वरूप का जो ज्ञान होता है वह बालक और प्रौढ़ पुरुष में एक समान होता है। लेकिन अर्थ के ग्रहण काल में दोनों

का ज्ञान समान होने के बावजूद उन दोनों के ज्ञान में एक महत्वपूर्ण अन्तर होता है, प्रौढ़ व्यक्ति घड़ी के नाम जाति आदि से भी परिचित होता है, परन्तु बालक नाम-जाति की इन बातों से अनभिज्ञ होता है। अतः व्यवहार काल में प्रौढ़ व्यक्ति का ज्ञान सविकल्पक हो जाता है, जबकि बालक उसके नाम जाति आदि से अनभिज्ञ रहने के कारण वैसा व्यवहार नहीं कर सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि अर्थ (विषय) के ग्रहण काल में प्रौढ़ पुरुष और बालक दोनों को निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रौढ़ पुरुष शीघ्रतासे उसके नाम जाति आदि का स्मरण कर लेता है, इसलिए उसका निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है।

अभी तक आपने यह पढ़ा कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित होता ह,ै और न्याय दर्शन में उसके सविकल्पक और निर्विकल्पक नामक दो प्रकार के भेद माने गए हैं। आगे तर्कभाषाकार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों की चर्चा करते हुए तीन प्रकार के साधनों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' तीन होते हैं- 'तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।'

अर्थात् पहला इन्द्रिय, दूसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान। जैसा कि आप अपनी पूर्व इकाइयों में पढ़ चुके हैं, न्याय की पारम्परिक शब्दावली में 'करण' का अर्थ प्रमुख या असाधारण कारण माना जाता है।

यही तीन 'करण' प्रत्यक्ष ज्ञान का माध्यम बनते हैं, और तर्कभाषा में पं केशव मिश्र ने इन तीन कारणों को सरल ढंग से व्याख्यायित किया है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान के उल्लेख के बाद उन्होंने चौथे े क्रम में सविकल्पक ज्ञान और पांचवे क्रम में हानोपादानोपेक्षा बुद्धि इन दोनों फलों को भी जोड़ दिया है, और इस प्रकार उन्होंने पांच कड़ियों वाली एक श्रृंखला प्रस्तुत की है- ?

इन पांचों में यदि पहले को हम असाधारण कारण अथवा करण मानते हैं, तो दूसरा अवान्तर व्यापार यानी क्रिया और तीसरा उसका फल होगा। ठीक इसी प्रकार यदि दूसरे को हम करण मानते हैं तो तीसरा अवान्तर व्यापार और चौथा फल होगा। तीसरे को यदि करण रूप में स्वीकार करते हैं तो चौथा अवान्तर व्यापार और पांचवा उसका फल होगा। संक्षेप में आप इस योजना के एक उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते सकते हैं- मान लीजिए जब इन्द्रिय करण है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होगा और निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात नामाजाति आदि से रहित जो ज्ञान होगा वह उसका फल कहलाएगा। जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को करण माना जाएगा तो निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और सविकल्पक ज्ञान अथवा नाम जाति आदि सहित वस्तु का ज्ञान फल होगा। इसी तरह जब तीसरी संख्या अथवा निर्विकल्पक ज्ञान करण होगा तो सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि इसकी फल होगी। इस त्रिविध करणों की सरल व्याख्या के पश्चात न्याय

शास्त्रीय भाषा में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है-

कदा पुनरिन्द्रियं करणम? यदा निर्विकल्पक रूपा प्रमा फलम्। तथा हि आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व नियमात्। ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहिकिंचिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं परशोरिव हिदा।

तर्कभाषा के इस मूल पाठ में त्रिविध कारणों में से प्रथम करण 'इन्द्रिय' की व्याख्या की गई है और उसके अवान्तर व्यापार तथा फल को समझाने का प्रयास कतिपय उदाहरणों द्वारा किया गया है, जो इस प्रकार है- इन्द्रिय को करण कब माना जाता है? जब निर्विकल्पक रूप प्रमा यानी यथार्थ ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए आत्मा के साथ मन का संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय के साथ, तब इन्द्रिय अर्थ अर्थात विषय के साथ संयुक्त होती है और फिर इन्द्रियों के वस्तु को प्राप्त करके ही अर्थ को प्रकाशित करने का नियम होने से। तब अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि से रहित वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान कराने वाला निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। और ऐसी स्थिति में नामाजात्यादि योजना से रहित निर्विकल्पक ज्ञान का करण अर्थात् असाधारण कारण इन्द्रिय होती है। तर्कभाषा में लकड़ी को फरसे से काटे जाने का उदाहरण देते हुए इस बात को इस प्रकार समझाया गया है- जैसे छेदन क्रिया का करण फरसा होता है, और इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है। इस तरह फरसा का लकड़ी के साथ संयोग अवान्तर व्यापार होता है और निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात फरसे रूप करण का फरसा और लकड़ी के संयोग रूप अवान्तर व्यापार द्वारा फल लकड़ी का कटना होता है।

अभी तक की व्याख्या से और उदाहरणों से आपने यह समझ लिया होगा कि इन्द्रिय रूप करण से निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है। अवान्तर व्यापार भी नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली है। तर्कभाषा में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापरः।

अर्थात जो स्वयं उस करण से जन्य हो, और उस करण से उत्पन्न होने वाले फल का जनक हो, उसे 'अवान्तर व्यापार' कहते हैं। जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी काटने की क्रिया में कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग अवान्तर व्यापार है क्योंकि वह कुल्हाड़ी जन्य है और साथ छेदन रूप फल का जनक भी है।

अब इन्द्रियों की करण के रूप में व्याख्या करने के बाद दूसरे करण अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को समझने की कोशिश करेंगे। 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' कब करण होता है, यह जानना भी आप के लिए आवश्यक है। इसको समझने के लिए भी सबसे पहले हमें मूल पाठ पर ध्यान देना होगा। वह इस

प्रकार है-

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम? यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानम् फलम्।

अर्थात् इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है? जब निर्विकल्पक ज्ञान के बाद सविकल्पक ज्ञान अर्थात नामजात्यादि सहित नाम युक्त प्रतीति (यह डित्थ (प्राणी) है) जाति युक्त प्रतीति (यह ब्राह्मण है) रूप गुण विशिष्ट प्रतीति अर्थात (यह श्याम वर्ण का है) उत्पन्न होता है। इस प्रकार के विशेषणविशेष्य भाव विषयक ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और सविकल्पक ज्ञान फल होता है।

अब तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान कब करण होता है, इसका उत्तर तर्कभाषा में इस प्रकार दिया गया है-

कदा पुनर्ज्ञानं करणम्? यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः हानादि बुद्धयः फलम्।

और निर्विकल्पक ज्ञान कब करण होता है? जब सविकल्पक ज्ञान के बाद जानी गई वस्तु को त्यागने अथवा उसकी उपेक्षा करने की (‘हानोपादानोपेक्षा‘) बुद्धि उत्पन्न होती है, तब निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है, जबकि सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और त्याग, ग्रहण अथवा उपेक्षा करने की बुद्धि अर्थात् हानोपादानोपेक्षा बुद्धि फल कहलाती है।

षोड़ा सन्निकर्ष

त्रिविध करणों के प्रतिपादन स्वरूप आपने यह समझ लिया होगा कि निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है, और निर्विकल्पक ज्ञान फल है। सविकल्पकज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और सविकल्पक ज्ञान फल होता है। हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल के समय निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और हानोपादानोपेक्षा बुद्धि फल होती है। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप एक अवान्तर व्यापार है। सविकल्पक की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान ये दो अवान्तर व्यापार हैं और हानोपादानोपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान ये तीनों अवान्तर व्यापार हैं। इन्द्रिय और अर्थ का जो सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है, न्याय दर्शन में उसे छह प्रकार का माना गया है, और वह षोढ़ा सन्निकर्ष के नाम से जाना जाता है-

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षडविध एव। तद्यथा संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति।

तर्कभाषा से उद्धृत इस अंश में षोढा सन्निकर्ष के नाम गिनाए गए हैं और आप देख सकते हैं कि पहला इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयोग, दूसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय, तीसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय, चौथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष समवाय, पांचवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष समवेत समवाय और छठा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष विशेषण विशेष्यभाव के नाम से गिनाया गया है। तर्कभाषा के अनुसार एक-एक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के लक्षण, उदाहरण इत्यादि को प्रस्तुत कर हम इनका सुस्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

संयोग सन्निकर्ष

प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का नाम संयोग सन्निकर्ष है। संयोग सन्निकर्ष तब होता है जब नेत्र के द्वारा घट का ज्ञान होता है, अैार तब चक्षु इन्द्रिय और घट का अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही होता है। केशव मिश्र कृत तर्कभाषा में संयोग सन्निकर्ष की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव अयुतसिद्धयभावात्। मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियं, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

अर्थात नेत्र के द्वारा घडे का ज्ञान जब उत्पन्न होता है अथवा मन के द्वारा जब आत्मा का ज्ञान होता है इन दोनों स्थितियों में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयोग होता है, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ में परस्पर अयुतसिद्ध सम्बन्ध का अभाव है।

आपको ध्यान होगा कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध हमेशा समवाय सम्बन्ध होता है और विनाशकाल से पूर्व ये एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। क्योंकि यहां चक्षु (इन्द्रिय) और घट (अर्थ) तथा मन (इन्द्रिय) और आत्मा (अर्थ) ये दोनों उदाहरण अयुतसिद्ध नहीं हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होगा। इन दोनों उदाहरणों में प्रथम उदाहरण बाह्येद्रिय के सन्निकर्ष का और द्वितीय उदाहरण अन्तरेन्द्रिय के सन्निकर्ष का है।

संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष

दूसरा सन्निकर्ष जैसा कि आप तर्कभाषा के उद्धरण से जान चुके हैं संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के नाम से जाना जाता है। इसका भी अध्ययन आपको तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर करना है। तर्कभाषा में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है-

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामरूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं घटरूपमर्थः अनयोः सन्नकर्षः संयुक्त समवाय एव। चक्षुसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ ग्राह्यमाणे अयमेव सन्निकर्षः।

अर्थात जब चक्षु आदि से घट में स्थित रूपादि का ग्रहण होता है, उदाहरण के लिए घट में श्याम

रूप है ऐसा ज्ञान होता है, तो यह ज्ञान संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से होता है। इसमें चक्षु इन्द्रिय है, घड़ा अर्थ है और घड़े में श्याम रूप समवाय सम्बन्ध से स्थित है। इसको सरल ढंग से आप इस तरह समझ सकते हैं कि इन्द्रिय (चक्षु) और घट (अर्थ) का सन्निकर्ष होने के पश्चात ही घड़े में स्थित श्याम रूप का ज्ञान सम्भव होगा। इन्द्रिय (चक्षु) के द्वारा अर्थ का ज्ञान 'संयोग सन्निकर्ष' के द्वारा होता है, इस बात का अध्ययन आप 'संयोग सन्निकर्ष' की व्याख्या पढ़ते समय कर चुके हैं। लेकिन जब घड़े के अन्दर स्थित श्याम रूप का ज्ञान होगा, अर्थात घड़ा श्याम वर्ण का है इस प्रकार का ज्ञान होगा, तो यह ज्ञान संयुक्त समवाय सन्निकर्ष के द्वारा ही होगा। इस उदाहरण में संयोग सन्निकर्ष से घट के ज्ञान की उत्पत्ति होगी, तदोपरान्त घट में समवाय रूप से स्थित श्याम रूप का ज्ञान सम्भव हो पाएगा। अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध में भी आप संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से मन के द्वारा आत्मा में समवाय समबन्ध से स्थित सुखादि गुणों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। समवाय सम्बन्ध आप समवायि कारण की चर्चा करते समय अपनी पूर्व इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। आप जानते हैं कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं, अर्थात् अपने अस्तित्व काल में जिनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता हो वही सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाते हैं। तर्कभाषाकार ने संयुक्त समवाय सन्निकर्ष का वर्णन करते समय 'चतुष्टय सन्निकर्ष' का भी वर्णन किया है। ये चतुष्टय सन्निकर्ष क्या हैं? जिनसे घट से सम्बन्धित परिमाण इत्यादि बातों का बोध होता है उन्हें तर्कभाषाकार ने चतुष्टय सन्निकर्ष बताया है। ध्यान देने की बात यह है कि यह ज्ञान भी संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से ही होता है, किन्तु इसमें इन्द्रियावयव और अर्थावयवी का सन्निकर्ष (इन्द्रिय अवयवी के साथ अर्थ के अवयवों का) और इन्द्रियावयवी और अर्थावयवी का सन्निकर्ष आवश्यक होता है।

संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष

घटगत परिमाणादिग्रहे चतुष्टसन्नकर्षोऽप्यधिकं कारणमिच्यते। सत्यापि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा-इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्। इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्। इन्द्रियावयवैऽर्थावयवानाम्। अथावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति।

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादि सामान्यं गृह्यते, तदा चुक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेत समवाय एव। चक्षु संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

जब चक्षु से घट में समवेत रूपत्व (रूप जाति का) का ज्ञान ग्रहण किया जाता है, तो चक्षु और घट का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष कहलाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप का ज्ञान समवाय सम्बन्ध से होता है, यह बात अभी-अभी आप ऊपर पढ़ चुके हैं। और उस रूप में रूपत्व जाति का समवाय सम्बन्ध है, यह भी आप जान चुके हैं। इसलिए रूपत्व जाति के साथ चक्षु परम्परया संयुक्तसमवेत समवाय सम्बन्ध हुआ। इस तरह आपने देखा कि तीसरा सन्निकर्ष संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष है, जिससे घट में स्थित रूप में रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष

ज्ञान हासिल होता है। इस सन्निकर्ष में चक्षु और घट के बीच संयोग अथवा संयुक्त सम्बन्ध होता है, और घट में समवाय सम्बन्ध से स्थित रूप और रूप में समवाय सम्बन्ध से स्थित रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है।

आपने प्रारम्भ में ही यह पढ़ा था कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः प्रकार के होते हैं, जिनमें आपने संयोग सन्निकर्ष, संयुक्त समवाय सन्निकर्ष और संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष की जानकारी तर्कभाषा के अनुसार से अभी तक आप विस्तार से प्राप्त कर चुके हैं। अब आप चौथा सन्निकर्ष अर्थात 'समवाय सन्निकर्ष' क्या होता है, इसका उत्तर क्या होता है, यह जानने की कोशिश करेंगे। तर्कभाषाकार नें कहा है-

समवाय सन्निकर्ष

यदा श्रोतेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोतमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोतम्ा। श्रोतस्याकाशात्मकत्वाच्छशब्दरूप चाकाश गुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

अर्थात श्रोतेन्द्रिय से जब शब्द का ज्ञान ग्रहण होता है तब श्रोत इन्द्रिय और शब्द अर्थ होता है, और इन दोनों का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है। क्योंकि न्याय दर्शन के मतानुसार कर्णशष्कुली से घिरा हुआ आकाश श्रोत है अर्थात श्रोतेन्द्रिय आकाश स्वरूप ही है, और वह आकाश से अतिरिक्त नहीं है। आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि शब्द आकाश का ही गुण होता है। दूसरी ओर आप यह भी जानते हैं कि गुणी और गुण मंे समवाय सम्बन्ध होता ह,ै इसलिए आकाश (गुणी) और शब्द (गुण) में समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसलिए जब श्रोतेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है तो वह समवाय सन्निकर्ष से होता है।

समवेतसमवाय सन्निकर्ष

पांचवा सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' के नाम से जाना जाता है। आपके मन में यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो रही होगी कि यह समवेतसमवाय सन्निकर्ष क्या है? इस जिज्ञासा का समाधान तर्कभाषाकार ने इस प्रकार किया है-

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोतेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोतमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव। श्रोतसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अर्थात जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व आदि सामान्य जाति का ज्ञान श्रोतेन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत इन्द्रिय तथा शब्दत्व सामान्य अर्थ है। शब्दत्व शब्द में समवाय सम्बन्ध से होता है, यह आप पहले से ही समझते हैं, क्योंकि आपने यह पढ़ रखा है कि व्यक्ति और जाति में समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व जाति है, इसलिए आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द

में समवाय से रहने वाली शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' से होगा। आकाश और शब्द में भी समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि गुणी और गुण में भी समवाय सम्बन्ध होता है, यह आप चौथे सन्निकर्ष अर्थात् 'समवाय सन्निकर्ष' की चर्चा के दौरान जान चुके हैं।

विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष

अब हम छठे सन्निकर्ष अर्थात 'विशेष्य विशेषणभाव' को जानेंगे। 'विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष' कब होता है यह जानने के लिए हम तर्कभाषा में वर्णित प्रसंग को उद्धृत कर उसकी व्याख्या करेंगे। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने 'विशेष्यविशेषणभाव' को इस तरह समझाने का प्रयास किया है-

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इहभूतले घटो नास्ति' इति तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम्। ध्दा च मनःसंयुक्त आत्मानि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित इति, तदा मनः संयुक्तास्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोतसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोतसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्'

विशेष्यविशेषणभाव कब होता है? जब चक्षु से संयुक्त भूतल में घट के अभाव का ज्ञान होता है। अर्थात् भूतल में घड़ा नहीं है यह ज्ञान विशेष्यविशेषणभाव से होता है। इसमें चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है, जबकि भूतल विशेष्य है। इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में सुखादि का अभाव ग्रहण किया जाता है तब आत्मा में सुखाभाव विशेषण होता है। और जब श्रोत में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गकार में घत्व (ग में घ) आदि जाति का अभाव गृहीत होता है, तब श्रोत समवेत गकार का घत्वाभाव (अर्थात ग में घ का अभाव) समवेत समवाय सम्बन्ध से विशेषण होता है और इनका ग्रहण विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से होता है।

संक्षेप में विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष को आप इस तरह समझ सकते हैं कि ऊपर वर्णित पांच प्रकार के सन्निकर्षों में किसी एक सम्बन्ध का, अर्थात् संयोग सम्बन्ध, संयुक्त समवाय सम्बन्ध, संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध और समवेत समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध अभाव का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा ही किया जाता है।

नैयायिकों की भाषा में प्रत्यक्ष ज्ञान क्या होता है वह कितने प्रकार का होता है? इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष क्या है और उसके कितने भेद होते हैं? अब तक इन बातों की चर्चा वर्तमान इकाई में हम कर चुके हैं। आइए अब इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हैं।

सर्वप्रथम जब हम प्रत्यक्ष ज्ञान का अध्ययन कर रहे थे तो आपने जरूर देखा होगा कि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार के भेदों, अर्थात निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों, से युक्त बताया गया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह होता है जो नाम जात्यादि योजना से रहित होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक अवस्थाएं घुली-मिली रहती हैं। ये वस्तुतः अविभाज्य हैं और इनका विभाग केवल बुद्धि कृत है।

मान लीजिए कि हमें सड़क पर एक मटमैली वस्तु दिखाई देती है, पास जाने पर उसका ज्ञान एक मैली सी रस्सी के रूप में होता है। इस ज्ञान में पूर्व ज्ञान अर्थात् पहला ज्ञान जो उत्पन्न हुआ वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हुआ और उत्तर ज्ञान अर्थात् बाद वाला ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष हुआ। स्पष्ट है कि यथार्थ में इस ज्ञान का बोध वस्तुतः अविभाज्य रूप में होता है।

निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की जब हम चर्चा करते हैं तो हमें यह भी अवश्य जान लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष को हम पुनः दो भागों में बांट सकते हैं- लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष, इन्हें हम एक और नामकरण अर्थात साधारण प्रत्यक्ष और असाधारण प्रत्यक्ष से भी जानते हैं। इनमें लौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद पाए जाते हैं, जिन्हें हम बाह्य और मानस नाम से जानते हैं। बाह्य प्रत्यक्ष में चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत जैसी ज्ञानेन्द्रियां बाह्य पदार्थों के सन्निकर्ष में आती हैं, तथा रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष करती हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बाह्य प्रत्यक्ष में भी मन एवं इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और आत्मा तथा मन का संयोग भी बना रहता है। मानस प्रत्यक्ष में मन या अन्तरिन्द्रिय का मनोभावों से सन्निकर्ष होता है एवं आत्मा तथा मन का संयोग बने रहने पर ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा यत्नादि का प्रत्यक्ष होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत बाह्य एवं मानस प्रत्यक्ष के अन्तर को आपने समझ लिया है। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है- सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। तर्कभाषाकार ने केवल छह (षोड़ा) लौकिक सन्निकर्षो का ही प्रतिपादन किया है। क्लिष्टता के कारण उन्होंने तीनों अलौकिक सन्निकर्षो का प्रतिपादन नहीं किया है।

बोध प्रश्न-1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कितने प्रकार का होता है?
2. जाति के ज्ञान में कौन सा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है?
3. सविकल्पक प्रत्यक्ष क्या है?
4. सामान्य धर्म क्या है?

अलौकिक प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्ट जानकारी के लिए की दृष्टि से इन तीनों अलौकिक प्रत्यक्ष की संक्षिप्त जानकारी आपको पाठ्य वस्तु को समझने में सहायता करेंगे। 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति', 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' और 'योगज' सन्निकर्ष ये तीन भेद अलौकिक प्रत्यक्ष के हैं। जब हम एक वस्तु का ज्ञान

प्राप्त कर लेते हैं तो उस प्रकार की समस्त वस्तुओं को अपने आप समझ लेते हैं। हर एक वस्तु के ज्ञान के लिए अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उनमें रहने वाले सामान्य धर्म का ज्ञान यदि हमें हो जाता है तो उस सामान्य धर्म के ज्ञान के द्वारा ही समस्त सजातीय वस्तुओं का सामान्य ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि आप ससोईघर में धुआं और आग को दूखते हैं तो वहां धूमत्व सामान्य से समस्त धुएं का और वन्हित्व सामान्य से समस्त वन्हियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। तभी धूम्र सामान्य और वन्हि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। एक और उदाहरण देखते हैं। मान लीजिए हम विविध गायों या मनुष्यों को देखते हैं, किन्तु गोत्व या मनुष्यत्व को नहीं देखते। गोत्व जाति या मनुष्यत्व जाति सभी गायों या सभी मनुष्यों का सामान्य धर्म है, और यह लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इस गोत्व या मनुष्यत्व जाति का प्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है।

दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' है। जब एक ज्ञानेन्द्रिय से किसी वस्तु का लौकिक सन्निकर्ष होता है, और इस तरह वह ज्ञानेन्द्रिय उस वस्तु के स्वाभाविक गुण को ग्रहण करती है, लेकिन साथ ही साथ उसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उसी वस्तु के किसी अन्य गुण को जिसे ग्रहण करने ग्रहण करने की कल्पना की जाती है, लेकिन उस गुण को ग्रहण करने में वह ज्ञानेन्द्रिय सक्षम नहीं है, तो यही ज्ञान बोध की कल्पना 'लक्षणा प्रत्यासत्ति' कहलाती है। मान लीजिए 'सुरभिचन्दन खण्डम्' यह ज्ञान है। एक दिन बाजार में किसी व्यक्ति ने चन्दन के टुकड़े को सूंघा और परीक्षा करने के बाद यह निश्चय किया कि यह सुगन्धित टुकड़ा चन्दन का टुकड़ा है। दूसरे दिन किसी ग्राहक ने यह चन्दन का टुकड़ा उस व्यक्ति को दिखलाकर उसके विषय में उसकी सम्मति जाननी चाही, जिस पर उस व्यक्ति ने दूर से ही देखते हुए कहा कि यह टुकड़ा सुगन्धित चन्दन का है। इस घटना में उस व्यक्ति ने चन्दन को आंखों से तो देखा, परन्तु उसकी सुगन्ध को अपनी घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया, लेकिन उस व्यक्ति को फिर भी 'सुरभिचन्दन खण्डम्' की प्रतीति हो जाती है। इस प्रतीति में चन्दन और चन्दनत्व नामक जाति और उसके सौरभ गुण तीनों को चाक्षुष प्रत्यक्ष बताना 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से सम्भव होता है। तीसरा अलौकिक प्रत्यक्ष योगज प्रत्यक्ष है। भूत, भविष्य आदि की वस्तुओं के साथ लौकिक इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं बन पाता है। अतएव वहां योगियों को अपनी योगज सामर्थ्य से अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हो जाता है। इस तरह से 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' 'ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति' तथा योगज प्रत्यक्ष की तीनों कोटियां अलौकिक प्रत्यक्ष की श्रेणी में आते हैं। अपने इस अध्ययन की संक्षिप्त पुनरावृत्ति हम एक बार फिर से कर लें, ताकि नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान को हम और स्पष्ट रूप में समझ सकें।

3.7 सारांश

पहले आपने प्रत्यक्ष के दो भेद जाने- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष। लौकिक और

अलौकिक की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान का एक और विभाजन किया गया। फिर लौकिक प्रत्यक्ष-बाहय और मानस दो प्रकार का बताया गया। अलौकिक प्रत्यक्ष की तीन श्रेणियां बताई गईं- 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' और योगज प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों के विभाजन के उपरान्त इस इकाई में आपने यह भी पढ़ा कि लौकिक प्रत्यक्ष का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और वह सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है। संयोग सन्निकर्ष जैसे इन्द्रिय तथा घट का सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष माना जाता है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा घट में स्थित श्याम रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से होता है। फिर जब हम घट में घटत्व आदि सामान्य जाति का प्रत्यक्ष करते हैं तो वह संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है। चौथा सन्निकर्ष समवाय सन्निकर्ष है जो श्रोतेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण करते समय होता है।

समवेत समवाय नामाक सन्निकर्ष शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व जाति ग्रहण के समय होता हैं

छठा सन्निकर्ष विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है। जब हमें भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है तो वह विशेषणविशेषभाव सन्निकर्ष से होता है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा- यथार्थ ज्ञान

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष- बाह्येन्द्रियों (चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत) तथा अन्तरिन्द्रिय मन का अर्थ यानी जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है उसके साथ सम्बन्ध

निर्विकल्पक- नाम जाति आदि से रहति किसी वस्तु का पत्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान

सविकल्पक- नाम जाति आदि के साथ उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान

हानोपादानोपेक्षा बुद्धि- त्याग करना है अथवा ग्रहण करना है इसकी बुद्धि

अवान्तर व्यापार- किसी से उत्पन्न तथा अन्य किसी वस्तु को उत्पन्न करने वाला अर्थात् मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला

अयुतसिद्ध सम्बन्ध- अस्तित्वकाल में जिसे एक दूसरे से अलग न किया जा सके।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति- सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति- पूर्व में ग्रहण किए गए ज्ञान के आधार पर उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान

योगज प्रत्यक्ष- योगियों के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष

लौकिक प्रत्यक्ष- सामने अथवा प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न ज्ञान

अलौकिक प्रत्यक्ष- जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान सीधे-सीधे न हो

अनुव्यवसाय- ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान

बोध प्रश्न-2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. लौकिक प्रत्यक्ष कितने प्रकार का होता है?
2. योगज सन्निकर्ष किस श्रेणी में आता है
3. सुरभिचन्दनखण्डम् किस प्रत्यक्ष का उदाहरण है?
4. मनुष्यत्व अथवा गोत्व जाति का प्रत्यक्ष कैसे होता है?

4.7 उत्तर माला बोध प्रश्न 1

1. छह
2. संयुक्तसमवेतसमवाय
3. नामजाति आदि के साथ उत्पन्न ज्ञान
4. जाति

बोध प्रश्न-2

1. दो-बाह्य और मानस
2. अलौकिक प्रत्यक्ष
3. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति का उदाहरण
4. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से

3 .10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990

डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987

गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992

दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988

शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991

राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस

शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986

चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980

सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004

अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत कीजिए
2. सविकल्पक प्रत्यक्ष क्या होता है, इसकी विस्तृत व्याख्या कीजिए
3. षोढ़ा सन्निकर्ष का संक्षेप में वर्णन कीजिए
4. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति की व्याख्या कीजिए

इकाई- 4 तर्कभाषा - अनुमान प्रमाण - व्याप्ति एवं इसके भेदों की मीमांसा - मूल पाठ अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 परिचय
4.4 लक्षण एवं उदाहरण
4.5 अनुमान के भेद
4.5.1 स्वार्थानुमान
4.5.2 परार्थानुमान
4.6 व्याप्ति की परिभाषा एवं उसके भेद
4.6.1 अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति
4.6.2 केवलान्वयी व्याप्ति
4.6.3 केवल व्यतिरेकी व्याप्ति
4.7 सारांश
4.8 पारिभाषिक शब्दावली
4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न
4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाइयों में आप न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास, प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय की तत्त्वमीमांसा, प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण के स्वरूप इत्यादि विषयों का अध्ययन कर चुके हैं। अपनी चौथी अध्ययन इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा, प्रत्यक्ष के भेद, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की व्याख्या इत्यादि विषयों पर विस्तृत अध्ययन भी कर चुके हैं। अब तक के अपने अध्ययन के बाद आप को यह स्मरण करना मुश्किल नहीं होगा कि नैयायिकों ने अपने प्रमाणों के चार भेद बताए हैं, यथा प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण। अपनी चौथी अध्ययन इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तृत अध्ययन पहले ही कर चुके हैं। वर्तमान अध्ययन इकाई में अब हम अनुमान प्रमाण के बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे। ध्यान देने वाली बात यह है कि अनुमान प्रमाण को अकसर न्याय दर्शन का प्राण बताया जाता है। हम अनुमान प्रमाण की चर्चा के विस्तार में आगे बढ़ें, इसके पहले हमें यह भी स्मरण कर लेना चाहिए कि नैयायिकों के अनुमान प्रमाण की स्पष्ट समझ प्राप्त करने के लिए हमारे लिए व्याप्ति के नियम को समझना अनिवार्य है, क्योंकि संक्षेप में आप यह भी कह सकते हैं कि अनुमान प्रमाण का प्राण व्याप्ति की अवधारणा है। आपको याद होगा कि व्याप्ति को नियत साहचर्य नियम भी कहते हैं, और यह कार्यकारण सम्बन्ध पर आश्रित है। कारण प्रकरण पर केन्द्रित अपनी अध्ययन इकाई में आप पहले ही पढ चुके हैं कि कारण कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है। आप इन बातों को अपनी स्मृति में ताजा कर लें क्योंकि व्याप्ति के नियमों को समझते समय आपको अपने इस पूर्व अध्ययन की आवश्यकता महसूस होगी। आप यह भी ध्यान रखें कि पूर्व की भांति इस अध्ययन इकाई में भी हम अपने अध्ययन को केशव मिश्र कृत तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर आगे बढ़ाएंगे।

4.2 उद्देश्य

1. इस इकाई के अन्तर्गत आप अनुमान प्रमाण के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. लिंग और परामर्श जैसे पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से आप परिचित हो सकेंगे।
3. अनुमान ज्ञान के लिए आवश्यक व्याप्ति के नियमों को आप जान सकेंगे
4. अनुमान प्रमाण के पंचवाक्यों से अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से आप परिचित हो सकेंगे

4.3 परिचय

अनुमान का इतिहास लम्बा और पुराना है। वैदिक साहित्य में स्पष्टतः अनुमान की तार्किक प्रक्रिया का विश्लेषण तो नहीं उपलब्ध होता किन्तु यत्र-तत्र अनुमान के व्यावहारिक उदाहरणों की प्रचुरता दिखाई देती है। निश्चित तौर पर प्रत्यक्ष प्रमाण से हमें यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है किन्तु अपने

आविर्भाव के समय से ही नैयायिकों का अनुमान से गहरा लगाव रहा है। अनु उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु में ल्युट् प्रत्यय जुड़ने से अनुमान शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है पश्चात ज्ञान। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात चिन्ह से पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। आप यह भी कह सकते हैं कि दो ज्ञात सत्यों से किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। धुएं और अग्नि के ज्ञान से पर्वत में अग्नि का ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाएगा इसे आप आगे स्पष्ट रूप से समझ पाएंगे।

गौतम ने न्याय सूत्र में तीन प्रकार के अनुमान प्रमाण की चर्चा की है-

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च। पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामक भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है। लेकिन तर्कभाषाकार ने अनुमान के दो ही भेद किए हैं। ये भेद मुख्यतः वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किए गए हैं, जिनका अध्ययन आप वर्तमान इकाई में आगे करेंगे।

4.4 लक्षण एवं उदाहरण

आप जानते ही हैं कि नैयायिकों के चार प्रमाण भेद हैं, और सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या करने के बाद नैयायिक अनुमान प्रमाण की व्याख्या करते हैं। व्याख्या के इस अनुक्रम के बावजूद नैयायिकों की ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार अनुमान प्रमाण को ही बताया जाता है। प्रश्न उठता है कि अनुमान पद से उनका अभिप्राय क्या है? नैयायिकों ने अनुमान उस प्रक्रिया को कहा है जिसमें हम एक सूचक चिन्ह की उपस्थिति को देखकर (जिसे नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में लिंग कहा गया है) किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व का बोध करते हैं, और इस ज्ञान बोध का आधार यह होता है कि देखे गए लिंग तथा बोध की गई वस्तु के बीच सदा उपस्थित रहने वाला एक सम्बन्ध है, जिसे नैयायिकों ने अपनी शब्दावली में व्याप्ति का नाम दिया है। अनुमान की परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है-

लिंगपरामर्शोऽनूमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणतवात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

अर्थात् लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं। इस परिभाषा में (जिसे पारम्परिक शब्दावली में लक्षण कहा जाता है) 'लिंग' तथा 'परामर्श' दो शब्द हैं, स्पष्ट है कि लिंग तथा परामर्श इन दोनों शब्दों को ठीक से समझे बिना अनुमान के लक्षण को स्पष्ट तौर पर नहीं समझा जा सकता है। इसलिए देखते हैं कि तर्कभाषा में 'लिंग' का लक्षण किस तरह किया गया है। तर्कभाषा के अनुसार - व्याप्ति बलेन अर्थगमकं लिंगम

अर्थात व्याप्ति बल से जो अर्थ का बोधक है, उसे लिंग कहते हैं। आपने लिंग के अर्थ को समझने का

प्रयास किया, तो बीच में 'व्याप्ति' पद के आ जाने से आपको थोड़ी परेशानी हो रही होगी। आपको याद होगा कि व्याप्ति का अर्थ साहचर्य नियम से होता है, इसका आंशिक उल्लेख हम प्रस्तावना में पहले ही कर चुके हैं। सरल शब्दों में साहचर्य नियम को इस तरह से समझ सकते हैं- कारण और कार्य का सदा साथ-साथ उपस्थित रहना। उदाहरणस्वरूप 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हिः'। अर्थात जहां-जहां धुआं होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, इसी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। यह उदाहरण तो आपने स्वयं अपने व्यावहारिक जीवन में भी अनुभव किया होगा। आपने पहले यह पढ़ा भी है कि नैयायिक सत्य की कसौटी को व्यवहार मानते थे। धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, अतः धूम अर्थ का बोध कराने वाला हुआ, और इसलिए वह लिंग कहलाता है।

अनुमान के लक्षण में तर्कभाषाकार ने दूसरा शब्द 'परामर्श' प्रयुक्त किया है। आइये, हम अब इसे भी समझने की कोशिश करते हैं। परामर्श के दो अर्थ हमें न्याय के ग्रन्थों में मिलते हैं, पहला अर्थ इस प्रकार किया गया है- लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। अर्थात लिंग के तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं। दूसरा अर्थ है- व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः अथवा व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

लिंग और परामर्श का अर्थ स्पष्ट हो जाने के बाद आप अब तक यह समझ चुके हैं कि लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं। और वह लिंग परामर्श धूमादिज्ञान रूप है, अनुमिति के प्रति करण होने से। प्रश्न है कि अनुमिति क्या है? अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे ही हम अनुमिति कहते हैं। इस उदाहरण में धुएं को देखकर अग्नि आदि का ज्ञानबोध अनुमिति है। अतः धूम आदि ज्ञान अग्नि आदि ज्ञान का करण होने से अनुमान है।

आप अपनी पूर्व इकाई में कारण के स्वरूप की विवेचन के क्रम में करण क्या होता है, इस प्रश्न की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुके हैं।

लिंग और परामर्श क्या होता है यह प्रश्न अभी भी आपके मन में स्वाभाविक तौर पर शायद उठ रहा होगा, आइए जरा विस्तार से देखते हैं कि तर्कभाषाकार ने इसका उत्तर देते हुए क्या कहा है-

व्याप्ति बलेनार्थगमकं लिंगम। यथा धूमोऽग्नेलिंगम तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्य नियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायमिव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति। अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिंग।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथाहि प्रथमं ताबन्महमसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वन्हिं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमेवधारयति, यत्र धूमास्तत्राग्निरिति।

अभी तक आपने यह पढ़ा कि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही अनुमान है। आपने यह भी पढ़ा कि साहचर्य नियम या स्वाभाविक नियम को ही व्याप्ति कहते हं, जैसे जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है, यथा महानस अथवा रसोईघर में। भूयोदर्शन अथवा रसोईघर में बार-बार धुएं के साथ आग का दर्शन करने के बाद पर्वत आदि स्थलों में धुएं का यदि हमें दर्शन होता है, तो धुएं का यही ज्ञान द्वितीय ज्ञान कहा जाता है। इस द्वितीय ज्ञान से स्वाभाविक तौर पर पूर्वगृहीत धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण होता है, और तब 'वन्हिव्याप्य धूमावांश्चायं पर्वतः' अर्थात् यह पर्वत धूम से युक्त अग्नि से व्याप्त है, इस प्रकार का ज्ञान होता है, और इसे ही नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में तृतीय ज्ञान कहा जाता है। और यही तृतीय ज्ञान अनुमिति के प्रति करण होने से अनुमान कहा जाता है। इसी तृतीय ज्ञान के बाद 'तस्मात् पर्वतो वन्हिमान्' इसलिए पर्वत बन्हि युक्त है, यह अनुमिति हो जाती है।

इस तृतीय ज्ञान का बोध कराने वाले इस उदाहरण की अर्थात वन्हिव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः की व्यापक व्याख्या तर्कभाषा में की गई है। आप प्रारम्भ में ही यह बात समझ चुके हैं कि 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' को अनुमान कहते हैं। यहां यह समझ लेना उपयोगी होगा कि तृतीय ज्ञान के दो अंश होते हैं- एक अंश 'व्याप्ति' को सूचित करता है, और दूसरा अंश 'पक्षधर्मता' को। 'वन्हिव्याप्य' इतने अंश से व्याप्ति सूचित होती है, और 'धूमवांश्चायं पर्वतः' इस अंश से धूम का पर्वत रूपी पक्ष में अस्तित्व प्रतीत होता है। इसी को पक्षधर्मता ज्ञान कहते हैं। इस तरह हम देख चुके हैं कि 'वन्हिव्याप्यधूमवाश्चायं पर्वतः' के इस तृतीय ज्ञान में व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं, इसलिए इस तृतीय ज्ञान को 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान' भी हम कह सकते हैं।

4.5 अनुमान के भेद

जैसा कि आप जानते हैं अनुमान के दो भेद बताए गए हैं, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

4.5.1 स्वार्थानुमान

तर्कभाषा में स्वार्थानुमान की परिभाषा इस प्रकार की गई है-

तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थ परार्थ चेति। स्वार्थ स्वप्रपत्ति हेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्नयोर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वत समीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्न मूलाप्रभ्रलिहां धूम-लेखा पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तत्रोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्त पर्वतेऽअग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

तर्कभाषाकार कहते हैं कि हेतु दर्शन से स्वयं प्राप्त किया गया ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाता है। किसी

व्यक्ति ने यदि रसोईघर में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह ज्ञान प्राप्त किया है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। इस ज्ञान के द्वारा स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर पर्वत के समीप जाकर पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह होने पर (पर्वत में अग्नि है या नहीं) पर्वत पर व्याप्त अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देखकर धूम के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार से धुएं और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण करता है। उसके बाद पर्वत में धुआं है, इसलिए उस पर्वत पर अग्नि भी है, यह जान लेता है। इस प्रकार स्वयं के प्रत्यक्ष पर आधारित यह अनुमान ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

4.5.2 परार्थानुमान

जब किसी दूसरे व्यक्ति को पांच अवयवांे से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। तर्कभाषा में परार्थानुमान का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है-

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधपितुं पंचावयवमनुमानवाक्यं प्रयुंक्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान ससोऽग्निमान् यथा महानसः, तथा चायं तस्मात्तथा इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पंचरुपोपन्ना लिंगात परोऽप्यऽग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।

परार्थानुमान से तात्पर्य है दूसरे के द्वारा अनुमान का बोध कराना। स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को यह ज्ञान कराने के लिए पंचावयवां से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है और यही अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हम अब कुछ उदाहरणों से इसे समझने की कोशिश करेंगे। 1. यह पर्वत अग्निमान है (यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है) 2. धूम युक्त होने से (यह हेतु रूप दूसरा अवयव है) 3. जो-जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वन्हियुक्त भी होता है, जैसे रसोई घर (यह तीसरा अवयव उदाहरण हुआ) 4. यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमयुक्त है (यह उपनय नामक चौथा अवयव हुआ) 5. इसलिए पर्वत अग्नियुक्त है (यह निगमन रूप पांचवां अवयव हुआ) और पर्वत अग्नियुक्त है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह ज्ञान दूसरा व्यक्ति जब जान लेता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के ज्ञान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध अनिवार्य है। व्याप्ति और उसके भेदों का अध्ययन आप इसके पूर्व की इकाई में कर चुके हैं। धूम और अग्नि की व्याप्ति में आपने देखा है कि धूम हेतु है और अग्नि साध्य है। अनुमान ज्ञान के लिए सही हेतु का होना आवश्यक होता है लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हेतु सदोष होता है। वही हेतु निर्दोष माना जाता है जो साध्य की सिद्धि मे समर्थ हो यानी कि पक्षधर्मता आदि रूपों से युक्त हो। सदोष हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं। हेत्वाभास का अध्ययन आप अपनी अगली अध्ययन इकाई में विस्तारपूर्वक करेंगे।

बोध प्रश्न प्रथम

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. अनुमान का लक्षण है-

क. लिंगपरामर्शोऽनुमानम्

ख. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिंगम

ग. साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः

घ. इनमें से कोई नहीं

2. तर्कभाषाकार के अनुसार अनुमान के भेद होते हैं-

क. एक

ख. दो

ग. तीन

घ. चार

3. न्याय सूत्र के अनुसार अनुमान के भेद हैं-

क. दो

ख. तीन

ग. चार

घ. पांच

4. इनमें से पक्ष क्या है-

क. पर्वत

ख. रसोईघर

ग. तालाब

घ. इनमें से कोई नहीं

5. आर्द्रेन्धन संयोग क्या है

क. उपाधि

ख. व्याप्ति

ग. हेत्वाभास

घ. इनमें से कोई नहीं

आइए अब व्याप्ति की चर्चा को भी थोड़ा आगे बढ़ाया जाय। तर्कभाषा में व्याप्ति के अर्थ को स्पष्ट करते समय दो बातें मुख्य रूप से प्रतिपादित की गई हैं। इनमें पहली बात यह है कि व्याप्ति का ग्रहण 'भूयः सहचार दर्शन' से होता है, और व्याप्ति एक साहचर्य या स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। लेकिन यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि हर जगह 'भूयः सहचारदर्शन' से स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय नहीं किया जा सकता है, इस बात को इस तरह समझ सकते हैं। आप जहां जहां धुआं देखते हैं वहां - वहां अग्नि का दर्शन करते हैं और बार-बार देखने के बाद आपको इस स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान होता है कि जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है। लेकिन इसके ठीक विपरीत यदि बार-बार जहां आग होती है वहां-वहां धुआं होता ह,ै इसे भी हम स्वाभाविक सम्बन्ध मान लेंगे तो यह ज्ञान अवश्य ही दोषपूर्ण हो जाएगा, क्योंकि 'भूयः सहचार दर्शन' होने के बावजूद भी यह यह सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध या व्याप्ति नहीं कहलाएगा। क्यों? क्योंकि आप यह भी देख सकते हैं कि यदि लोहे के एक गोले को गर्म कर दिया जाय तो उसमें अग्नि तो होती है परन्तु धूम नहीं होता। इसलिए 'यत्र-यत्र वन्हिस्तत्र तत्र धूमः' यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं अपितु औपाधिक सम्बन्ध कहलाता है। इसमें 'आर्द्र इन्धन संयोग' 'उपाधि' है।

हम देखते हैं कि नैयायिक यहां पर एक नए शब्द 'उपाधि का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है कि हमें भी इस शब्दावली को संक्षेप में अवश्य समझ लेना चाहिए। तर्कभाषा में उपाधि का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः।

अर्थात जो धर्म साध्य का व्यापक हो, और साधन का अव्यापक हो, अर्थात जो धर्म साध्य में व्याप्त हो और साधन में अव्याप्त हो, उसे उपाधि कहते हैं।

औपाधिक सम्बन्ध को तर्कभाषा में उदाहरण के जरिए भी इस तरह समझाया गया है-

तद्यपि यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वर्योन स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेविद्यमानत्वात्। तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणति भेद एव प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

इसका अभिप्राय यह है कि मैत्री नामक किसी स्त्री के पांच पुत्र हैं, जिनमें चार पुत्रों को हमने देखा है, और वे सभी पुत्र श्याम वर्ण के हैं। पांचवां पुत्र, जिसे हमने नहीं देखा है, गौर वर्ण का है। लेकिन जिस व्यक्ति ने मैत्री के चार श्याम वर्ण के पुत्रों को देखा है, वह भूयो सहचार दर्शन के आधार पर मैत्रीतनयत्व और श्यामतनयत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति मानते हुए पांचवां पुत्र भी श्याम वर्ण का होगा, ऐसा अनुमान कर सकता है। इस उदाहरण में मैत्रीतनयत्व हेतु अथवा साधन है, और श्यामत्व साध्य है। लेकिन यह हेतु सोपाधिक अर्थात उपाधि के लक्षण से युक्त है, क्योंकि पुत्र के श्याम वर्ण के होने में मैत्रीतनयत्व कारण नहीं है बल्कि गर्भकाल में किए गए आहार का प्रभाव है। यदि माता गर्भ काल में दुग्ध इत्यादि पदार्थों का अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्ण का होता है इसके विपरीत यदि माता हरी शाक-सब्जी इत्यादि का अधिक सेवन करती है तो बालक श्याम वर्ण का होता है (यह आधुनिक विज्ञान के अभ्युदय काल से पहले का उदाहरण है, और विज्ञानसम्मत न होने पर भी वर्तमान प्रसंग में यह उदाहरण सारतः उपयुक्त है)। अतः यहां कारण मैत्रीतनयत्व न होकर 'शाकपाकजन्यत्व' हुआ। इसलिए यह स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर सोपाधिक सम्बन्ध हुआ। और क्योंकि इसमें व्याप्ति का लक्षण नहीं घटता, इसलिए यह अनुमान प्रमाण नहीं होगा। क्यों? क्यांकि न्याय दर्शन में व्याप्ति विशिष्टिपक्षधर्मताज्ञान को ही अनुमान कहते हैं।

धूम और अग्नि के बीच किसी तरह का औपाधिक सम्बन्ध नहीं है, इसकी व्याख्या तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने विस्तार से प्रस्तुत की है। क्योंकि इसी उदाहरण के आधार पर अभी तक आप अनुमान प्रमाण को समझते आए हैं, इसलिए इसके थोड़ा विस्तार में जाना उपयोगी होगा-

न च धूमाग्नयोः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरसित। अस्ति चेत् योग्योऽयोग्यो या। अगोग्यस्य शंकितुमशक्यत्वात् योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथा अग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्मसाधननेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

इसका अर्थ आप इस तरह समझ सकते हैं- धूम और अग्नि के बीच कोई औपाधिक सम्बन्ध नहीं बल्कि स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि यदि औपाधिक सम्बन्ध होता तो हमें वह प्रत्यक्ष दिखाई देता, जैसा जहां-जहां अग्नि है, वहां-वहां धूम है कथन में दिखता है। इन स्थलों में हमें जिस बात का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उसे आर्द्र इन्धन संयोग उपाधि कहते हैं। आप व्यावहारिक जीवन में भी यह

अनुभव करते हैं कि अग्नि के साथ धुएं का अस्तित्व तब होता है जब गीली लकड़ी और आग का संयोग होता है, क्योंकि यदि लकड़ी गीली नहीं है तो वहां आग होने पर भी धुआं नहीं होगा। इसी प्रकार मैत्रीतनयत्व के साथ भी जो 'शाकपाकजनयत्व' उपाधि है वह भी हमें दिखाई देती है।

तर्कभाषाकार इस चर्चा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्येकश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्तत्तोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनभावान्नस्ति। इति तर्कसहकारणानुपलम्भसनाधेन। प्रत्यक्षेणैवोपाध्यो भावोऽवधायते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनित संस्कार सहकृतेन साहचर्यग्रहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्ति रवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

इसका अर्थ यह है कि यहां धूम के साथ अग्नि के साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है, क्योंकि यदि उपाधि होती तो वह दिखाई देती। वह प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए वह नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु की अनुपलब्धि से ही अभाव का निश्चय होता है। इसलिए स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध को आप इस तरह भी समझ सकते हैं। जहां उपाधि के अभाव का प्रत्यक्ष दर्शन हो, और उस ज्ञान से सम्पन्न ('सहकृत') तथा बार-बार देखने के ज्ञान से प्राप्त ('भूयः सहचार जन्य') संस्कार से धुएं तथा अग्नि के साहचर्य का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा किया गया हो, और इस तरह धुएं तथा अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण किया गया हो, वही व्याप्ति सम्बन्ध होता है।

इसे आगे व्याख्यायित करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं-

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौं गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम्। तत् पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योव्याप्तिं वर्तते पुनर्धूमं परामृशति। अस्त्यत्र पर्वते वन्हिना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्।

एतश्चावश्यमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात्। इह तु कथमग्निना भवितव्यम्। तस्मादिहापि धूमोऽस्ति इति ज्ञानं अन्वेषितव्यम्। अयमेव लिंग परामर्शः। अनुमितिं प्रतिकरणत्वाच्चानुमानम्। तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते।

आप इस इकाई के प्रारम्भ में ही पढ़ चुके हैं कि तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं। यह तृतीय ज्ञान क्या होता है? तर्कभाषा के इस उद्धरण में इसी बात की व्याख्या हमें उपलब्ध होती है। उपाधि के अभाव के प्रत्यक्ष दर्शन से और धूम और अग्नि की व्याप्ति ग्रहण करने में, भूयःसंचार दर्शन से धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान महानस अथवा रसोईघर में होता है, उनमें इस स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान प्रथम ज्ञान हुआ। पर्वत इत्यादि जगहों में ('पक्ष' में) जो धूम का ज्ञान है, वह द्वितीय ज्ञान हुआ।

पूर्वगृहीत धूम और अग्नि के व्याप्ति का स्मरण करके 'वन्हिव्याप्यधूमवांश्चायं' पवर्त' अर्थात पर्वत में वन्हिव्याप्य धूम के ज्ञान का बोध करना परामर्श अथवा तृतीय ज्ञान कहलाता है।

तृतीय ज्ञान को अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि तृतीय ज्ञान ही अनुमान ज्ञान होता है। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो 'जहां धूम होगा वहां अग्नि होगी' इस प्रकार के सामान्य ज्ञान का हम बोध कर लेंगे। पक्ष अर्थात पर्वत में अग्नि क्यों होनी चाहिए इसके लिए इस व्याप्ति का ज्ञान पर्याप्त होता है कि 'जहां-जहां धूम होता है वहां -वहां अग्नि होती है', इसी को लिंग परामर्श कहते हैं। और अनुमिति के प्रति करण होने से यही अनुमान कहलाता है, क्योंकि इस लिंग परामर्श रूप तृतीय ज्ञान से ही पर्वत में अग्नि है इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है।

तर्कभाषा में प्रश्न उठाकर तथा उसका निराकरण करके इस अनुमान ज्ञान के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस तरह किया गया है-

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमानयति सत्यम्। व्याप्तेगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्। अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम् मैवम्। अग्नेर्द्रष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता। नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धें

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुसो यद्धूमज्ञानं, तत्कथं नाग्निमनुमापयति। अस्ति चात्राग्निसन्देहः। साधकवाधक प्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तवात्। सत्यम्। अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्ति स्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बद्ध संस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो-यो धूमवान सो-सो अग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिसमृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं 'धूमवांश्चायम्' इति। तेदवाग्निमनुमापयति नान्यत् तदेवानुमानम्। स एव लिंग परामर्शः। तेन व्यवस्थितमेत- लिंगपरामर्शोऽनुमानमिति।

रसोईघर में जो प्रथम धूम ज्ञान है उसी से अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कर लिया जाता है? इसका उत्तर नैयायिक इस प्रकार देते हैं- प्रश्न तो ठीक है किन्तु प्रथम धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि व्याप्ति ग्रहण के पश्चात ही हमंे अनुमान ज्ञान होता है। आप इस बात को पहले भी पढ़ चुके हैं कि व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान ही अनुमान कहलाता है।

लेकिन इस समाधान के बाद भी दूसरा प्रश्न यह उठाया गया है कि व्याप्ति ग्रहण के पश्चात रसोईघर में ही अग्नि का अनुमान होना चाहिए।

नैयायिकां का उत्तर है कि यह भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि महानस में अग्नि का चूंकि प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है इसलिए वहां सन्देह नहीं उपस्थित हो सकता, और क्योंकि सन्दिग्ध अर्थ में ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है, और इसलिए न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन की उक्ति को उद्धृत

करते हुए कहा गया है कि न तो अनुपलब्ध अर्थात अज्ञात अर्थ में और न ही निर्णीत अर्थ में ही न्याय प्रवृत्त होता है।

इस पर प्रश्न यह उठता है कि व्याप्ति ग्रहण के बाद पर्वत पर पहुंचे हुए मनुष्य का जो धूमज्ञान अर्थात व्याप्तिस्मरण के पूर्व का द्वितीय ज्ञान होने पर अग्नि का अनुमान होना चाहिए, क्योंकि यहां अग्नि का सन्देह तो है। 'साधक-बाधक प्रमाण' के अभाव में सन्देह होना उचित ही है।

इसका उत्तर भी हमें तर्कभाषा में प्राप्त होता है। नैयायिक कहते हैं पर्वत में हुए धूम ज्ञान को भी हम अनुमान ज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि यहां पर व्याप्ति का स्मरण नहीं हो रहा है। स्मृति के अभाव में अनुमिति नहीं हो सकती। द्वितीय धूम ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार से ही इस व्याप्ति का स्मरण होता है कि 'जो-जो धूमवान होता है वह-वह वन्हिमान होता है'। यह पर्वत धूमवान है इसलिए यह वन्हिमान होगा। इस तरह से वन्हियुक्तपर्वत का प्राप्त किया जाने वाला तृतीय ज्ञान लिंग परामर्श है, इसलिए लिंगपरामर्शोऽनुमानम् यह लक्षण सिद्ध होता है।

अभी तक आपने यह पढ़ा कि अनुमान क्या है। लिंग और परामर्श किसे कहते हैं, अनुमान ज्ञान में व्याप्ति की क्या भूमिका है, और व्याप्ति किसे कहते हैं। आगे हम व्याप्ति के भेदों को भी तर्कभाषा को आधार बनाकर समझने का प्रयास करेंगे। इस व्याप्ति के तीन तरह के भेद बताए गए हैं, जिन्हें अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, तथा केवलव्यतिरेकी नाम से जाना जाता है। 'वन्हिव्याप्य धूमावांश्चायंपर्वतः' अन्वयव्यतिरिक व्याप्ति के इस उदाहरण को समझाते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं-

अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्वं हेतुः। स चान्यवयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथा हि यत्र-यत्र धूमवत्वं तत्राग्निमत्वं यथा महानसे इत्यन्वय व्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वय सद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाहृदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाहृदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

इस अनुमान में पर्वत का अग्निमत्व साध्य है, धूमवत्व हेतु अर्थात साधन है और वह हेतु अर्थात कारण अन्वयव्यतिरेकी हेतु है। क्योंकि उसकी अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे जहां-जहां धूमत्व होता है वहां-वहां अग्निमत्व होता है, जैसे रसोईघर में। यह अन्वय व्याप्ति हुई। इसी प्रकार जहां-जहां अग्नि का अभाव होता है वहां-वहां धूम का अभाव होता है, जैसे तालाब में। ऐसा व्यतिरेक प्रभाव होने से होता है। महाहृद में आप जानते ही हैं कि जल होने के कारण अग्नि हो ही नहीं सकती, और जब अग्नि का अभाव होगा तो धुएं का अभाव भी वहां निश्चित रूप से होगा। इस तरह यह अनुमान वाक्य महानस में अन्वयव्याप्ति का तथा महाहृद में व्यतिरेक व्याप्ति का एक उदाहरण बन जाता है। अतः धूमवत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु हुआ।

आपको यहां ध्यान देना होगा कि तर्कभाषा में नैयायिकों ने 'पर्वतो धूमवत्वात् धूमवान् सोऽग्निमान

यथा महानसः' इत्यादि अनुमान वाक्य में केवल अन्वय व्याप्ति होने का उदाहरण दिया है, क्योंकि व्यतिरेक यहां सरल है। वस्तुतः इस उदाहरण में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति का उदाहरण आप अभी देख ही चुके हैं। नैयायिकां का तर्क इस प्रकार है-

तदेवं धूमवत्वे हेतावन्वयेनं व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलंमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनऽपि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्धयतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

उपर्युक्त उदाहरण में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्तियों के होने के बावजूद जो केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया गया है वह व्यतिरेक व्याप्ति की अपेक्षा अन्वय व्याप्ति के सरल होने के कारण। चूंकि एक ही व्याप्ति के प्रदर्शन से काम चल सकता है इसलिए सरल मार्ग का आश्रय लिया गया है, न कि व्यतिरेक व्याप्ति के अभाव के कारण ऐसा किया गया है।

अन्वयव्यतिरेकी हेतु को और अधिक स्पष्ट करने के लिए तर्कभाषाकार एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार है-

एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणे द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवद्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

इसका अर्थ यह है कि अनित्यवाद की सिद्धि कृतकत्वाद अन्य हेतु भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु के उदाहरण जाने जाने चाहिए। जैसे कृतक (उत्पन्न) होने से शब्द घट के समान अनित्य है। जहां-जहां कृतकत्व रहता है वहां-वहां अनित्यत्व रहता है जैसे घट, यह अन्वय व्याप्ति हुई, क्योंकि आप जानते हैं कि घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होने के कारण इसमें अनित्यत्व धर्म की सिद्धि होती है। व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण भी इसमें निहित है, क्योंकि जहां-जहां अनित्यत्व का अभाव होता है वहां-वहां जन्यत्व का भी अभाव होता है, जैसे गगन अथवा आकाश। व्यतिरेक व्याप्ति बनाते समय साध्य और हेतु के साथ अभाव पद जुड़ जाता है। तथा व्याप्यव्यापकभाव बदल कर उलटा हो जाता है।

अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति को उदाहरण के साथ समझाने के बाद तर्कभाषाकार केवल व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

कश्चिदहेतुः केवल व्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साधो प्राणादिमत्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्। यत! सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति। यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरं सात्मकत्वे प्राणादिमत्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात तथा हि यत् प्राणादिमत् तत सात्मकं यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्व पक्ष एव।

अर्थात कोई हेतु केवल व्यतिरेकी होता हैं जैसे सात्मकत्व के साध्य होने में प्राणादिमत्व हेतु है। सात्मक से अभिप्राय है आत्मायुक्त होना। जैसे जीवित शरीर सात्मक है प्राणादियुक्त होने से इस अनुमान में अन्वयव्याप्ति का उदाहरण न होने से केवलव्यतिरेकी हेतु है। जो सात्मक नहीं होता वह प्राणादियुक्त नहीं होता, जैसे घट । जीवित शरीर प्राणादिमत्व है, इसलिए यह सात्मक है। इस उदाहरण में जो प्राणादिमत् है वह सात्मक है, इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

तर्कभाषा में व्यतिरेक व्याप्ति को समझाने के लिए लक्षण का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है-

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति तन्न गन्धवत् यथापः।

इस उदाहरण को आप इस तरह समझ सकते हैं- लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं। जैसे पृथिवी के लक्षण गन्धवत्व को हेतु बनाकर किसी विवादास्पद वस्तु को पृथिवी कहकर व्यवहार किया जाय, उसमें गन्धत्व होने के कारण। जहां पृथिवी का यह व्यवहार नहीं होता वहां गन्धत्व नहीं होता जैसे जल। यह व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण हुआ। लेकिन जहां-जहां गन्धत्व है वहां-वहां पृथिवी है, ऐसे व्यवहार का अन्वय व्याप्ति में कोई उदाहरण नहीं मिलता, इसलिए यह केवलव्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण हुआ। इस तरह आप देखते हैं कि तर्कभाषाकार व्यतिरेक व्याप्ति को अनेक उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं, आप यहां उनका अध्ययन भी कर चुके हैं। इन बातों को स्पष्ट करने के बाद तर्कभाषाकार केवलान्वयी हेतु को उदाहरण के साथ समझाने का प्रयास इस तरह करते हैं-

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्यामिधेयतवं साध्यं प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि यथामुक इति व्यतिरेक दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति।

केवलान्वयी व्याप्ति को आप उपरिलिखित दृष्टान्त से समझ सकते हैं। शब्द जानने योग्य (अभिधेय) है, क्योंकि वह प्रमेय (ज्ञान का विषय) है। जो प्रमेय होता है वह अभिधेय होता है, जैसे घट। यह शब्द उसी प्रकार का प्रमेय है, अतएव वैसा ही अभिधेयत्व इसमें भी उपस्थित है।
यहां शब्द का अभिधेयत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु अर्थात साधन है और वह केवलान्वयी है। जो अभिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता, इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण नहीं बन सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होने वाला प्रामाणिक अर्थ ही हो सकता है। इस तरह से अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन प्रकार की व्याप्ति को दृष्टान्त के साथ आपने विस्तार से समझा। पूरी इकाई के सार-संक्षेप का दोबारा स्मरण करते हुए हम उसे एक बार फिर से समझने का प्रयास करेंगे।

बोध प्रश्न

1. न्याय दर्शन अनुमान प्रमाण के लिए किसे अनिवार्य मानता है-

क. व्याप्ति सम्बन्ध

ख. औपाधिक सम्बन्ध

ग. हेत्वाभास

घ. इनमें से कोई नहीं

2. इनमें से सपक्ष क्या है

क. महाहृद

ख. रसोईघर अथवा महानस

ग. पर्वत

घ. इनमें से कोई नहीं

3. परामर्श किसे कहते हैं-

क. प्रथम ज्ञान

ख. द्वितीय ज्ञान

ग. तृतीय ज्ञान

घ. चतुर्थ ज्ञान

4. जहां जहां अग्नि का अभाव है वहां-वहां धुएं का अभाव है यह व्याप्ति का उदाहरण है-

क. अन्वय व्याप्ति

ख. व्यतिरेक व्याप्ति

ग. अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति

घ. इनमें से कोई भी नहीं

5. जहां-जहां धूम का अभाव है वहां-वहां अग्नि का अभाव है, इसमें उपाधि क्या है

क. साहचर्य सम्बन्ध

ख. समवाय सम्बन्ध

ग. आर्द्रेन्धन संयोग सम्बन्ध

घ. इनमें से कोई नहीं

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क, 2. ख, 3. ख, 4. क, 5. क

2. क, 2. ख, 3. ग, 4. ख, 5. ग

4.7 शब्दावली

लिंग- हेतु अथवा कारण

परामर्श - साध्य का तृतीय ज्ञान

व्याप्ति - हेतु ओर साध्य के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध

व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान- पक्ष में व्याप्ति युक्त साध्य का ज्ञान

पक्ष - जहां साध्य सिद्ध करना हो जैसे यदि पर्वत में वन्हिव्याप्य धूमज्ञान का ज्ञान होता है तो यहां पर्वत पक्ष है।

सपक्ष- जहां साध्य का पहले दर्शन कर लिया गया हो जैसे रसोईघर

उपाधि- प्रयोजक अथवा निमित्त

4.8 सारांश

अनुमान नैयायिकों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। उनके प्रमाण भेद में प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद दूसरे क्रम में अनुमान प्रमाण की व्याख्या की गई है। 'व्याप्तविशिष्टपक्षधर्मता' ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। न्याय की भाषा में 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' यह अनुमान का लक्षण किया गया है। नैयायिकों को अनुमान प्रिय होने के कारण आप देखेंगे कि कहीं-कहीं न्याय का अर्थ ही अनुमान किया गया है। न्याय दर्शन में अनुमान के लिए हेतु और साध्य में स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति को अनिवार्य माना गया है। व्याप्ति की व्यापक व्याख्या आपने पढ़ी है। व्याप्ति के तीनों भेदों अन्वयव्यतिरेकी,

केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी का अध्ययन भी आपने इस इकाई में तर्कभाषा के मूल पाठ को आधार बनाते हुए किया है।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

महर्षि गौतम- न्याय दर्शन, बौद्ध भारती, वाराणसी

केशव मिश्र- तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990

डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987

गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992

दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988

शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991

राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस

शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986

चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980

सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004

अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लक्षण और उदाहरण सहित अनुमान प्रमाण की व्याख्या कीजिए
2. व्याप्ति किसे कहते हैं। सभेद इनका विस्तार से उल्लेख कीजिए
3. उपाधि क्या है? सोदाहरण समझाइये

इकाई 5 तर्कभाषा- प्रमेय, पदार्थ निरूपण, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान , हेत्वाभास- मूल पाठ का अर्थ एवं व्याख्या

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 प्रमेय पदार्थ का वर्णन
5.3.1 प्रमेय के भेद
5.3.2 आत्मा
5.3.3 शरीर
5.3.4 इन्द्रिय
5.3.5 अर्थ
5.3.6 बुद्धि
5.3.7 मन
5.3.8 प्रवृत्ति
5.3.9 दोष
5.3.10 प्रेत्यभाव
5.3.11 फल
5.3.12 दुःख
5.3.13 अपवर्ग
5.4 स्वार्थानुमान
5.5 परार्थानुमान
5.5.1 प्रतिज्ञा
5.5.2 हेतु
5.5.3 उदाहरण
5.5.4 उपनय
5.5.5 निगमन
5.6 हेत्वाभास
5.6.1 असिद्ध हेत्वाभास
5.6.2 विरुद्ध हेत्वाभास

5.6.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास
5.6.4 प्रकरणसम हेत्वाभास
5.6.5 कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधित हेत्वाभास
5.7 सारांश
5.8 पारिभाषिक शब्दावली
5.9 बोध प्रश्न
5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.11 निबन्धात्मक प्रश्न
5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 प्रस्तावना

अब तक अपनी समस्त पूर्व अध्ययन इकाइयों में आप न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास से लेकर न्याय सम्मत अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का सविस्तार अध्ययन कर चुके हैं। केशव मिश्र कृत तर्कभाषा अधिकांश विश्वविद्यालयों की स्नतातकोत्तर कक्षाओं में भारतीय दर्शन के पाठ्यक्रम में मूल ग्रन्थ के रूप में पढ़ाई जाती है। आप जानते हैं कि तर्कभाषा नव्य न्याय का एक प्रमुख ग्रन्थ है, और इसी के आधार पर पूर्व की अध्ययन इकाइयों में न्याय दर्शन के प्रमाण, कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, अनुमान प्रमाण आदि विषयों का विस्तृत अध्ययन आपने अब तक किया है। वर्तमान अध्ययन इकाई न्याय दर्शन के आपके प्रश्न पत्र की अन्तिम अध्ययन इकाई है, और प्रमेय पदार्थों अर्थात् आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन आदि उन बारह प्रमेयों का, जिनके नाम का उल्लेख आप तीसरी अध्ययन इकाई में पढ़ चुके हैं, यहां पर फिर से आप उनका विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। अनुमान प्रमाण भी आप पढ़ चुके हैं, और आप जान चुके हैं कि तर्कभाषा में उसके दो भेद गिनाए गए हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। इन भेदों की चर्चा भी विस्तारपूर्वक वर्तमान इकाई में की जाएगी। हेतु अथवा कारण की विशद् व्याख्या अन्य इकाइयों में आप पढ़ चुके हैं। आप शायद इस उल्लेख से भी परिचित होंगे कि जो हेतु न होते हुए भी हेतु की तरह प्रतीत होते हैं, उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। तर्कभाषा में हेत्वाभास के पांच भेद गिनाए गए हैं, जिनका अध्ययन भी हम इस इकाई में करेंगे।

5.2 उद्देश्य

1. इस इकाई के अन्तर्गत आप प्रमेय (ज्ञान का विषय) कितने हैं, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
2. आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, दोष, प्रवृत्ति, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग इत्यादि इन बारह प्रमेयां के बारे में जान सकेंगे।
3. अनुमान के भेदों तथा परार्थानुमान के पंचवाक्यों से परिचित होकर अनुमान प्रमाण की स्पष्ट जानकारी कर पाएंगे
4. हेत्वाभास और हेतु के अन्तर को समझ पाएंगे तथा हेत्वाभास के भेदों का भली-भांति निरूपण कर सकेंगे।

5.2 तर्कभाषा के आधार पर प्रमेयों का वर्णन

आप जानते हैं कि न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों की विवेचना की गई है। वहां सर्वप्रथम प्रमाण

मीमांसा उपलब्ध होती है, और प्रमाणों की विवेचना के उपरान्त वहां प्रमेयों का वर्णन मिलता है। प्रमेय ज्ञान के विषय कहे जाते हैं, जिनकी संख्या बारह है-

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्ति दोषप्रत्यभावफलदुःखापवर्गस्तु प्रमेयम्'

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग नामक बारह प्रमेय तर्कभाषा में बताए गए हैं। इन बारह प्रमेयों के विषय में प्रत्येक की अलग-अलग परिभाषाएं भी हमें तर्कभाषा में प्राप्त होती हैं। अब हम इनके विस्तृत अध्ययन की ओर अग्रसर होंगे-

आत्मा

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने सर्वप्रथम आत्मा के विषय में बताया है कि आत्मत्व सामान्य जाति जिसमें विद्यमान हो, वह आत्मा कहलाती है-

तत्रात्मवसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रति शरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्तौ तु बुद्धयादिगुणालिंगकः। तथा हि बुद्धयादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रिय मात्र ग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।

केशव मिश्र के अनुसार आत्मत्व जाति जिसमें रहती है उसे आत्मा कहा जाता है। यह पहला प्रमेय है। यह आत्मा देह, इन्द्रियादि से भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न होने के साथ ही यह विभु तथा नित्य है, और यह मानस प्रत्यक्ष का विषय है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं हू'ं इस बात की प्रतीति होती है। यह 'मैं' शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न विभु और नित्य होता है। दूसरे व्यक्ति में आत्मा के अस्तित्व का बोध कराने में बुद्धि इत्यादि गुण सहायक होते हैं। बुद्धि आदि गुण रूप लिंग से अनुमान ज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। प्रश्न है कि ऐसा कैसे होता है? सबसे पहले बुद्धि आदि अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण गुण हैं, और क्योंकि गुण गुणी के आश्रित रहता है, अतः यहां पर वह आश्रय आत्मा होती है।

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार इसको व्याख्यायित करते हुए कहते हैं-

तत्र बुद्धादयो न गुणा भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः। नापि दिक् कालमनसां गुणा, विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव। बुद्धयादयास्तु विशेषगुणा, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः। तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्धयादीनां गुणानामश्रयो वक्तव्यः। स एवात्मा।

आप जानते हैं कि नैयायिकों के अनुसार द्रव्यों की संख्या नौ है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा। बुद्धि आदि गुण मानस प्रत्यक्ष का विषय होते हैं, इसलिए वे पृथिवी इत्यादि भूतों के गुण नहीं हो सकते। क्योंकि जो भूतों के गुण होते हैं, उदाहरण के लिए गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द हैं, इन पंच भूतों के गुणों का मानस प्रत्यक्ष नहीं

होता है। दूसरी ओर दिक्, काल और मन के गुण भी नहीं हो सकते, क्योंकि इन द्रव्यों में सामान्य गुण रहता है, विशेष गुण नहीं रहता। बुद्धि आदि क्योंकि विशेष गुणों की श्रेणी में आते हैं, इसलिए इन आठ द्रव्यों यथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, दिक्, काल और मनस के अतिरिक्त किसी नवम् द्रव्य को गुणों का आश्रय होना चाहिए, और यही नवां द्रव्य आत्मा है।

अनुमान के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के उपरान्त अनुमान के लिए अनिवार्य व्याप्ति सम्बन्ध को भी तर्कभाषा में दर्शाया गया है-

प्रयोगश्च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः। पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रितो न भवति, नासो पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रिततत्वे सति गुणाऽपि भवति यथारूपादिरिति केवलव्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः।

ऊपर के उद्धरण में अन्वय व व्यतिरेकी दोनों तरह की व्याप्तियों का वर्णन है। अनुमान से आत्मा की सिद्धि करने में ये दोनों साधन (हेतु) हमें मिल जाते हैं। अन्वयव्यतिरेकी हेतु को आप पूर्व अध्ययन इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। आत्मा के अर्थ में इस हेतु का उदाहरण इस प्रकार है- बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं। पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण होने से। जो पृथिवी आदि से भिन्न आठ द्रव्यों मंे आश्रित नहीं होता वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अलग द्रव्य में अनाश्रित गुण भी नहीं होता, अपितु पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित गुण ही होता है, जैसे रूप इत्यादि। यह व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण है।

अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति का उदाहरण भी तर्कभाषाकार ने ऊपर दिया है, जैसे बुद्धि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्यों में आश्रित है, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण होने से। क्योंकि जो जिस द्रव्य में अनाश्रित गुण होता है वह उससे भिन्न द्रव्य में आश्रित गुण होता है। उदाहरण के लिए शब्द पृथिवी इत्यादि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त आकाश में आश्रित हैं।

इसलिए बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य मं आश्रित गुण हैं-

तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तो नवमं द्रव्यात्मां सिद्धः। स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद विभुः परममहत् परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।

अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्त प्रस्तुत करने के बाद तर्कभाषाकार कहते हैं-

इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रयभूत नवम द्रव्य आत्मा

सिद्ध हो गया। और वह विभु अर्थात व्यापक है। विभु होने से वह आकाश के समान नित्य है, और सुखादि के भिन्न होने से वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है।

शरीर

आत्मा की सिद्धि के बाद दूसरे प्रमेय के रूप में शरीर का निरूपण किया गया है-

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते त भोगायतनं तदेव शरीरं। चेष्टाश्रो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम्।

आत्मा के भोग का आश्रय शरीर होता है। वह शरीर अन्त्यावयवि है। अन्त्यावयवि से अभिप्राय है- अन्तिम अवयवी। अवयवी उसे कहते हैं जो अवयव अर्थात् अंगों को धारण करता है। हाथ-पैर इत्यादि को धारण करने के कारण शरीर को अवयवी कहा गया। अन्त्यावयवि विशेषण यहां इसलिए दिया गया है क्योंकि उंगली इत्यादि भी अवयव है और गुण को धारण करने से हाथ-पैर भी अवयवी हो जाएंगे। लेकिन हाथ-पैर अन्तिम अवयवी नहीं हो सकते। पूरा शरीर ही अन्त्यावयवी हो सकता है। सुख-दुःख में किसी एक की अनुभूति भोग कहलाती है। असका आश्रय शरीर कहलाता है। इसके अतिरिक्त चेष्टा या प्रयत्न के आश्रय को भी शरीर कहते हैं। चेष्टा हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार के लिए की जाने वाली क्रिया है। स्पन्दन मात्र को चेष्टा नहीं कहा जा सकता है।

इन्द्रिय

तीसरा प्रमेय इन्द्रियों को माना गया है-

शरीरसंयुक्त ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम'। अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियप्रसंगोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथापीन्द्रियसन्निकर्षेतिप्रसंगेऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। शरीरं संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्व प्रसंगोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'इन्द्रिय' वह है जो शरीर से संयुक्त है और ज्ञान का करण है, और इसके साथ-साथ जो अप्रत्यक्ष है।

इस बात को आप इस तरह भी समझ सकते हैं कि शरीर के जिन अवयवों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है वे इन्द्रिय कहलाते हैं। इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय होती हैं। अतीन्द्रिय से तात्पर्य है उनका प्रत्यक्ष तौर पर दिखाई न देना। ध्यान देने वाली बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करते समय 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' के जिस प्रत्यक्ष प्रमाण की बात कही गई थी, वहां उस प्रक्रिया के अन्तर्गत अर्थ का प्रत्यक्ष होता है न कि इन्द्रियों का।

'ज्ञानकरणम्' का अर्थ है व्यापार द्वारा ज्ञान का असाधारण करण। असाधारण कारण किसे कहते हैं

इसे आप पूर्व अध्ययन इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। यदि 'ज्ञानकरणम्' इस अंश को परिभाषा से

हटा दिया जाय तो काल को भी इन्द्रिय मानना पड़ेगा, क्योंकि काल भी शरीर संयुक्त और अतीन्द्रिय होता है।

और यदि केवल 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियं' पद से इसका लक्षण किया जाए तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी इन्द्रिय कहलाने लगेंगे, क्योंकि वे भी ज्ञान के करण और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए 'शरीरसंयुक्तम्' यह पद यहां रखा गया है, और वह इस परिभाषा के लिए महत्वपूर्ण है।

दूसरी ओर यदि केवल 'शरीर संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम' ऐसा लक्षण किया जाता है तो वह भी दोषपूर्ण होगा, क्योंकि प्रकाश इत्यादि भी शरीर से संयुक्त होता है और वह ज्ञान का करण भी है। इसलिए 'अतीन्द्रियम्' पद रखा गया है। अब 'शरीरसंयुक्तम्', 'ज्ञानकरणम' और 'अतीन्द्रियम्' इन तीनों पदों की अलग-अलग व्याख्या से इन्द्रिय की परिभाषा में इन तीनों पदों का क्या महत्व है आप भली-भांति समझ गए होंगे।

तर्कभाषाकार इन्द्रिय की इस परिभाषा के अनन्तर इन्द्रियों की संख्या और उनके अर्थ बताते हुए कहते हैं-

तानि चेन्द्रियाणि षट्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोतमनांसि। तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्वाद् घटवत्। गन्धवत्वंच गन्धग्राहकत्वांत। यदिन्द्रियं रूपादिषु पंचसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं, तथा च चक्षुरूपग्राहकं रूपवत्।

ये इन्द्रियां छह होती हैं, इनके नाम हैं घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत। ये पांच बाह्येन्द्रियां हैं और इनके अलावा मन नामक एक अन्तरिन्द्रिय भी है। इनमें से गन्ध की उपलब्धि कराने वाली इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय कहलाती है, जो नासिका के अग्रभाग में रहती है। गन्धवत् होने से घट के समान पार्थिव अर्थात् पृथिवीजन्य होती है। जो इन्द्रिय पांचों में से जिस गुण को ग्रहण करती है वह उस गुण वाली चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है, जैसे रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय रूपवत् कहलाती है।

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तचचाप्यं रसवत्वात्। रसवत्वंच रूपादिषु पंचसु मध्ये रसस्यैवाभिवंजकत्वाल्लालावत्।

रस का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय रसना है। वह जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है। यह इन्द्रिय रसवती होने से जलीय होती है।

रूपोलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पंचसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यंजकत्वात् प्रदीपवत्।
रूप का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय चक्षु कहलाती है। वह आंख की काली पुतली में स्थित है। वह रूप, रस, गन्ध आदि पांचों में रूप की अभिव्यंजक होने से प्रदीप के समान तेज से उत्पन्न इन्द्रिय है।

स्वर्गा पलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं रूपादिषु पंचसु मध्ये स्पर्शस्पैवाभिव्यंजकत्वात्। अंगसंगिसलिलशैत्याभिव्यंजकव्यंजनवातवत्।

स्पर्श का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय 'त्वक्' सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। और वह वायु से उत्पन्न इन्द्रिय है। रूपादि पांचो इन्द्रियों में वह स्पर्श की अभिव्यंजक है।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोतम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न माकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात् यदिन्द्रियं रूपादिषु पंचसु मध्ये यद्गुणव्यंजकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपग्राहकं रूपादियुक्तम्।

शब्द का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय श्रोत है। वह कर्णशष्कुली से घिरा हुआ आकाश ही है। वह शब्दगुण से संयुक्त होने के कारण और कोई द्रव्य नहीं है। शब्द गुण से संयुक्त होने के कारण वह आकाश रूप ही है।

पंच बाह्यज्ञानेन्द्रियों को तर्क भाषा में भौतिक द्रव्यों से उत्पन्न बताया गया है। पांचो ज्ञानेन्द्रियां पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से उत्पन्न बताई गई हैं। मन का वर्णन तर्कभाषाकार केशव मिश्र इस प्रकार करते हैं-

सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति।

सुखादि की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय मन है। वह अणु परिमाण और हृदय के भीतर रहने वाला है।

अर्थ

तर्कभाषा में इन्द्रियों की व्याख्या के उपरान्त चौथे प्रमेय के रूप में अर्थ की विवेचना की गई है, जो इस प्रकार है-

अर्थाः षट्पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः

अर्थ की संख्या छह है, वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नाम से जाने जाते हैं।

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवायाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

जो गुणों का आश्रय होता है वह द्रव्य कहलाता है। वह द्रव्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक् और आत्मा तथा मन हैं।

अथ गुणाः उच्यन्ते। सामान्वान् असमवायिकारणं स्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-प्रबतव-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार भेदाश्चतुर्विंशतिधा।

सामान्य जाति से युक्त, असमवायिकारण बनने वाला, क्रियाशील न होने वाला और जो द्रव्य पर आश्रित है, वह गुण कहलाता है। सामान्य तथा असमवायि कारण का अध्ययन आप अपनी पूर्व अध्ययन इकाइयों में कर चुके हैं।

गुणों की संख्या तर्कभाषा में चौबीस गिनाई गई है, जो निम्नलिखित हैं-
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म।
कर्म भी अर्थ नामक प्रमेय के अन्तर्गत आता है। कर्म की व्याख्या तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है-
कर्माणि उच्चयन्ते। चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वायरनाम्ना सहैकार्य समवेतं विभाद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसयोगहुतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन प्रसारण गमनभेदात् पंचविधम्। भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।
कर्मों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है। गति रूप कर्म गुण के समान केवल द्रव्यों में आश्रित रहता है। कर्म अविभु द्रव्य का परिमाण होने से केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है। क्योंकि विनाश द्वारा पूर्वसंयोग का नाश हो जाता है, इसलिए पुनः उत्तरसंयोग का कर्म हेतु (साधन) होता है। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन के भेद से कर्म पांच प्रकार का होता है।

सामान्य

अनुवृत्तिप्रत्यय हेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतंच। तच्च द्विविधिं, परमपरंच। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्र हेतुत्वात् समान्य मात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार 'अनुवृत्ति प्रत्यय' के हेतु (साधन) को सामान्य कहते हैं। अनुवृत्ति प्रत्यय का अर्थ है अनेक व्यक्तियों में होने वाली समान्य प्रतीति। यह (सामान्य)द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाला नित्य, एक और अनेक वृत्ति होता है। पर का अर्थ है व्यापक देश में रहने वाला तथा अपर का अर्थ है अल्प देश में रहने वाला।

विशेष को भी अर्थ की श्रेणी में रखा गया हैं इसकी परिभाषा नैयायिकों ने इस प्रकार की है-

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्ति बुद्धिमात्र हेतुः। नित्यद्रव्याणित्वाकाशादीनि पंच। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

विशेष नित्य द्रव्यों में रहता है और वह नित्य है। अन्य द्रव्यों में उपस्थित रहने वाला अन्तिम भेदक (निर्णायक भेद करने वाला) धर्म विशेष कहलाता है। यह केवल व्यावृत्ति (अलग करना) बुद्धि का हेतु होता है।

समवाय

समवाय की परिभाषा भी अर्थ के अन्दर की गई है। आप पहले भी यह पढ़ चुके हैं कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध को ही समवाय कहते हैं-
'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः।'
पूर्व की अध्ययन इकाइयों में अयुतसिद्ध सम्बन्ध की व्याख्या भी आप पहले ही पढ़ चुके हैं।
इस प्रकार आपने चौथे प्रमेय अर्थात 'अथर्' के विषय में जाना। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय

और विशेष की भी संक्षिप्त जानकारी आप प्राप्त कर चुके हैं। अत्यधिक विस्तार न हो इस बात को ध्यान में रखते हुए इन विषयों के विवेचन को यहीं तक सीमिति रखा गया है।

बुद्धि

पांचवां प्रमेय बुद्धि है। बुद्धि की परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है-

बुद्धिरूपलब्धिज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धि। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवं स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधोयथार्थोऽयथार्थेश्चेति।

बुद्धि के पर्यायवाची अथवा समानार्थक शब्द उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय इत्यादि हैं। संक्षेप में इसके दो भेद हैं, जो अनुभव और स्मरण नाम से जाने जाते हैं। अनुभव के भी दो भेद होते हैं, पहले को यथार्थ कहते हैं और दूसरे को अयथार्थ नाम से जाना जाता है।

तत्र यथार्थोऽर्थाऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमालिंगकमाग्निज्ञानम्। गोसादृश्य दर्शनाद गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् इत्यादि वाक्याज्योतिष्टोमह्य स्वर्गसाधनता ज्ञानंच।

अयर्थास्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति।

यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान का निरूपण भी तर्क भाषा में बुद्धि नामक प्रमेय के अन्तर्गत किया गया है। प्रमाणों के विवेचन के समय भी आप यह पढ़ चुके हैं कि यथार्थ ज्ञान ही प्रमा कहलाती है। तथा यह प्रमा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होती है। यही बात यहां भी कही जा रही है- दोष रहित चक्षु आदि से घट का ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान), धूम आदि लिंग से अग्नि आदि का ज्ञान (अनुमान ज्ञान), गो के सादृश्य को देखने से गवय शब्द से वाच्य होने का ज्ञान (उपमान ज्ञान), स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करें जैसे वेद वाक्य से ज्योतिष्टोम याग में स्वर्गसाधनता का ज्ञान (यह शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान), यथार्थ अनुभव हुआ।

अयथार्थ ज्ञान अर्थ का 'व्यभिचारी' (अर्थ का अनर्थ करने वाला) तथा अप्रमाण से उत्पन्न होता है। अयथार्थ ज्ञान के संशय, तर्क और विपर्यय नामक तीन भेद होते हैं।

मन

मन छठा प्रमेय है, जिसके बारे में तर्कभाषाकार ने कहा है-

अन्तरिन्द्रिय मनः।

अन्तरिन्द्रिय को मन कहते हैं। इन्द्रिय नामक तीसरे प्रमेय की चर्चा करते समय आप इसे विस्तार से

प्रवृत्ति

सातवें प्रमेय के रूप में प्रवृत्ति का वर्णन मिलता है, जिसे तर्कभाषा में इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

धर्म और अधर्म रूप यागादि क्रिया और उससे उत्पन्न धर्म और अधर्म को ही प्रवृत्ति कहते हैं।

दोष

आठवां प्रमेय दोष है। इसकी परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है-

दोषा राग-द्वेष-मोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

राग, द्वेष और मोह दोष कहलाते हैं। इच्छा को राग कहते हैं। मन्यु अथवा क्रोध द्वेष कहा जाता है। मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय को मोह कहते हैं।

प्रेत्यभाव

यह नवां प्रमेय है, जिसका वर्णन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है-

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः अपूर्वदेह संघात लाभः।

मर कर पुनः जन्म लेना प्रेत्यभाव नामक नवां प्रमेय हैं। यह पूर्व शरीर का नाश तथा नए शरीर की प्राप्ति है। नित्य आत्मा का पुनः नए शरीर-इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध प्रेत्यभाव कहलाता है।

फलम्

यह दसवां प्रमेय है। फलम् पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारः।

दुःख या सुख में किसी एक का भी भोग फल कहलाता है।

दुःख

यह ग्यारहवां प्रमेय है। तर्कभाषाकार ने इस प्रमेय का वर्णन करते हुए कहा है- 'पीड़ा दुःखम'।

अपवर्ग

नैयायिकों का यह बारहवां और अन्तिम प्रमेय है। इसका विवेचन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है-

मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशति भेदास्तु शरीरं षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं दुःखंचेति गौणमुख्य भेदात्। सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषंगित्वात्। अनुषंगेऽविनाभावः। स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत्।

इक्कीस प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को ही नैयायिकों ने मोक्ष की संज्ञा दी है। मोक्ष और अपवर्ग एक-दूसरे के पर्याय हैं। न्याय दर्शन में इक्कीस प्रकार के दुःख गिनाए गए हैं- शरीर, छह

इन्द्रियां, छह विषय, छह ज्ञान और सुख और दुःख। इन दुःखों से छुटकारा पाना ही मोक्ष कहलाता है। जीवन में सुख और दुःख दोनों का भोग होता है, परन्तु लौकिक सुख भी क्योंकि दुःख मिश्रित होते हैं इसलिए वे भी दुःख ही होते हैं। आप दैनिक व्यवहार में भी यह देखते हैं कि यदि मधु विष से संयुक्त है तो वह विष का ही प्रभाव छोड़ता है।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने अपवर्ग प्राप्ति के मार्ग का भी विवेचन अपनी तर्कभाषा में इस प्रकार किया है-

शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य, मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागत धर्मोऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपातंच धर्माऽधर्मप्रचयं योगद्धिप्रभावाद् विदित्वा समाहृत्य भुंजानस्य, पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीरभावाच्छरीराद्येकविंशति दुःखसम्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदमिभन्नदुःखहारनिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

शास्त्रों के यथोचित अध्ययन से समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सांसारिक विषयों से विरक्ति के फलस्वरूप मोक्ष की इच्छा रखने वाला मुमुक्ष समस्त दोषों के निवृत्त हो जाने से निष्काम भाव में प्रवृत्त हो जाता है। योगाभ्यास से प्राप्त शक्ति के द्वारा धर्म और अधर्म को भली भांति जानकर उन्हें एक साथ भोग लेता है। परिणाम यह होता है कि वर्तमान शरीर छूटने पर नया शरीर इस अवस्था में नहीं उत्पन्न होता है, और इस कारण इक्कीस दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, जिस स्थिति को ही न्याय की पारम्परिक भाषा में मोक्ष कहा जाता है।

प्रथम बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. तर्कभाषा में प्रमेयों की संख्या कितनी बताई गई है-

क. बारह

ख. चौदह

ग. सोलह

घ. अट्ठारह

2. ‘इन्द्रिय‘ नामक प्रमेय है-

क. चौथा

ख. तीसरा

ग. दूसरा

घ. नवां

3. दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को कहते हैं-

क. मोक्ष

ख. आसक्ति

ग. विरक्ति

घ. इनमें से कोई नहीं

4. मन है-

क, अन्तरिन्द्रिय

ख. बाह्य ज्ञानेन्द्रिय

ग. कर्मेन्द्रिय

घ. इनमें से कोई नहीं

5. स्पर्श विशेष गुण है-

क. त्वगिन्द्रिय का

ख. चक्षुरिन्द्रिय का

ग. घ्राणेन्द्रिय का

घ. रसनेन्द्रिय का

प्रमेय निरूपण के पश्चात् इस इकाई में आप अनुमान प्रमाण के भेदों, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का तथा हेत्वाभास का भी विस्तार से अध्ययन करेंगे। अनुमान प्रमाण का अध्ययन आप अपनी पूर्व अध्ययन इकाई में कर चुके हैं। अध्ययन के दौरान आपने हेतु और व्याप्ति की भी

जानकारी प्राप्त कर ली है। यहां आप हेत्वाभास अर्थात् 'हेतु या कारण न होते हुए भी जो कारण की तरह प्रतीत होते हैं' उनका अध्ययन करेंगे, तथा उनके भेदों को भी जानेंगे।

अनुमान प्रकरण में आप यह पढ़ चुके हैं कि हेतु का तृतीय ज्ञान (परामर्श) अनुमान प्रमाण है। नैयायिकों का यह तृतीय ज्ञान क्या है, इसकी भी जानकारी आप विस्तार से पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। यहां पर अनुमान के भेदों पर विचार किया जाना प्रासंगिक होगा

जैसा कि आप जानते हैं अनुमान के दो भेद बताए गए हैं, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

5.4 स्वार्थानुमान

तर्कभाषा में स्वार्थानुमान की परिभाषा इस प्रकार की गई है-

तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थ परार्थ चेति। स्वार्थ स्वप्रपत्ति हेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्नयोर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वत समीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्न मूलाप्रभ्रलिहां धूम-लेखा पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तत्रोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्त पर्वतेऽअग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

तर्कभाषाकार कहते हैं कि हेतु दर्शन से स्वयं प्राप्त किया गया ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाता है। किसी व्यक्ति ने यदि रसोईघर में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह ज्ञान प्राप्त किया है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। इस ज्ञान के द्वारा स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर पर्वत के समीप जाकर पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह होने पर (पर्वत में अग्नि है या नहीं) पर्वत पर व्याप्त अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देखकर धूम के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार से धुएं और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण करता है। उसके बाद पर्वत में धुआं है, इसलिए उस पर्वत पर अग्नि भी है, यह जान लेता है। इस प्रकार स्वयं के प्रत्यक्ष पर आधारित यह अनुमान ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

5.5 परार्थानुमान

जब किसी दूसरे व्यक्ति को पांच अवयवांे से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। तर्कभाषा में परार्थानुमान का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है-

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधपितुं पंचावयवमनुमानवाक्यं प्रयुंक्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान ससोऽग्निमान् यथा महानसः, तथा चायं तस्मात्तथा इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पंचरुपोपन्ना लिंगात परोऽप्यऽग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।

परार्थानुमान से तात्पर्य है दूसरे के द्वारा अनुमान का बोध कराना। स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को यह ज्ञान कराने के लिए पंचावयवों से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है और यही अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हम अब कुछ उदाहरणों से इसे समझने की कोशिश करेंगे। 1.

यह पर्वत अग्निमान है (यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है) 2. धूम युक्त होने से (यह हेतु रूप दूसरा अवयव है) 3. जो-जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वन्हियुक्त भी होता है, जैसे रसोई घर (यह तीसरा अवयव उदाहरण हुआ) 4. यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमयुक्त है (यह उपनय नामक चौथा अवयव हुआ) 5. इसलिए पर्वत अग्नियुक्त है (यह निगमन रूप पांचवां अवयव हुआ) और पर्वत अग्नियुक्त है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह ज्ञान दूसरा व्यक्ति जब जान लेता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के ज्ञान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध अनिवार्य है। व्याप्ति और उसके भेदों का अध्ययन आप इसके पूर्व की इकाई में कर चुके हैं। धूम और अग्नि की व्याप्ति में आपने देखा है कि धूम हेतु है और अग्नि साध्य है। अनुमान ज्ञान के लिए सही हेतु का होना आवश्यक होता है लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हेतु सदोष होता है। वही हेतु निर्दोष माना जाता है जो साध्य की सिद्धि मे समर्थ हो यानी कि पक्षधर्मता आदि रूपों से युक्त हो। सदोष हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं। हेतु प्रतीत होते हुए भी जो अनुमिति का प्रतिबन्धक अथवा प्रतिरोधक हो वह हेत्वाभास कहलाता है। नैयायिकों के अनुसार हेत्वाभास के पांच भेद होते हैं। इन पांचों भेदों का निरूपण तर्कभाषा में किया गया है।

अनुमान प्रकरण में ‘हेतु‘ का अध्ययन आप विस्तार से पहले ही कर चुके हैं। व्याप्ति सम्बन्ध पढ़ते समय आपने ध्यान दिया होगा कि हेतु का ‘विपक्ष‘ (विरोधी पक्ष) में अभाव होता है, परन्तु जब हेतु विपक्ष में भी विद्यमान होता है तो यह हेत्वाभास कहलाने लगता है। आइए, अन्वय व्यतिरेकी हेतु के पांच रूपों की चर्चा भी हम संक्षेप में यहां कर लें। इससे हमें हेत्वाभास प्रकरण को समझने में आसानी होगी। अन्वयव्यतिरेकी हेतु के पांच रूप संक्षेप में निम्नलिखित हैं-

1. पक्षसत्त्व, 2. सपक्षसत्त्व, 3. विपक्षव्यावृतत्त्व, 4. अबाधितविषयत्व 5. असत्प्रतिपक्षत्व

इन रूपों में ‘पक्ष‘ ‘सपक्ष‘ और ‘विपक्ष‘ शब्दावलियों को पहले हमें समझ लेना चाहिए। तर्कभाषा में कहा गया है- ‘सन्दिग्ध साध्यवान पक्षः‘। अर्थात जहां साध्य की सिद्धि करनी हो वह

पक्ष कहलाता है। उदाहरण के लिए पर्वत में यदि अग्नि को धूमवत्व हेतु से सिद्ध करना है तो पर्वत ‘पक्ष‘ कहलाएगा। उस धूम हेतु का प्रथम रूप पक्षसत्त्व हुआ। सपक्ष रसोईघर कहलाएगा क्योंकि वहां धूमवत्व हेतु होने पर अग्नि का निश्चय है। इस सपक्ष रूप महानस में धूम रूप हेतु रहता है। इस हेतु धूम का दूसरा रूप ‘सपक्षसत्व‘ हुआ। जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो वह ‘विपक्ष कहलाता है। उदाहरण के लिए तालाब साध्य रूप में अग्नि का अभाव निश्चित है। उस तालाब में हेतु धूम का भी अभाव होता है। यह उसका तीसरा रूप ‘विपक्षव्यावृत्त‘ हुआ।

इसी प्रकार धूमवत्व हेतु में अबाधित विषयत्व भी देखा जा सकता है क्योंकि धूमवत्व हेतु का साध्य अग्नि की पर्वतरूप पक्ष में विद्यमानता किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं है। इसी प्रकार पांचवां रूप

असत्प्रतिपक्षत्व धर्म का दर्शन भी धूमवत्व हेतु में होता है क्योंकि साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई अन्य प्रतिपक्ष अर्थात विरोधी पक्ष उपलब्ध नहीं है।

इन पांच रूपां से युक्त धर्म ही हेतु कहलाता है और अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ये पांचों रूप विद्यमान होते हैं। केवलान्वयी में विपक्षव्यावृतत्व और केवलव्यतिरेकी में सपक्षसत्व का अभाव होता है।

इसलिए केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होते हैं। इन हेतुओं के अतिरिक्त हेतु प्रतीत होने वाले हेत्वाभासों में पहला हेत्वाभास असिद्ध, दूसरा विरुद्ध, तीसरा अनैकान्तिक, चौथा प्रकरणसम और पांचवां कालात्ययापदिष्ट नाम से प्रचलित हैं। इसका उल्लेख तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है- अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध विरुद्ध-अनैकान्तिक प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट भेदात् पंचैव। यथा गगनारबिन्दं सुरभि अरबिन्दत्वात् सरोजारबिन्दवत्।

असिद्ध

जब हेतु की पक्ष में विद्यमानता न हो तो वहां असिद्ध हेत्वाभास होता है। उदाहरणस्वरूप कमल होने के कारण आकाश कमल सुगन्धित होता है, ठीक जैसे सरोजकमल होता है। यहां आकाश कमल (गगनारबिन्द) हेतु का आश्रय है, लेकिन ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश कमल का अस्तित्व ही नहीं होता। पक्ष के विद्यमान न होने के कारण 'पक्षसत्व' धर्म का उल्लंघन है जो सद्हेतु के लिए अनिवार्य होता है। यह आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्त्वासिद्ध नाम से तीन प्रकार का होता है।

2. विरुद्ध दूसरा हेत्वाभास विरुद्ध कहलाता है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र कहते हैं-

साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्वत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्ययमेव न नित्यमित्यतो, विरुद्धं कृतकत्वमिति।

अर्थात जो हेतु साध्य को सिद्ध करने के स्थान पर साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है जन्य होने के कारण आत्मा के समान। यहां जन्यत्व अथवा कृतकत्व हेतु साध्य नित्य के विपरीत अनित्यत्व में व्याप्त होता है। इसलिए यहां कृतकत्व हेतु में विरुद्ध हेत्वाभास है।

3. अनैकान्तिक

तर्कभाषा में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है-

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविध, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकष्चेति। तत्र

पक्षसपक्षविपक्ष वृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्षः एव वर्तते सोऽसाधारणनैकान्तिकः। स यथा भूमिर्नित्या गन्धक्त्वात्। गन्धत्त्वं हि सपक्षन्नित्याद विपक्षाच्चान्त्याद व्यावृत्तं भूमात्रवृत्तिः।

'अनैकान्तिक' हेत्वाभास को उपरिलिखित परिभाषा और उदाहरण को सरल ढंग से हम इस तरह समझ सकते हैं कि 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास सव्यभिचार भी कहलाता है। यह साधारण और असाधारण के भेद से दो प्रकार का होता है। आपको यह याद ही होगा कि हेतु का विपक्ष में सर्वथा अभाव सद् हेतु के लिए अनिवार्य होता है लेकिन जब इसके विपरीत पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, तीनों में विद्यमान हो तो वहां साधारण हेत्वाभास हो जाता है। जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने से आकाश के समान। यहां प्रमेयत्व हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में विद्यमान नहीं होता वह असाधारण नैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। उदाहरण के लिए पृथिवी नित्य है गन्धवती होने से। यहां गन्धत्व हेतु सपक्ष नित्य आकाशादि और विपक्ष अनित्य जलादि से पृथक केवल पृथिवीमात्र रहता है, इसलिए यहां असाधारणनैकान्तिक हेत्वाभास है।

4. प्रकरणसम

जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान हो वहां प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है-

प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात् शब्दो नित्योऽनित्य धर्मरहित्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इवोच्यते।

अर्थात् जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ को दूसरे हेतु द्वारा सिद्ध किया जा सके वहां प्रकरणसम हेत्वाभास होता है।

जैसे शब्द नित्य है अनित्य धर्म से रहित होने के कारण और उसका दूसरा हेतु है शब्द अनित्य है नित्य धर्म से रहित होने के कारण। यहां साध्य के विपरीत अर्थ का साधक हेतु भी विद्यमान है इसलिए यहां प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास है।

5. कालात्यापदिष्ट इसे बाधित हेत्वाभास भी कहा जाता है। इसकी परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है-

पक्षे प्रमाणानतरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तद्भावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

पक्ष में किसी अन्य प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो जाने पर 'बाधित विषय' हेत्वाभास होता है। जैसे अग्नि अनुष्ण है कृतक (जन्य) होने से जल के समान। यहां कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व

का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हो चुका है। इसको आप सरल भाषा में यों समझ सकते हैं। मान लीजिए आप से कोई कहता है कि अग्नि शीतल होती है। लेकिन अपने व्याव्हारिक जीवन में आपने यह प्रत्यक्ष ही देखा है कि अग्नि हमेशा उष्ण अर्थात गर्म होती है। इसलिए अग्नि को शीतल कहना बाधित विषय नामक हेत्वाभास से युक्त है।

5.6 सारांश

इस इकाई में आपने प्रमेयों का वृहत् अध्ययन किया। अनुमान के दो भेद स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का अध्ययन भी तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर किया। उसके बाद हेत्वाभासों का भी निरूपण तर्कभाषा के आधार पर किया। अब हम संक्षेप में इस अध्ययन को एक बार आत्मसात कर लेते है। जिससे हमारे विचार और अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित हो सकें। तर्कभाषा के अनुसार प्रमेय (ज्ञान के विषय) बारह होते हैं- यथा आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग अनुमान के दो भेद होते हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर स्वयं किया गया ज्ञान स्वार्थानुमान और पंचावयवों से युक्त दूसरे के द्वारा कराया गया ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हेतु की तरह प्रतीत होने वाले हेतुओं को हेत्वाभास कहा जाता है। आपने इस इकाई में इनका विस्तार से अध्ययन किया। ये पांच होते हैं- असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और बाधितविषय। ये हेत्वाभास अनुमान ज्ञान के दोष के रूप में गिनाए गए हैं।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमेय- ज्ञान के विषय

अपवर्ग- मोक्ष

सामान्य- जाति

परत्व- अधिक क्षेत्र में रहने वाला

अपरत्व- कम क्षेत्र में रहने वाला

अविभु- अव्यापक

उत्क्षेपण- ऊपर उठना

अपक्षेपण- नीचे गिरना

आकंचन- सिकोड़ना

प्रसारण- फैलाना

बाधित विषयत्व- किसी अन्य के द्वारा खन्डित

सत्प्रतिपक्षत्व- जिसका विरोधी पक्ष विद्यमान हो

दूसरा बोध प्रश्न

हेत्वाभास कितने होते हैं-

क. पांच

ख. चार

ग. तीन

घ. दो

2. अनुमान प्रमाण के कितने भेद होते हैं-

क. एक

ख. दो

ग. तीन

घ. पांच

3. परार्थानुमान के कितने अंग होते हैं-

क. दस

ख. बारह

ग. पांच

घ. चौदह

4. महानस अर्थात रसोईघर क्या है-

क. विपक्ष

ख. सपक्ष

ग. पक्ष

घ. इनमें से कोई नहीं

5. अनैकान्तिक क्या है

क. हेतु

ख. हेत्वाभास

ग. व्याप्ति

घ. इनमें से कोई नहीं

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

पहला बोध प्रश्नः 1. क, 2. ख, 3. क, 4. क 5. क

दूसरा बोध प्रश्नः 2.1. क, 2.2 ख, 2.3 ग, 2.4 ख, 2.5 ख

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

महर्षि गौतम- न्याय दर्शन, बौद्ध भारती, वाराणसी

केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990

डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987

गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992

दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988

शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991

राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस

शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986

चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980

सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004

अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रमेय कितने होते हैं? अर्थ नामक प्रमेय का वर्णन कीजिए
2. परार्थानुमान का लक्षण एवं उदाहरण
3. हेत्वाभास के भेदों का निरूपण कीजिए
4. 'इन्द्रिय' नामक प्रमेय का सविस्तार वर्णन कीजिए